ज्ञानसागर ग्रंथमाला

भारतीय चित्त, मानस एवं काल

लेखक

धर्मपाल

पुनरुत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट

ज्ञानसागर ग्रंथमाला ७०४

भारतीय चित्त, मानस एवं काल

लेखक
धर्मपाल

सर्वाधिकार
पुनरुत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट

प्रकाशक
पुनरुत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट
ज्ञानम् ९ बी, आनंद पार्क, डॉ. हेडगेवार भवन के सामने,
बलिया काका मार्ग, जूना ढोर बाजार, कांकरिया, अहमदाबाद ३८० ०२८
दूरभाष : ०७९-२५३२२६५५

मुद्रक
नूतन आर्ट, अहमदाबाद

प्रकाशन तिथि
चैत्र कृष्ण दशमी, युगाब्द ५१२५, १५ अप्रैल २०२३

संकल्पना और निर्माण
पुनरुत्थान विद्यापीठ

प्रतियाँ
२५०

मूल्य
रू. ३५०

ISBN No. : 978-81-905687-0-8

मंगलाचरण

नमस्ते शारदे देवि
वीणा पुस्तकधारिणि।
विद्यारम्भं करिष्यामि
प्रसन्ना भवसर्वदा।।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः।।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेदोऽखिलो सत्यमूलम्।
वेदोऽखिलो ज्ञानमूलम्
तस्मात् वेदमुपास्महे।।

।। ॐ ह्रीं ऐं ह्रीं सरस्वत्यै नमः।।

अर्पणपत्रिका

।। श्री राम ।।

देवर्षि नारद द्वारा प्रेरित होकर
आदि कवि प्राचेतस मुनि वाल्मीकि द्वारा रचित
और
पृथ्वी पट पर
जब तक पर्वत खड़े रहेंगे सरिताओं में जलप्रवाहित होता रहेगा
तब तक
लोकहृदय में प्रतिष्ठित रहेगी ऐसी
आदि काव्यकथा रामायण के
लोकोत्तर नायक,
अपने व्यवहार से ही
संसार के समस्त व्यवहारों में
सत्य, धर्म, शील और भद्रता की
मर्यादा स्थापित करने वाले,
सरयू नदी के तट पर स्थित
पावन नगरी अयोध्या में स्थित
श्री रामजन्मभूमि मंदिर में
रामलला के बालरूप में विराजित
मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के
श्री चरणों में
पुनरुत्थान विद्यापीठ द्वारा संकल्पित और निर्मित
ज्ञानसागर महाप्रकल्प के १०५१ ग्रंथ
पुनरुत्थान विद्यापीठ के आचार्य एवं छात्र
सविनय समर्पित कर रहे हैं ।

अयोध्या, उत्तरप्रदेश

आवाहन

आत्मीय पाठक,

सप्रेम नमस्कार ।

१.

आज चैत्र कृष्ण दशमी, युगाब्द ५१२५, १५ अप्रैल २०२३; आज सभी सुज्ञ पाठकों के समक्ष ज्ञानसागर महाप्रकल्प के १०५१ ग्रंथों को अर्पण करते हुए हम संतोष और आनंद का अनुभव कर रहे हैं । जो बिन हेतु स्नेही हैं, जिनके राज्य में प्रजा दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त है और सब जन परस्पर प्रीतिपूर्वक रहते हैं, युगों तक जिन्होंने आदर्श स्नेह का प्रतिमान स्थापित किया है ऐसे अयोध्या के राजा भगवान राम के श्री चरणों में यह ग्रंथमाला पहले समर्पित हुई और उनके प्रसाद के रूप में अब आज सब के माध्यम से लोक को समर्पित हो रही है । भारतीय ज्ञानसंपदा विद्वज्जनों एवं सामान्यजनों की कृति, वाणी, मन, बुद्धि एवं हृदय में प्रतिष्ठित हो यही इस का उद्देश्य है ।

पुनरुत्थान विद्यापीठ के लिए पुनरुत्थान प्रकाशन सेवा ट्रस्ट ने इन ग्रंथों का प्रकाशन किया है । पुनरुत्थान विद्यापीठ भारतीय शिक्षा की पुनः प्रतिष्ठा हो इस उद्देश्य से विगत अठारह वर्षों से कार्यरत है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अध्ययन, अनुसंधान, संदर्भ ग्रंथों तथा पठनसामग्री का निर्माण, शिक्षा के नये क्षेत्रों का सृजन एवं प्रयोग आदि कर रहा है । भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में देशभर में कार्यरत लोगों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य भी कर रहा है । इस दृष्टि से अभ्यास वर्ग, कार्यशाला, अध्ययन यात्रा, अध्ययन योजना, विद्वत् गोष्ठी आदि कार्य भी चलते हैं । इन सभी कार्यों में ग्रंथनिर्माण एवं प्रकाशन का जो कार्य है उसका परिपाक यह ज्ञानसागर महाप्रकल्प है ।

मनीषी जानते हैं कि शिक्षा का संबंध जीवन के साथ है । परीक्षा, प्रमाणपत्र, अर्थार्जन और इन से प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा के लिए नहीं । शिक्षा जीवन विकास के लिए होती है । जीवनविकास हेतु विद्यालय संस्था एक माध्यम है, एकमात्र नहीं । जीवन जन्मजन्मांतर में निरंतर चलता रहता है । विकसित होता रहता है, हमारे प्रयास इस जन्म के साथ जुड़े रहते हैं । इस जन्म का जीवन गर्भाधान से मृत्यु तक का होता है । यह जीवन

विद्यालय के साथ-साथ घर में, कार्यालय में, समाज में विकसित होता रहता है । इस तथ्य को समझते हुए पुनरुत्थान विद्यापीठ आजीवन शिक्षा और सार्वत्रिक शिक्षा का विचार करता है । विद्यापीठ की समस्त शिक्षायोजना का केन्द्रवर्ती विषय यही है । ऐसी आजीवन और सार्वत्रिक शिक्षा के कारक जो भी हैं उन सबके लिए ज्ञानसागर के ये ग्रंथ हैं । तात्पर्य यह है कि ये ग्रंथ माता-पिता के लिए, शिक्षकों के लिए, शोधकर्ताओं के लिए धर्माचार्यों के लिए, शिक्षासंस्थाओं के संचालकों के लिए, सरकार के शिक्षाविभाग के लिए, शिक्षा की अर्थव्यवस्था करनेवाले धनवानों के लिए, सर्व आयुवर्गों के छात्रों के लिए और शिक्षा के प्रति रुचि और जिज्ञासा रखने वालो के लिए, सर्वसामान्य प्रबुद्ध और आस्थावान लोगों के लिए है।

२.

शिक्षा का संबंध जीवनविकास के साथ है । जीवन प्रवाह के साथ-साथ शिक्षा का भी प्रवाह बहता रहता है और जीवन के जो चढ़ाव-उतार होते हैं, जो प्रश्न होते हैं, समस्याएँ होती हैं वैसी शिक्षा की भी समस्यायें होती हैं । इन समस्याओं को समझना और उनका निराकरण करना शिक्षा से जुड़े सभी लोगों का स्वाभाविक काम होता है, जीवनदत्त दायित्व होता है । समस्याओं का कितना भी हल करो, हर काल में, हर बदलती परिस्थिति में कालसापेक्ष, स्थितिसापेक्ष समस्याएँ उत्पन्न होती ही हैं और उनका निराकरण करने का पुरुषार्थ भी चलता ही रहता है ।

वर्तमान भारत की शिक्षा की सबसे गंभीर समस्या मानसिक और बौद्धिक स्वरूप की है । मानसिक दैन्य और बुद्धि विभ्रम ही उसका कारण है । औपनिवेशिकता से भारतीय मानस की मुक्ति और स्थिर स्वतंत्र बुद्धि से अध्ययन इस समस्या के निराकरण का उपाय है ।

औपनिवेशिक मानस और बुद्धि विभ्रम हमारी सर्व स्तर की शिक्षा में दिखाई देते हैं । चाहे प्राथमिक शिक्षा हो, चाहे उच्च शिक्षा, चाहे व्यवस्थापन की शिक्षा हो चाहे व्यवहार की, चाहे शास्त्रशिक्षा हो, चाहे मानस प्रबोधन की सर्वत्र अभारतीय दृष्टि अनुस्यूत है । अध्ययन अध्यापन पद्धति, पाठ्यविषय वस्तु, साधन सामग्री, शिक्षा की भौतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाएँ सर्वथा अभारतीय, सेमेटिक विचारों से ओतप्रोत है । और ग्रंथालयों में संदर्भ ग्रंथ इसी दृष्टि से लिखे गये दिखाई देते हैं । जीवन के पन्द्रह बीस वर्ष इन्ही को सीखने में व्यतीत होते हैं । ऐसी शिक्षा हमारे व्यक्तिगत और समष्टिगत

जीवन का नियमन करती है। हमारा घर और हमारा देश इसी शिक्षा के द्वारा दी गई व्यवस्था में चलता है। यही दृष्टि और विचार शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है।

यह संकट गंभीर है, भारत को अभारत बनाने वाला है। यह राष्ट्रीय संकट है। इसे पहचानने की और उस पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता है। हमारा सर्व प्रकार का सामर्थ्य उसे दूर करने में लगाने की आवश्यकता है। शिक्षा को भारतीय बनाने से ही यह संकट दूर होगा। शिक्षा को भारतीय बनाने का प्रारंभ कक्षा कक्षों में पढ़ाये जाने वाले विषय वस्तु को भारतीय बनाने से होगा, अध्ययन अध्यापन की पद्धतियों को, व्यवस्थाओं को भारतीय बनाने से होगा। विद्यालय से प्रारंभ होकर शिक्षा कुटुंब में भी दी जाने लगेगी तब शिक्षा प्रभावी होगी। सरकार या शिक्षा संस्था संचालक नहीं अपितु शिक्षक इसे अपने दायित्व में लेंगे तब शिक्षा अपना स्वाभाविक आश्रय प्राप्त करेगी। धर्माचार्य शिक्षा को अपना दायित्व मानेंगे तब शिक्षा धर्मानुसारिणी होगी। यह सब होगा तब शिक्षा भारतीय जीवन दृष्टि पर आधारित और भारतीय जीवन को पुष्ट करने वाली होगी। तब वह केवल भारत ही नहीं तो विश्व के अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग प्रशस्त करने वाली होगी।

ज्ञानसागर महाप्रकल्प के इन ग्रंथों में इन्हीं बातों को प्रस्तुत किया गया है। ये सारे विषय स्पष्ट हों, सुलभ हों, सुकर हों इसका प्रयास इन ग्रंथों में किया गया है।

३.

वर्तमान समय की यह आवश्यकता है कि शिक्षा में परिवर्तन का कोई भी प्रयास व्यापक और दीर्घावधि का होना चाहिए। ज्ञानसागर के ग्रंथों के निर्माण एवं प्रकाशन में इस मुद्दे का विचार किया गया है। अरुणाचल प्रदेश से गुजरात और कश्मीर से केरल तक के भारत के सभी प्रदेशों के लेखकों की सहभागिता ज्ञानसागर में हुई है। विगत सवा सौ वर्षों में लिखे गये, परंतु वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं ऐसे ग्रंथों का इसमें समावेश है। वर्तमान में अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत और भारतीयता के पक्षधर तथा भारतीयता की समझ रखने वाले विद्वान लेखकों के रचे हुए ग्रंथों का इसमें समावेश है। भारत की विविध भाषाओं में रचे गये उत्तम ग्रंथों का अनुवाद इसमें समाविष्ट है। राष्ट्रनिर्माण के क्षेत्र में कार्यरत महानुभावों के विचारों को इसमें संकलित किया गया है। शोधकार्य, शास्त्र निरूपण, व्यवहार तथा मानसिकता को आधार और दिशा देने

वाली सामग्री इन ग्रंथों में है। भारत के शाश्वत ज्ञानात्मक आधार को समझ कर उसकी युगानुकूल प्रस्तुति करना, विश्व के विविध वर्तमान विचार प्रवाहों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय विचार को उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करना और विश्व का वैचारिक मार्गदर्शन करना इन ग्रंथों में प्रस्तुत सामग्री का काम है। इन ग्रंथों के अध्ययन से विद्या केन्द्रों की शिक्षा में परिवर्तन होगा तभी यह कार्य सिद्ध होगा।

हमारी अपेक्षा है कि इन ग्रंथों के आधार पर नये पाठ्य क्रम बनें, जीवनोपयोगी नये विषय अध्ययन के क्रम में आयें, विद्याकेन्द्रों के बाहर भी शिक्षा के नये केन्द्र विकसित हों, वर्तमान सरकारी मान्यता प्राप्त परीक्षा प्रमाणपत्र और पदवी की व्यवस्था के बाहर भी शिक्षा के नये प्रयोग हों, अर्थनिरपेक्ष शिक्षा के प्रयोग हों, शिक्षाक्षेत्र में ज्ञाननिष्ठा आये, शिक्षक देश की शिक्षा के प्रश्न को अपना दायित्व मानें और शिक्षाक्षेत्र के योगक्षेम को समाज अपना दायित्व माने। भारत हमेशा ज्ञाननिष्ठ राष्ट्र रहा है, अपने सभी प्रश्नों के उत्तर भारत ज्ञान में खोजता है, ज्ञान को पवित्रतम तत्त्व मानता है। भारत अपने आपको पुनः वैसा ही बनाये। भारत के लिए यह आत्मबोध होगा। शिक्षा भारत के लिए आत्मबोध संभव बनाये। ज्ञानसागर के इन ग्रंथों का यही प्रयोजन है।

४.

व्यासपूर्णिमा युगाब्द ५१२० दि. १६ जुलाई २०१९ को, पुनरुत्थान विद्यापीठ के पन्द्रहवें स्थापना दिन के अवसर पर ज्ञानसागर महाप्रकल्प का संकल्प हुआ। आकार, स्वरूप, विषय सूची, लेखक, लेखन, अनुवाद और मुद्रण आदि प्रक्रियाओं से होकर ये ग्रंथ आज साढे तीन वर्षों में प्रकाशन तक पहुँचे हैं। इन ग्रंथों के निर्माण में देशभर से ६४२ लेखकों, अनुवादकों, संपादको का योगदान हुआ है। संपर्क, निरीक्षण परीक्षण आदि में ५० से अधिक कार्यकर्ताओं का सहभाग हुआ है। इतने बड़े प्रकल्प को समाज से ही आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। विशेष बात यह है कि सभी लेखकों, अनुवादकों और कार्यकर्ताओं ने सेवाभाव से ही इसमें कार्य किया है। अनेक लेखक अनुवादक, संपादक विश्वविद्यालयों और तत्सम संस्थाओं में उच्च पदस्थ हैं और उनका जीवन क्रम अत्यंत व्यस्त रहता है, ८५ वर्ष से अधिक आयुवाले विद्वान लेखकों ने भी स्वयं के उत्साह और दक्षता से हमें प्रेरित किया है, अखिल भारतीय संगठनों के उच्च पदाधिकारी तथा संतवृंद हमारे संरक्षक और मार्गदर्शक रहे हैं, हमारे मुद्रण विभाग के सभी कार्यकर्ता, चित्रकारबंधु, मुद्रित शोधन करने वाले लोगों ने दक्षता का परिचय दिया है। इन सभी के उत्साहपूर्ण

सहयोग और दक्षतापूर्ण अनुशासन के कारण ही साढे तीन वर्ष की अल्प अवधि में निर्धारित समय पर इन ग्रंथों का प्रकाशन संभव हुआ है। हम इन सभी कार्यकर्ताओं, विद्वान लेखकों, अनुवादकों, संपादकों, संकलनकर्ताओं, मार्गदर्शकों, संरक्षकों के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हैं। ऐसे कामों में इन सब का सहयोग, मार्गदर्शन और प्रेरणा प्राप्त होती ही रहेगी ऐसा विश्वास है।

५.

आज इस प्रकाशन समारोह में देशभर से लगभग बारहसौ श्रोता उपस्थित हैं। इस कार्यक्रम के बाद तुरंत एक विद्वत् गोष्ठी होगी। आगामी वर्षभर में देश में अन्यान्य स्थानों पर इस प्रकार के कार्यक्रम और गोष्ठी का आयोजन होगा। इन कार्यक्रमों का प्रयोजन होगा इस सामग्री का प्रसार करना। देश के शिक्षासंस्थानों में, ग्रंथालयों में, परिवारों में, सामाजिक सांस्कृतिक संगठनों में, शिक्षकों के पास, प्रबुद्धजनों के पास यह सामग्री पहुँचे, इसके पठन और अध्ययन की योजना बने, आवश्यकता के अनुसार अन्य भाषाओं में अनुवाद हो यह हम सबकी आकांक्षा रहेगी। इस कार्य में यहाँ उपस्थित सभी का सहयोग रहेगा ऐसा निवेदन है।

इस सामग्री का प्रसार हो सके इसकी अनेक कल्पक योजनाएँ आपके पास भी होंगी। आप उन्हें क्रियान्वित करें और हमें भी बतायें ऐसा निवेदन है।

अंत में, हम सभी के निरंतर प्रयासों से भारतीय ज्ञानसंपदा की पुनःप्रतिष्ठा हो और भारत पुनः विश्वगुरु बने ऐसी प्रार्थना के साथ विराम। इति शुभम्।

चैत्र कृष्ण दशमी, युगाब्द ५१२५
१५ अप्रैल २०२३

इन्दूमति काटदरे
कुलपति
पुनरुत्थान विद्यापीठ

ज्ञानसागर महाप्रकल्प आशीर्वाद समिति

- **स्वामी संवित विमार्शानंदगिरी महाराज,** बीकानेर अधिष्ठाता, शिवबाड़ी मठ
- **पूजनीय स्वामी परमात्मानंद जी महाराज,** राजकोट - संयोजक एवं महामंत्री, हिन्दू धर्म आचार्य सभा
- **वंदनीय शांताक्का,** नागपूर प्रमुख संचालिका, राष्ट्र सेविका समिति
- **माननीय श्री भैया जी जोशी,** नागपूर अ.भा. कार्यकारिणी सदस्य, पूर्व सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

ज्ञानसागर महाप्रकल्प मार्गदर्शक समिति

प्रमुख मार्गदर्शक - माननीय श्री सुरेश जी सोनी, दिल्ली

अ.भा. कार्यकारिणी सदस्य, पूर्व सहसरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

- माननीय सीताक्का, नागपूर, प्रमुख कार्यवाहिका, राष्ट्र सेविका समिति
- माननीय श्री अनिरुद्ध देशपांडे, पुणे, अ. भा. कार्यकारिणी सदस्य, पूर्व अ.भा. संपर्क प्रमुख, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ
- माननीय डॉ. बजरंगलाल गुप्त, दिल्ली, पूर्व उत्तर क्षेत्र संघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ
- माननीय श्री डी. रामकृष्ण राव, गुड्डीलोवा, विशाखापट्टनम, अध्यक्ष, विद्या भारती अखिल भारतीय शिक्षा संस्थान
- माननीय श्री जे. नंदकुमार, अखिल भारतीय संयोजक, प्रज्ञा प्रवाह
- पू. श्री जितेंद्र नाथ महाराज, अंजनगाँवसुरजी
- माननीय डॉ. जगदीश प्रसाद सिंघल, जयपुर, अध्यक्ष, अ. भा. राष्ट्रीय शैक्षिक महासंघ
- माननीय श्री गीताताई गुंडे, मुंबई, अ. भा. संयोजक (पूर्व), महिला समन्वय
- माननीय डॉ. ईश्वर शरण विश्वकर्मा, प्रयागराज, महामंत्री, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना
- माननीय डॉ. सच्चिदानंद जोशी, दिल्ली, अध्यक्ष भारतीय शिक्षण मंडल
- माननीय डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी, निर्माता चाणक्य धारावाहिक

अनुक्रमणिका

मनोगत

सम्पादकीय

विभाग १ : भारतीय चित्त, मानस एवं काल १

१. यह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी है किसकी ५

२. अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से १२

३. महत्त्व सही जवाब का नहीं, सही सवाल का है १९

४. अपने चित्त को समझे बिना हमारा काम नहीं चलेगा २५

५. हम किसी और के संसार में रहने लगे हैं ३१

६. सभ्यताओं का नवीनीकरण तो करना ही होता है ३७

विभाग २ : भारत का स्वधर्म ४३

१. स्वाधीनता से वंचित होने की चिन्ता ४५

२. यूरोप से टकराव के पूर्व ७१

३. भविष्य और सुपथ की गवेषणा ९९

विभाग ३ : स्वदेशी और भारतीयता १२९

१. स्वदेशी और भारतीयता १३१

२. जारी हैं गांधी पर नेहरू के हमले १४२

३. हिंदुस्तानी तासीर दफनाने के लिए अंग्रेजों ने बनवाई कांग्रेस १४६

४. अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायतत्ता रहेगी न स्वावलम्बन १४९

५. आम आदमी की ताकत पहचानने से ही बनेगा स्वदेशी मॉडेल १५३

६. पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी १५७

७. भारतीय मॉडल संपत्ति जोड़ने का नहीं बंटवारे का है १६१

८. विकास का सवाल १६५

९. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था - १ .... १८१

१०. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था - २ .... १८६

११. भारत का पुनर्निर्माण १९०

१२. हमारे सपनों का भारत १९६

१३. अंग्रेजी शासन और तन्त्रव्यवस्था २०६

१४. कहां हैं पश्चिमीकरण की जडें २११

धर्मपाल समग्र लेखन

ग्रन्थ सूची

१. **भारतीय चित्त, मानस एवं काल**

२. **१८ वीं शताब्दीमें भारतमें विज्ञान एवं तंत्रज्ञान : कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त**
Indian Science and Technology in the Eighteenth Century : Some Contemporary European Accounts

३. **भारतीय परम्परामें असहयोग**
Civil Disobedience in Indian Tradition

४. **रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा**
The Beautiful Tree : Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century

५. **पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र**
Panchayat Raj and Indian Polity

६. **भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल**
The British Origin of Cow slaughter in India

७. **भारतकी लूट एवं बदनामी : १९ वीं शताब्दी की अंग्रेजों की जिहाद**
Despoliation and Defaming of India :
The Early Nineteenth Century of British crusade

८. **गांधी को समझें**
Understanding Gandhi

९. **भारत की परम्परा**
Eassys in Tradition, Recovery and Freedom

१०. **भारत का पुनर्बोध**
Rediscovering India

मनोगत

गांधीजी के अगस्त १९४२ के 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन के कुछ समय पूर्व से ही मैं देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णरूप से प्रभावित हो चुका था। उस समय मैंने जीवन के बीस वर्ष पूरे किए थे। अगस्त १९४२ में, हम दो चार मित्र, जिनमें मित्र श्री जगदीश प्रसाद मित्तल प्रमुख थे, उत्तरप्रदेश से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के लिए ही कांग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में भाग लेने मुम्बई गए। मैंने उससे पूर्व १९३० का लाहौर का कांग्रेस सम्मेलन देखा था, परन्तु मुम्बई के सम्मेलन का स्वरूप और अपेक्षाएँ हमारे लिए एकदम नई थीं। सम्मेलन में हमें दर्शक के रूप में भाग लेने की अनुमति मिल गई। हमने वहाँ की सम्पूर्ण कार्यवाही देखी, सभी भाषण सुने। ८ अगस्त की सायंकाल का गांधीजी का सवा दो घण्टे का भाषण तो मुझे आज भी कुछ कुछ याद है। उन्होंने प्रथम डेढ़ घण्टा हिन्दी में भाषण दिया, फिर पौन घण्टा अंग्रेजी में। सम्मेलन में ५० हजार से अधिक भीड़ थी। सभी उपस्थित लोगों से, सभी भारतवासियों से तथा विश्व के सभी देशों से गांधीजी का मुख्य निवेदन तो यही था कि वे सभी भारत और अंग्रेजों के वार्तालाप में सहायक हों । हमारे जैसे अधिकांश लोगों ने उस समय विचार किया होगा कि आन्दोलन का प्रारम्भ तो कुछ समय बाद ही होगा।

परन्तु दूसरे ही दिन सवेरे ५-६ बजे से ही पूरे मुम्बई में हलचल शुरू हो गई। मुम्बई से बाहर जानेवाली रेलागाड़ियां दोपहर के बाद तक बन्द रहीं। अंग्रेज और भारतीय पुलिस व्यापक रूप से लोगों की गिरफ्तारी करती रही। अन्तत: ९ अगस्त को शाम तक हमें दिल्ली जाने के लिए गाड़ी मिल गई। परन्तु रास्ते भर हलचल थी और गिरफ्तारियां हो रही थीं। हममें से अधिकांश लोग अपनी अपनी जगह पहुँचकर 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करनेवाले थे।

दिल्ली पहुँचकर मैं अन्य साथियों के साथ आसपास के क्षेत्रों में चल रहे आन्दोलन में जुड़ गया। कितने महीने तक इसी में ही संलग्न रहा। उस बीच अनेक गाँवों और कसबों में भी गया। वहाँ लोगों के घरों में रहा। वहीं से ही भारत के सामान्य जीवन

के साथ मेरा परिचय प्रारम्भ हुआ। दिसम्बर १९४२ में अनेक घनिष्ठ मित्रों ने सलाह दी की मुझे आन्दोलन के काम के लिए मुम्बई जाना चाहिए। इसलिए फरवरी १९४३ में मैं मुम्बई गया और वहाँ रहा। आन्दोलन का साहित्य लेकर वाराणसी और पटना भी गया। मुम्बई में गांधीजी के निकटस्थ स्वामी आनन्द ने मेरे रहने खाने की व्यवस्था की थी। वे अलग अलग लोगों से मेरा परिचय भी कराते थे। वस्तुत: मेरा मुम्बई के साथ परिचय तो उनके कारण ही हुआ। मुम्बई में ही मैं श्रीमती सुचेता कृपलानी से भी एक दो बार मिला। उसी प्रकार गिरिधारी कृपलानी से मिलना हुआ। उस समय मैं खादी का धोती कुर्ता पहनता था और स्वामी आनन्द आदि के आग्रह के बाद भी मैंने कभी पतलून आदि नहीं पहना।

मार्च १९४२ में मैं मुंबई से दिल्ली और उत्तरप्रदेश गया। अप्रैल १९४३ में दिल्ली के चाँदनीचौक पुलिस थाने में मेरी गिरफ्तारी हुई और लगभग दो महीने अलगअलग थानों में रहा। वहाँ मेरी गहन पूछताछ हुई, धमकाया भी गया। यद्यपि मारपीट नहीं हुई। जून १९४३ में मुझे सरकार के आदेशानुसार दिल्ली से निष्कासित किया गया। एकाध वर्ष बाद यह निष्कासन समाप्त हुआ।

लम्बे अरसे से मेरा मन गाँव में जाकर रहने और काम करने का था। मेरे एक पारिवारिक मित्र गोरखपुर जिले के एक हजार एकड़ जितने विशाल फार्म के मैनेजर थे। उन्होंने मुझे फार्म पर आकर रहने के लिए निमंत्रण दिया। यह फार्म सुन्दर तो था परन्तु यह तो वहाँ रहनेवालों से कसकर परिश्रम कराने की जगह थी। गाँव जैसा सामूहिकता का वातावरण वहाँ नहीं होता था। वहाँ गाँव के लोगों से मिलने, बात करने का अवसर भी नहीं मिलता था। परन्तु एक बात मैंने देखी कि वहाँ लोग गरीब होने के बाद भी प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

एक वर्ष बाद जून अथवा जुलाई १९४४ में यह फार्म छोड़ कर मैं वापस आ गया। तत्काल ही मेरठ के मित्रों ने मुझे श्रीमती मीराबहन के पास जाने की सलाह दी। मीरा बहन रूड़की के निकट एक आश्रम स्थापित करने का विचार कर रही थीं। बात सुनकर मैंने पहले तो मना करने का प्रयास किया परन्तु मित्रों के आग्रह के कारण अक्टूबर १९४४ में मैं मीराबहन के पास गया। रूड़की से हरिद्वार की दिशा में सात-आठ मील दूर गाँव वालों ने मीरा बहन को आश्रम निर्माण के लिए जमीन दी थी। आश्रम हरिद्वार से बारह मील दूर था। आश्रम का नाम दिया गया 'किसान आश्रम'। यहीं से मेरा ग्रामजीवन और उसके रहनसहन के साथ परिचय शुरू हुआ। उनकी कुशलताएँ और अपने व्यवहार, रहन सहन तथा उपाय ढूंढ निकालने की योग्यता मुझे यहीं जानने

को मिली। मैं तीन वर्ष किसान आश्रम में रहा। उसके बाद पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के पुनर्वसन का कार्य चलता था उसमें सहयोग देने के लिए मैं दिल्ली गया। उस दौरान मेरा अनेक लोगों के साथ परिचय हुआ। उसमें मुख्य थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय और डॉ. राममनोहर लोहिया। १९४७ से १९४९ के दौरान श्री रामस्वरूप, श्री सीताराम गोयल, श्री रामकृष्ण चाँदीवाले (उनके घर में मैं महीनों रहा), श्री नरेन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णा दत्त, श्री लक्ष्मीचन्द जैन, श्री रूपनारायण, श्री एस. के. सक्सेना, श्री ब्रजमोहन तूफ़ान, श्री अमरेश सेन, श्री गोपालकृष्ण आदि के साथ भी मित्रता हुई।

दिल्ली में भारतीय सेना के कुछ अधिकारियों ने कहा कि फिलिस्तीन के यहूदी इज़रायल नामक छोटा देश बना रहे हैं। वहाँ सामूहिकता के आधार पर जीवन रचना के महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे हैं। उन लोगों ने इतने आकर्षक ढंग से उसका वर्णन किया कि मैंने इज़रायल जाकर यह देखकर आने का निर्णय किया। नवम्बर १९४९ में इज़रायल जाने के लिए मैं इंग्लैण्ड गया। वहाँ आठदस महीने रह कर नवम्बर-दिसम्बर में मैं पत्नी फ़िलिस के साथ इज़रायल तथा अन्य अनेक देशों में गया। इज़रायल के लोगों ने जो कर दिखाया था वह तो बहुत प्रशंसनीय और श्रेष्ठ कार्य था परन्तु भारतीय ग्रामरचना और भारतीय व्यवस्थाओं में उस का बहुत उपयोग नहीं है, ऐसा भी लगा।

जनवरी १९५० में मैं और फिलिस हृषीकेश के निकट निर्माणाधीन, मीराबहन के 'पशुलोक' में पहुँच गये। वहाँ मीराबहनने, मेरे अन्य मित्रों, और सविशेष मार्कसवादी मित्र जयप्रकाश शर्मा के साथ मिलकर एक नए छोटे गाँव की रचना की शुरुआत की थी। उसका नाम रखा गया 'बापूग्राम'। गाँव ५० घरों का था। उसमें सभी पहाड़ी और मैदानी जाति के लोग साथ रहेंगे ऐसा प्रयास किया था। यह भी ध्यान रखा गया कि लोग अत्यन्त गरीब हों। परंतु उस के कारण गाँव की रचना का काम अधिक कठिन हो गया। गाँव के लोगों के कष्ट बढ़े। गाँव में ५०० एकड़ जमीन थी, किन्तु अनेक जंगली जानवर भी वहाँ घूमते थे। हाथी भी वहाँ आता-जाता रहता। इस लिए प्रारम्भ में खेती भी बहुत दुष्कर थी। खेती में कुछ बचता ही नहीं था। आज भी यह गाँव जैसे तैसे टिका हुआ है। १९५७ से गाँव के साथ मेरा सम्बन्ध ठीक-ठीक बढ़ा। मैं विभिन्न पंचायतों का अध्ययन करता था। इसलिए गाँव के लोगों की समझदारी और अपने प्रश्नों की ओर देखने और उसे हल करने का उनका दृष्टिकोण भलीभाँति ध्यान में आने लगा। इस बात का भी एहसास होने लगा कि अपने अधिकांश शहरी और समृद्ध लोग गाँव को जानते ही नहीं। राजस्थान, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि राज्यों में तो यह एहसास सविशेष हुआ। इस एहसास के कारण ही मैं १९६४-६५ में सन् १९०० के आसपास के अंग्रेजों

द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजों के अध्ययन की ओर मुड़ा।

लगभग १७५० से १८५० तक अंग्रेजों ने सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर इंग्लैण्ड में रहने वाले अपने अधिकारियों तथा परिचितों को लिखे पत्रों की संख्या शायद करोड़ों दस्तावेजों में होगी। उसमें ८० से ८५ प्रतिशत की प्रतिलिपियां भारत के कोलकता, मद्रास, मुम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के अभिलेखागारों में भी हैं। लन्दन की ब्रिटिश इंड़िया ऑफ़िस में और अन्य अनेक अभिलेखागारों में पाँच से सात प्रतिशत ऐसे भी दस्तावेज होंगे जो भारत में नहीं होंगे। उसमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके अध्ययन से अंग्रेजों ने भारत में क्या किया यह समझ में आता है। उस समय के इंग्लैण्ड के समाज और शासन तंत्र की यदि हमें जानकारी होगी तो अंग्रेजों ने भारत में जो किया उसे समझने में सहायता मिल सकती है।

१९५७ से ही, जब मैं एवार्ड (Association of Voluntary Agencies for Rural Development [AVARD]) का मंत्री बना तब से ही अनेक प्रकार से सीखने का अवसर मिला और अनेक व्यक्तियों की अनेक प्रकार से सहायता भी मिली। उसमें मुख्य थे श्री अण्णासाहब सहस्त्रबुद्धे और श्री जयप्रकाश नारायण। नागपुर के श्री आर. के. पाटिल ने भी १९५८ से १९८० तक इस काम में बहुत रुचि ली और अलग अलग ढंग से सहायता करते रहे। श्री आर. के. पाटिल पुराने आई. सी. एस. थे, योजना आयोग के सदस्य थे, पूर्व मध्यप्रदेश के मंत्री थे और विनोबा जी के निकटवर्ती थे। १९७१ से गांधी शांति प्रतिष्ठान के मंत्री श्री राधाकृष्ण का सहयोग भी बहुत मूल्यवान था। इसी प्रकार गांधी विद्या संस्थान और पटना की अनुग्रह नारायण सिन्हा इन्स्टीटयूट का भी सहयोग मिला। डॉ. डी. एस. कोठारी भी शुरू से ही उसमें रुचि लेते थे।

१९७१ में 'इंड़ियन सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' Indian Science and Technology in the Eighteenth Century और 'सिविल डिसओबिड़ियन्स इन इंड़ियन ट्रेड़िशन' Civil Disobedience in Indian Tradition ऐसी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनका विमोचन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने किया। पहले ही दिन से उस पुस्तक का परिचय करनेवाले प्रजा समाजवादी पक्ष के नेता और साहित्यकार श्री गंगाशरण सिन्हा, विवेकानंद केन्द्र, कन्याकुमारी के श्री एकनाथ रानडे और अमेरिका की बर्कले यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर यूजिन ईर्शिक थे। ईर्शिक के मतानुसार 'सिविल डिसओबिडियन्स इन ईंड़ियन ट्रेड़िशन' मेरी सबसे उत्तम पुस्तक थी। श्री रामस्वरुप और श्री ए. बी. चटर्जी, जो आई. सी. एस. थे और मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टेट्स के सचिव थे, उनके मतानुसार 'इंड़ियन सायन्स एण्ड

टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। १९७१ से १९८५ के दौरान इन दोनों पुस्तकों का अनेक प्रकार से उल्लेख होता रहा। देशभर में इसका उल्लेख करनेवालों में मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रामस्वरुप और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के श्री एकनाथ रानड़े, प्रोफ़ेसर राजेन्द्रसिंह और वर्तमान सरसंघचालक श्री सुदर्शन जी।

अभी तक ये पुस्तकें मुख्य रूप से अंग्रेजी में ही हैं। उसका एक विशेष कारण यह है कि उसमें समाविष्ट दस्तावेज सन् १८०० के आसपास अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय लोगों ने अंग्रेजी में ही लिखे हैं। प्रारंभ में ही यह सब हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषा में प्रकाशित करना बहुत मुश्किल लगता था। लेकिन जब तक यह सब भारतीय भाषाओं में प्रकाशित नहीं होता तब तक सर्वसामान्य लोग दो सौ वर्ष पूर्व के भारत के विषय में न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे, और न ही चर्चा कर सकेंगे।

इसलिए इन पुस्तकों का अब हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो रहा है यह बहुत प्रशंसनीय कार्य है।[१.]

मैं १९६६ तक अधिकांशत: इंग्लैण्ड और सविशेष लन्दन में रहा। उस समय भारत से सम्बन्धित वहाँ स्थित दस्तावेंजों में से पांच अथवा दस प्रतिशत सामग्री का मैंने अवलोकन किया होगा। उनमें से कुछ मैंने ध्यान से देखे, कुछ की हाथ से नकल उतार ली, अनेकों की छायाप्रति बना ली। उस दौरान बीच बीच में भारत आकर कोलकता, लखनऊ, मुम्बई, दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारों में भी कुछ नए दस्तावेज देखे।

उन दस्तावेजों के आधार पर अभी गुजरात से प्रकाशित हो रही अधिकांश पुस्तकें तैयार की गई हैं। ये पुस्तकें जिस प्रकार सन् १८०० के समय के भारत से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार १८८० से १९०३ के दौरान गोहत्या के विरोध में हुए आन्दोलन के और १८८० के बाद के दस्तावेजों के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें एकाध पुस्तक इंग्लैण्ड और अमेरिका के समाज से भी सम्बन्धित है। इसकी सामग्री इंग्लैण्ड में मिली है और यह पढ़ी गई पुस्तकों के आधार पर तैयार की गई है।

१९६० से शुरू हुए इस प्रयास का मुख्य उद्देश्य दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय समाज को समझना ही था। लेकिन मात्र जानना, समझना पर्याप्त नहीं है। उसका इतना महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व तो यह जानने समझने का है कि अंग्रेजों से पूर्व का स्वतंत्र भारत, जहाँ उसकी स्थानिक इकाइयां अपनी अपनी दृष्टि और आवश्यकतानुसार अपना समाज चलाती थीं, वह कैसा रहा होगा। अचानक १९६४-६५ में चेन्नई के एगमोर

अभिलेखागार में ऐसी सामग्री मुझे मिली, और ऐसी ही सामग्री इग्लैण्ड में उससे भी सरलता से मिली। यदि मैं पोर्टुगल और हॉलेण्ड की भाषा जानता तो १६ वीं, १७ वीं सदी में वहाँ भी भारत के विषय में क्या लिखा गया है यह जान पाता। खोजने के बाद भी चालीस वर्ष पूर्व भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के वर्णन नहीं मिले।

हमें तो गत दो तीन हज़ार वर्ष के भारत और उसके समाज को समझने की आवश्यकता है। हम जब उस तरह से समझेंगे तभी भारतीय समाज की पारम्परिक व्यवस्थाओं, तंत्रों, कुशलताओं और आज की अपनी आवश्यकताओं और अपनी क्षमता के अनुसार पुनःस्थापना की रीति भी जान लेंगे और समझ लेंगे।

भारत बहुत विशाल देश है। चार पाँच हज़ार वर्षों में पड़ोसी देश - ब्रह्मदेश, श्रीलंका, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, इंड़ोनेशिया, वियतनाम, कम्बोड़िया, मलेशिया, अफ़गानिस्तान, ईरान आदि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीयों का स्वभाव और उनकी मान्यताएँ उन देशों के साथ बहुत मिलती जुलती हैं। सन् १५०० के बाद एशिया पर यूरोप का प्रभाव बढ़ा उसके बाद उन सभी पडोसी देशों के साथ की पारस्परिकता लगभग समाप्त हो गई है। उसे पुन: स्थापित करना ज़रूरी है। इसी प्रकार यूरोप, खासकर इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ तीन सौ चार सौ वर्षों से जो सम्बन्ध बढ़े हैं उनका भी समझ बूझकर फिर से मूल्यांकन करना जरूरी है। यह हमारे लिए और उनके लिए भी श्रेयस्कर होगा। देशों को बिना जरूरत से एक दूसरे के अधिक निकट लाना अथवा एक देश दूसरे देश की ओर ही देखता रहे यह भविष्य की दृष्टि से भी कष्टदायी साबित हो सकता है।

मकरसंक्राति
१४, जनवरी २००५
पौष शुद ५, युगाब्द ५१०६

धर्मपाल
आश्रम प्रतिष्ठान
सेवाग्राम
जिला वर्धा (महाराष्ट्र)

---

१. यह प्रस्तावना गुजराती अनुवाद के लिये लिखी गई है। हिन्दी अनुवाद के लिये श्री धर्मपालजी की ही सूचना के अनुसार उसे यथावत् रखा है : मूल प्रस्तावना हिन्दी में ही है, गुजराती के लिये उसका अनुवाद किया गया था। - सं.

सम्पादकीय

१.

सन् १९९२ के जनवरी मास में चैन्नई में विद्याभारती का प्रधानाचार्य सम्मेलन था। उस सम्मेलन में श्री धर्मपालजी पधारे थे। उस समय पहली बार The Beautiful Tree के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद कोईम्बतूर में यह पुस्तक खरीद की और पढ़ी। पढ़कर आश्चर्य और आघात दोनों का अनुभव हुआ। आश्चर्य इस बात का कि हम इतने वर्षों से शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत हैं तो भी इस पुस्तक में निरूपित तथ्यों की लेशमात्र जानकारी हमें नहीं है। आघात इस बात का कि शिक्षा विषयक स्थिति ऐसी दारुण है तो भी हम उस विषय में कुछ कर नहीं रहे हैं। जो चल रहा है उसे सह लेते हैं और उसे स्वीकृत बात ही मान लेते हैं ।

तभी से उस पुस्तक का प्रथम हिन्दी में और बाद में गुजराती में अनुवाद करके अनेकानेक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों तक उसे पहुँचाने का विचार मन में बैठ गया। परन्तु वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। प्रवास की निरन्तरता और अन्यान्य कार्यो में व्यस्तता के कारण मन में स्थित विचार को मूर्त स्वरूप दे पाने का अवसर नहीं आया। इस बीच विद्या भारती विदर्भ ने इसका संक्षिप्त मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। 'भारतीय चित्त, मानस एवं काल', 'भारत का स्वधर्म' जैसी पुस्तिकायें भी पढ़ने में आयीं। अनेक कार्यकर्ता भी इसका अनुवाद होना चाहिये ऐसी बात करते रहे। इस बीच पूजनीय हितरुचि विजय महाराजजी ने गोवा के 'द अदर इंड़िया बुक प्रेस' द्वारा प्रकाशित पांच पुस्तकों का संच दिया और पढ़ने के लिये आग्रह भी किया। इन सभी बातों के निमित्त से अनुवाद भले ही नहीं हुआ परन्तु अनुवाद का विचार मन में जाग्रत ही रहा। उसका निरन्तर पोषण भी होता रहा। चार वर्ष पूर्व मुझे विद्याभारती की राष्ट्रीय विद्वत् परिषद के संयोजक का दायित्व मिला। तब मन में इस अनुवाद के विषय में निश्चय सा हुआ। उस विषय में कुछ ठोस बातें होने लगीं। अन्त में पुनरुत्थान ट्रस्ट इस अनुवाद का प्रकाशन करेगा ऐसा निश्चय युगाब्द ५१०६ की व्यास पूर्णिमा को हुआ। सर्व प्रथम तो यह अनुवाद

हिन्दी में ही होना था। उसके बाद हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषओं में करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पायेंगे। एक के बाद एक करने पड़ेंगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन, अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्ज्ञन करें और हमारे छात्रों तक इन बातों को पहुँचाने की कोई ठोस एवं व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओं में होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यों को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हें जानते थे परन्तु वे हमें नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य, हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होंने देखी तब उन्होंने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होंने अपनी और पुस्तकों के विषय में भी बताया। इन सभी पुस्तकों के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पांच और पांच से ग्यारह पुस्तकों के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बड़ा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित मूल अंग्रेजी पुस्तकें प्राप्त करना, उन्हें पढ़ना, उनमें से चयन करना, अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये, कई पक्के अनुवादक खिसकते गये, अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त में पुस्तक और अनुवादकों की जोड़ी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के परम पूजनीय सरसंघचालक माननीय सुदर्शनजी एवं स्वयं श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बडी संख्या में उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तकों का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, ग्रन्थालयों में एवं विद्वज्ज्ञनों तक इन पुस्तकों को पहुँचानें में हमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के अध्यापकों एवं

प्रधानाचार्यों के बीच इन पुस्तकों को लेकर गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वयं श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त में इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढ़ने में इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस संच में कुल दस पुस्तकें हैं। (१) भारतीय चित्त, मानस एवं काल (२) १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा में असहयोग (४) रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा (५) पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र (६) भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एवं बदनामी (८) गांधी को समझें (९) भारत की परम्परा एवं (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक '१८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान' १९७१ में प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक 'भारत का पुनर्बोध' सन् २००३ में। इनके विषय में तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रंथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान का परिणाम है।

२.

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली, परम्परा, मान्यताओं, दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही संस्कृति कहते हैं।

सामान्य रूप से विश्व में दो प्रकार की विचारशैली, व्यवहारशैली दिखती हैं। एक शैली दूसरों को अपने जैसा बनाने की आकांक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती, शोषण, कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं, यहां तक की ऐसा करने में दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है, उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने में दोनों एक दूसरे स प्रभावित होती हैं और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनों के लिए क्रमश: 'पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

संज्ञा का प्रयोग हम करते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति विश्व में अति प्राचीन है। केवल प्राचीन ही नहीं तो समृद्ध, सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और विकसित भी है।

परन्तु आज से ५०० वर्ष पूर्व यूरोप ने विस्तार करना शुरू किया। समग्र विश्व में फैल जाने की उसको आकांक्षा थी। विश्व के अन्य देशों के साथ भारत भी उसका लक्ष्य था। इंग्लैण्ड में ईस्ट इंड़िया कम्पनी बनी। वह भारत में आई। समुद्रतटीय प्रदेशों में उसने अपने व्यापारिक केन्द्र बनाए। उन केन्द्रों को किले का नाम और रूप दिया, उनमें सैन्य भी रखा, धीरे धीरे व्यापार के साथ साथ प्रदेश जीतने और अपने कब्जे में लेने का काम शुरू किया, साथ ही साथ ईसाईकरण भी शुरू किया। सन् १८२० तक लगभग सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के कब्जे में चला गया।

भारत को अपने जैसा बनाने के लिए अंग्रेजों ने यहाँ की सभी व्यवस्थाओं-प्रशासकीय और शासकीय, सामाजिक और सांस्कृतिक, आर्थिक और व्यावसायिक, शैक्षणिक और नागरिक को तोड़ना शुरू किया। उन्होंने नए कायदे कानून बनाए, नई व्यवस्थाएँ बनाईं, संरचनाओं का निर्माण किया, नई सामग्री और नई पद्धति की रचना की और जबरदस्ती से उसका अमल भी किया। यह भी सच है कि उन्होंने भारत में आकर जो कुछ किया उसमें से अधिकांश तो इंग्लैण्डमें अस्तित्व में था। इसके कारण भारत दरिद्र होता गया। भारत में वर्ग संघर्ष पैदा हुए। लोंगो का आत्मसम्मान और गौरव नष्ट हो गया। मौलिकता और सृजनशीलता कुंठित हो गई, मूल्यों का ह्रास हुआ। मानवीयता का स्थान यांत्रिकता ने लिया और सर्वत्र दीनता व्याप्त हो गई। लोग स्वामी के स्थान पर दास बन गए। एक ऐसे विराट, राक्षसी, अमानुषी व्यवस्था के पुर्जे बन गये जिसे वे बिल्कुल मानते नहीं, समझते नहीं और स्वीकार भी करते नहीं थे, क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था।

भारत की शिक्षाव्यवस्था की उपेक्षा करते करते उसे नष्ट कर उसके स्थान पर यूरोपीय शिक्षा लागू करने, प्रतिष्ठित करने का कार्य भारत को तोडने की प्रक्रिया में सिरमौर था। क्योंकि यूरोपीय शिक्षाप्राप्त लोगों के विचार, मानस, व्यवहार, दृष्टिकोण सभी कुछ बदलने लगा। उसका परिणाम सर्वाधिक शोचनीय और घातक हुआ। हमें गुलामी रास आने लगी। दैन्य अखरना बन्द हो गया। अंग्रेजों का दास बनने में ही हमें गौरव का अनुभव होने लगा। जो भी यूरोपीय है वह विकसित है, आधुनिक है, श्रेष्ठ है और जो भी अपना है वह निकृष्ट है, हीन है और लज्जास्पद है, गया बीता है ऐसा हमें लगने लगा। अपनी शिक्षण संस्थाओं में हम यही मानसिकता और यही विचार एक के

बाद एक आनेवाली पीढ़ी को देते गए। इस गुलामी की मानसिकता के आगे अपनी विवेकशील और तेजस्वी बुद्धि भी दब गई। यूरोपीय, या यूरोपीय जैसा बनना ही हमारी आकांक्षा बन गई। देश को वैसा ही बनाने का प्रयास हम करने लगे। अपनी संरचनाएँ, पद्धतियां, संस्थाएँ वैसी ही बन गईं।

गांधीजी १९१५ में दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तब भारत ऐसा था। उन्होंने जनमानस को जगाया, उसमें प्राण फूंके, उसकी भावनाओं को अपने वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त कर, भारत के लिए योग्य हज़ारों वर्षों की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओं, गतिविधियों और पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया। स्वतंत्रता के साथ साथ स्वराज को भी लाने के लिए वे जूझे।

परंतु स्वतंत्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer of Power) ही बन कर रह गया। उसके साथ स्वराज नहीं आया। सुराज्य की तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज की अपनी सारी अनवस्था का मूल यह है। हम अपनी जीवनशैली चाहते ही नहीं हैं। स्वतंत्र भारत में भी हम यूरोप अमेरिका की ओर मुँह लगाये बेठे हैं। यूरोप के अनुयायी बनना ही हमें अच्छा लगता है।

परन्तु, यह क्या समग्र भारत का सच है ? नहीं, भारत की अस्सी प्रतिशत जनसंख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं है। उसका उसके साथ कुछ लेना देना भी नहीं है। उनके रीतिरिवाज, मान्यताएं, पद्धतियां, सब वैसी की वैसी ही हैं। केवल शिक्षित लोग उन्हें पिछड़े और अंधविश्वासी कहकर आलोचना करते हैं, उन्हें नीचा दिखाते हैं और अपने जैसा बनाना चाहते हैं। यही उनकी विकास और आधुनिकताकी कल्पना है।

भारत वस्तुत: तो उन लोगों का बना हुआ है, उन का है। परन्तु जो बीस प्रतिशत लोग हैं वे भारत पर शासन करते हैं। वे ही कायदे-कानून बनाते हैं और न्याय करते हैं, वे ही उद्योग चलाते हैं और कर योजना करते हैं। वे ही पढ़ाते हैं और नौकरी देते हैं, वे ही खानपान, वेशभूषा, भाषा और कला अपनाते हैं (जो यूरोपीय हैं) और उनको विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ के अस्सी प्रतिशत लोगों को वे पराये मानते हैं, बोझ मानते हैं, उनमें सुधार लाना चाहते हैं और वे सुधरते नहीं इसलिए उनकी आलोचना करते हैं। वे लोग स्वयं तो यूरोपीय जैसे बन ही गए हैं, दूसरों को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। वे जैसे कि भारत को यूरोप के हाथों बेचना ही चाहते हैं, जिन लोगों का भारत है वे तो उनकी गिनती में ही नहीं हैं।

इस परिस्थिति को हम यदि बदलना चाहते हैं तो हमें अध्ययन करना होगा -

स्वयं का, अपने इतिहास का और अपने समाज का। भारत को तोड़ने की प्रक्रिया को जानना और समझना पड़ेगा। भारत का भारतीयत्व क्या है, किसमें है, किस प्रकार बना हुआ है यह सब जानना और समझना पड़ेगा। मूल बातों को पहचानना होगा। देश के अस्सी प्रतिशत लोगों का स्वभाव, उनकी आकांक्षाएँ, उनकी व्यवहारशैली को जानना और समझना पड़ेगा। उनका मूल्यांकन पश्चिमी मापदण्डों से नहीं अपितु अपने मापदण्डों से करना पड़ेगा। उसका रक्षण, पोषण और संवर्धन कैसे हो यह देखना पड़ेगा। भारत के लोगों में साहस, सम्मान, आत्मगौरव जाग्रत करना पड़ेगा। भारत के पुनरुत्थान में उनकी बुद्धि, भावना, कर्तृत्वशक्ति और कुशलताओं का उपयोग कर उन्हें सच्चे अर्थ में सहभागी बनाना पड़ेगा। यह सब हमें पाश्चात्य प्रकार की युनिवर्सिटियों से नहीं अपितु सामान्य, 'अशिक्षित', 'अर्धशिक्षित' लोगों से सीखना होगा।

आज भी यूरोप बनने की इच्छा करनेवाला भारत जोरों से प्रयास कर रहा है और कुंठाओं का शिकार बन रहा है। भारतीय भारत उलझ रहा है, छटपटा रहा है, और शोषित हो रहा है। भाग्य केवल इतना है कि क्षीणप्राण होने पर भी भारतीय भारत गतप्राण नहीं हुआ है। इसलिए अभी भी आशा है - उसे सही अर्थ में स्वाधीन बनाकर समृद्ध और सुसंस्कृत बनाने की।

३.

धर्मपालजी की इन पुस्तकों में इन सभी प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध, विस्तृत निरूपण किया गया है। अंग्रेज भारत में आए उसके बाद उन्होंने सभी व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए किन चालबाजियों को अपनाया, कैसा छल और कपट किया, कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे धीरे भारत टूटता गया, किस प्रकार बदलती परिस्थितियों का अवशता से स्वीकार होता गया उसका अभिलेखों के प्रमाणों सहित विवरण इन ग्रंथों में मिलता है। इंग्लैण्ड के और भारत के अभिलेखागारों में बैठकर, रात दिन उसकी नकल उतार लेने का परिश्रम कर धर्मपालजी ने अंग्रेज क्लेक्टरों, गवर्नरों, वाइसरायों ने लिखे पत्रों, सूचनाओं और आदेशों को एकत्रित किया है, उनका अध्ययन कर के निष्कर्ष निकाले हैं और एक अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति ही कर सकता है ऐसे साहस से स्पष्ट भाषा में हमारे लिये प्रस्तुत किया है। लगभग चालीस वर्ष के अध्ययन और शोध का यह प्रतिफल है।

परन्तु इसके फलस्वरूप हमारे लिए एक बड़ी चुनौती निर्माण होती है, क्योंकि -

- आजकल विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले इतिहास से यह इतिहास भिन्न

है। हम तो अंग्रेजों द्वारा तैयार किए और कराए गए इतिहास को पढ़ते हैं। यहाँ अंग्रेजों ने ही लिखे लेखों के आधार पर निरूपित इतिहास है।

- विज्ञान और तंत्रज्ञान की जो जानकारी उसमें है वह आज पढ़ाई ही नहीं जाती।
- कृषि, अर्थव्यवस्था, करपद्धति, व्यवसाय, कारीगरी आदि की अत्यंत आश्चर्यकारक जानकारियां उसमें है। भारत को आर्थिक रूप में बेहाल और परावलम्बी बनानेवाला अर्थशास्त्र आज हम पढ़ते हैं। यहाँ दी गई जानकारियों में स्वाधीन भारत को स्वावलम्बन के मार्ग पर चल कर समृद्धि की ओर ले जानेवाले अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों की सामग्री हमें प्राप्त होती है।
- व्यक्ति को किस प्रकार गौरवहीन बनाकर दीनहीन बना दिया जाता है इसका निरूपण है, साथ ही उस संकट से कैसे निकला जा सकता है उसके संकेत भी हैं।
- संस्कृति और समाजव्यवस्था के मानवीय स्वरूप पर किस प्रकार आक्रमण होता है, किस प्रकार उसे यंत्र के अधीन कर दिया जाता है इसका विश्लेषण यहाँ है। साथ ही उसके शिकार बनने से कैसे बचा जा सकता है, उसके लिए दृढता किस प्रकार प्राप्त होती है इसका विचार भी प्राप्त होता है।

यह सब अपने लिए चुनौती इस रूप में है कि आज हम अनेक प्रकार से अज्ञान से ग्रस्त हैं।

हमारा अज्ञान कैसा है ?

- शिक्षण विषय के वरिष्ठ अध्यापक सहजरूप से मानते हैं कि अंग्रेज आए और अपने देश में शिक्षा आई। उन्हें जब यह कहा गया कि १८ वीं शती में भारत में लाखों की संख्या में प्राथमिक विद्यालय थे, और चार सौ की जनसंख्या पर एक विद्यालय था, तो वे उसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें जब 'The Beautiful Tree' दिखाया गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ (परन्तु रोमांच अथवा आनन्द नहीं हुआ।)
- शिक्षाधिकारी, शिक्षासचिव, शिक्षा महाविद्यालय के अध्यापक अधिकांशत: इन बातों से अनभिज्ञ हैं। कुछ जानते भी हैं तो यह जानकारी बहुत ही सतही है।

यह अज्ञान सार्वत्रिक है, केवल शिक्षा विषयक ही नहीं अपितु सभी विषयों में है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वयं को ही नहीं जानते, अपने इतिहास को नहीं जानते, स्वयं को हुई हानि को नहीं जानते और अज्ञानियों के स्वर्ग में रहते हैं। यह स्वर्ग भी अपना नहीं है। उस स्वर्ग में भी हम गुलाम हैं और पश्चिममुखापेक्षी, पराधीन बनकर रह रहे हैं।

४.

इस संकट से मुक्त होना है तो मार्ग है अध्ययन का। धर्मपालजी की पुस्तकें अपने पास अध्ययन की सामग्री लेकर आई हैं, हम सो रहे हैं तो हमें जगाने के लिए आई हैं, जाग्रत हैं तो झकझोरने के लिए आई हैं, दुर्बल हैं तो सबल बनाने के लिए आई हैं, क्षीणप्राण हुए हैं तो प्राणवान बनाने के लिए आई हैं।

ये पुस्तकें किसके लिए हैं ?

ये पुस्तकें इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, जिसे आज की भाषा में ह्यूमेनिटीज़ कहते हैं, उसके विद्वानों, चिन्तकों, शोधकों, अध्यापकों और छात्रों के लिए हैं।

ये पुस्तकें भारत को सही मायने में स्वाधीन, समृद्ध, सुसंस्कृत, बुद्धिमान और कर्तृत्ववान बनाने की आकांक्षा रखने वाले बौद्धिकों, सामान्यजनों, संस्थाओं, संगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए हैं।

ये पुस्तकें शोध करने वाले विद्वानों और शोधछात्रों के लिए हैं।

प्रश्न यह है कि इन पुस्तकों को पढ़ने के बाद क्या करें ?

धर्मपालजी स्वयं कहते हैं कि पढ़कर केवल प्रशंसा के उद्‌गार, अथवा पुस्तकों की सामग्री एकत्रित करने के परिश्रम के लिए लेखक को शाबाशी देना पर्याप्त नहीं है। उससे अपना संकट दूर नहीं होगा।

आवश्यकता है इस दिशा में शोध को आगे बढ़ाने की, भारत की १८ वीं, १९ वीं शताब्दी से सम्बन्धित दस्तावेजों में से कदाचित पांच सात प्रतिशत का ही अध्ययन इस में हुआ है। अभी भी लन्दन के, भारत की केन्द्र सरकार के तथा राज्यों के अभिलेखागारों में ऐसे असंख्य दस्तावेज अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। उन सभी का अध्ययन और शोध करने की योजना महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, शैक्षिक संगठनों और सरकार ने करना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इस कार्य के लिए अध्ययन और शोध की स्थानीय और देशी प्रकार की संस्थाएं भी बनाई जा सकती हैं।

इसके लिए ऐसे अध्ययनशील छात्रों की आवश्यकता है। इन छात्रों को मार्गदर्शन तथा संरक्षण प्राप्त हो यह देखना चाहिये।

साथ ही एक साहसपूर्ण कदम उठाना जरूरी है। विश्वविद्यालयों, और महाविद्यालयों के इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन मण्डल (बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़) और विद्वत् परिषदों (एकेडमिक काउन्सिल) में इन विषयों पर चर्चा होनी चाहिए, और पाठ्यक्रमों में इसके आधार पर परिवर्तन करना चाहिए। युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड इसके आधार पर सन्दर्भ पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। ऐसा होगा तभी आनेवाली पीढ़ी को यह जानकारी प्राप्त होगी। यह केवल जानकारी का विषय नहीं है, यह परिवर्तन का आधार भी बनना चाहिए। आवश्यकता पडने पर इसके लिए व्यापक चर्चा जहां सम्भव है ऐसी गोष्ठियों एवं चर्चा सत्रों का आोयजन करना चाहिए।

इसके आधार पर रूपान्तरण कर के जनसामान्य तक ये बातें पहुँचानी चाहिए। कथाएँ, नाटक, चित्र, प्रदर्शनी तैयार कर उस सामग्री का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। इससे जनसामान्य के मन में स्थित सुषुप्त भावनाओं और अनुभूतियों का यथार्थ प्रतिभाव प्राप्त होगा।

माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने वाले किशोर और बाल छात्रों के लिए उपयोगी वाचनसामग्री इसके आधर पर तैयार की जा सकती है।

ऐसा एक प्रबल बौद्धिक जनमत तैयार करने की आवश्यकता है जो इसके आधार पर संस्थाएँ निर्माण करे, चलाये, व्यवस्था का निर्माण करे। या तो सरकार के या सार्वजनिक स्तर पर व्यवस्था बदलने की, और नहीं तो सभी व्यवस्थाओं को अपने नियंत्रण से मुक्त कर जनसामान्यके अधीन करने की अनिवार्यता निर्माण करे। सच्चा लोकतंत्र तो यही होगा।

बन्धन और जकड़न से जन सामान्य की बुद्धि को मुक्त करनेवाली, लोगों के मानस, कौशल, उत्साह और मौलिकता को मार्ग देने वाली, उनमें आत्मविश्वास का निर्माण करनेवाली और उनके आधार पर देश को फिर से उठाया और खड़ा किया जा सके इस हेतु उसका स्वत्व और सामर्थ्य जगानेवाली व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है।

इन पुस्तकों के प्रकाशन का यह प्रयोजन है।

५.

श्री धर्मपालजी गांधीयुग में जन्मे, पले। गांधीयुग के आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया, रचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लिया, मीराबहन के साथ बापूग्राम के निर्माण में वे सहभागी बने।

महात्मा गांधी के देशव्यापी ही नहीं, तो विश्वव्यापी प्रभाव के बाद भी गांधीजी के अतिनिकट के, अतिविश्वसनीय, गांधीभक्त कहे जाने वाले लोग भी उन्हें नहीं समझ सके, कुछ ने तो उन्हें समझने का प्रयास भी नहीं किया, कुछ ने उन्हें समझा फिर भी उन्हें दरकिनार कर सत्ता का स्वीकार कर भारत को यूरोप के तंत्रानुरूप ही चलाया। उन नेताओं के जैसे ही विचार के लगभग दो चार लाख लोग १९४७ में भारत में थे (आज उनकी संख्या शायद पाँच दस करोड़ हो गई है)। यह स्थिति देखकर उनके मन में जो मंथन जागा उसने उन्हें इस अध्ययन के लिये प्रेरित किया। लन्दन के और भारत के अभिलेखागारों में से उन्होंने असंख्य दस्तावेज एकत्रित किए, पढ़े, उनका अध्ययन किया, विश्लेषण किया और १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के भारत का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जीवन के पचास साठ वर्ष वे इस साधना में रत रहे।

ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में हैं। उनका व्यापक अध्ययन होने के लिए ये भारतीय भाषाओं में हों यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कुछ लेख हिन्दी में हैं और 'जनसत्ता' आदि दैनिक में और 'मंथन' आदि सामयिकों में प्रकाशित हुए हैं । मराठी, तेलुगु, कन्नड आदि भाषाओं में कुछ अनुवाद भी हुआ है परन्तु संपूर्ण और समग्र प्रयास तो गुजराती में ही प्रथम हुआ है। और अब हिन्दी में हो रहा है।

इस व्यापक शैक्षिक प्रयास का यह अनुवाद एक प्रथम चरण है।

६.

इस ग्रन्थ श्रेणी में विविध विषय हैं। इसमें विज्ञान और तंत्रज्ञान है; शासन और प्रशासन है; लोकव्यवहार और राज्य व्यवहार है; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र भी है। इसमें भारत, इंग्लैंड़ और अमेरिका है। परन्तु सभी का केन्द्रबिन्दु हैं गांधीजी, कोंग्रेस, सर्वसामान्य प्रजा और ब्रिटिश शासन।

और उनके भी केन्द्र में है भारत।

अत: एक ही विषय विभिन्न रूपों में, विभिन्न संदर्भो के साथ चर्चा में आता रहता है। और फिर विभिन्न समय में, विभिन्न स्थान पर, भिन्न भिन्न प्रकार के श्रोताओं के सम्मुख और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के लिये भाषण और लेख भी यहां समाविष्ट हैं। अत: एक साथ पढ़ने पर उसमें पुनरावृत्ति दिखाई देती है-विचारोंकी, घटनाओं की, दृष्टान्तों की। सम्पादन करते समय पुनरावृत्ति को यथासम्भव कम करने का प्रयास किया है। इसीके परिणाम स्वरुप गुजराती प्रकाशन में ११ पुस्तकें थीं और हिन्दी में १० हुई हैं। परंतु विषय प्रतिपादन की आवश्यकता देखते हुए पुनरावृत्ति कम करना हमेशा संभव नहीं हुआ है।

फिर, सर्वथा पुनरावृत्ति दूर कर उसे नये ढ़ंग से पुनर्व्यवस्थित करना तो वेदव्यास

का कार्य हुआ। हमारे जैसे अल्प क्षमतावान लोगों के लिये यह अधिकारक्षेत्र के बाहर का कार्य है।

अत: सुधी पाठकों के नीरक्षीर विवेक पर भरोसा करके सामग्री यथातथ स्वरूप में ही प्रस्तुत की है।

यहां दो प्रकार की सामग्री है। एक है प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित यूरोप के अधिकारियों और बौद्धिकोंने प्रत्यक्षदर्शी प्रमाणों एवं स्वानुभव के आधार पर, विभिन्न प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रस्तुत की हुई भारत विषयक जानकारी, और दूसरी है धर्मपालजीने इस सामग्री का किया हुआ विश्लेषण, उससे प्राप्त निष्कर्ष और उससे प्रकाशित ब्रिटिशरों के कार्यकलापों का, कारनामों का अन्तरंग।

इसमें प्रयुक्त भाषा दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेजी भाषा है, सरकारी तंत्र की है, गैर साहित्यिक अफसरों की है, उन्होंने भारत को जैसा जाना और समझा वैसा उसका निरूपण करनेवाली है। और धर्मपालजी की स्वयं की भाषा भी उससे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

फलत: पढ़ते समय कहीं कहीं अनावश्यक रूप से लम्बी खींचनेवाली शैली का अनुभव आता है तो आश्चर्य नहीं।

और एक बात।

अंग्रेजो ने भारत के विषय में जो लिखा वह हमारे मन मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया है कि उससे अलग अथवा उससे विपरीत कुछ भी लिखे जाने पर कोई उसे मानेगा ही नहीं यह भी सम्भव है। इसलिए यहाँ छोटी से छोटी बात का भी पूरा पूरा प्रमाण देने का प्रयास किया गया है। साथ ही इतिहास लेखन का तो यह सूत्र ही है कि नामूलं लिख्यते किञ्चित् – बिना प्रमाण तो कुछ भी लिखा ही नहीं जाता। परिणामतः यहाँ शैली आज की भाषा में कहा जाए तो सरकारी छापवाली और पांडित्यपूर्ण है, शोध करनेवाले अध्येता की है।

प्रमाणों के विषयमें तो आज भी स्थिति यह है कि इसमें ब्रिटिशरों के स्वयं के द्वारा दिये गये प्रमाण हैं इसलिये पाठकों को मानना ही पडेगा इस विषय में हम आश्वस्त रह सकते हैं। (आज भी उसका तो इलाज करना जरूरी है।)

साथ ही, पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो भारत के विषय में भावात्मक, या भक्तिभाव पूर्ण बातें पढ़ने का आदी है, अथवा वैश्विक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया, अर्थात् अमेरिका के दृष्टिकोण से लिखा गया विचार पढ़ने का आदी है। इस परिप्रेक्ष्य में विषय सम्बन्धी पारदर्शी, ठोस, तर्कनिष्ठ प्रस्तुति हमें इस ग्रंथवाली में प्राप्त है। अनेक विषयों

में अनेक प्रकार से हमें बुद्धिनिष्ठ होने की आवश्यकता है इसकी प्रतीति भी हमें इसमें होती है।

७.

अनुवादकों तथा जिन जिन लोगों ने ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में पढ़ी हैं अथवा अनुवाद के विषय में जाना है उन सभी का सामान्य प्रतिभाव है कि इस काम में बहुत विलम्ब हुआ है। यह बहुत पहले होना चाहिये था। अर्थात् सभी को यह कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण लगा है। सभी पाठकों को भी ऐसा ही लगेगा ऐसा विश्वास है।

अनुवाद का यह कार्य चुनौतीपूर्ण है। एक तो दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेज अधिकारियों की भाषा, फिर भारतीय परिवेश और परिप्रेक्ष्य को अंग्रेजीं में उतारने और अपने तरीके से कहने के आयास को व्यक्त करने वाली भाषा और उसके ही रंग में रंगी श्री धर्मपालजी की भी कुछ जटिल शैली पाठक और अनुवादक दोनों की परीक्षा लेनेवाली है।

साथ ही यह भी सच है कि यह उपन्यास नहीं है, गम्भीर वाचन है।

संक्षेप में कहा जाय तो यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का दो सौ वर्ष का भारत का केवल राजकीय नहीं अपितु सांस्कृतिक इतिहास है ।

८.

इस ग्रंथावलि के गुजराती अनुवाद कार्य के श्री धर्मपालजी साक्षी रहे। उसका हिन्दी अनुवाद चल रहा था तब वे समय समय पर पृच्छा करते रहे। परन्तु अचानक ही दि. २४ अक्टूबर २००६ को उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व तो उनके साथ बात हुई थी। आज हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के अवसर पर वे अपने बीच में विद्यमान नहीं हैं। उनकी स्मृति को अभिवादन करके ही यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

९.

इस ग्रंथावलि के प्रकाशन में अनेकानेक व्यक्तियों का सहयोग एवं प्रेरणा रहे हैं। उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा सुखद कर्तव्य है।

अनेकानेक कार्यकर्ता एवं विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहसरकार्यवाह माननीय सुरेशजी सोनी की प्रेरणा, मार्गदर्शन, आग्रह एवं सहयोग के कारण से ही इस ग्रंथावलि का प्रकाशन सम्भव हुआ है। अत: प्रथमत: हम उनके आभारी हैं।

सभी अनुवादकों ने अपने अपने कार्यक्षेत्र में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी समय सीमा में अनुवाद कार्य पूर्ण किया तभी समय से प्रकाशन सम्भव हो पाया। उनके परिश्रम के लिये हम उनके आभारी हैं।

यह ग्रंथावलि गुजरात में प्रकाशित हो रही है। इसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी भाषी लोगों पर भी गुजराती का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इसका परिष्कार करने के लिये हमें हिन्दीभाषी क्षेत्र के व्यक्तियों की आवश्यकता थी। जोधपुर के श्री भूपालजी और इन्दौर के श्री अरविंद जावडेकरजी ने इन पुस्तकों को साद्यन्त पढ़कर परिष्कार किया इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अच्छे मुद्रण के लिये साधना मुद्रणालय ट्रस्ट के श्री भरतभाई पटेल और श्री धर्मेश पटेल ने भी जो परिश्रम किया है इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

'पुनरुत्थान' के सभी कार्यकर्ता तो तनमन से इसमें लगे ही हैं। इन सभी के सहयोग से ही इस ग्रन्थावलि का प्रकाशन हो रहा है।

१०.

सुधी पाठक देश की वर्तमान समस्याओं के निराकरण की दिशा में विचार विमर्श करते समय, नई पीढ़ी को इस देश के इतिहास में अंग्रेजों की भूमिका का सही आकलन करना सिखाते समय इस ग्रंथावलि की सामग्री का उपयोग कर सकेंगे तो हमारा यह प्रयास सार्थक होगा।

साथ ही निवेदन है कि इस ग्रंथावलि में अनुवाद या मुद्रण के दोषों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करें। हम उनके बहुत आभारी होंगे।

इति शुभम् ।

सम्पादक

वसन्त पंचमी
युगाब्द ५१०८
२३, जनवरी २००७

विभाग १

भारतीय चित्त, मानस एवं काल

१. यह बीसवीं, इक्कीसवीं सदी है किसकी

२. अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से

३. महत्त्व सही जवाब का नहीं, सही सवाल का है

४. अपने चित्तको समझे बिना हमारा काम नहीं चलेगा

५. हम किसी और के संसार में रहने लगे हैं

६. सभ्यताओं का नवीनीकरण तो करना ही होता है

यह आलेख ऋग्वेद से लेकर कोई दसवीं, बारहवीं सदी यानी विक्रम युग तक के हमारे प्राचीन साहित्य के अध्ययन के परिणामस्वरूप सामने आ सका है। यह अध्ययन कोई पांच वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था। इस अध्ययन में प्रमुख रूप से डॉ. एम. डी. श्रीनिवास, डॉ. जितेन्द्र बजाज और मैं स्वयं शामिल था। अनेक मित्रों ने तरह तरह के प्रश्न उठाकर, सूचनाएं, ग्रन्थ जुटाकर तथा इन सब पर सविस्तार बातचीत करते हुए इसमें अपना योगदान दिया है। इनमें मद्रास से श्रीमती पी. एल. टी. गिरिजा, श्री. टी. एन. मुकुन्दन, डॉ. वी. बालाजी, डॉ. अशोक झुनझुनवाला, दिल्ली से श्री रामेश्वर मिश्र पंकज, श्री पुष्पराज, श्री राजीव वोरा, डॉ. नीरू मलिक, श्री निर्मल चन्द्र, श्री बनवारी तथा वाराणसी से श्री सुनील सहस्त्रबुद्धे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह सामग्री लेखों की तरह १६ से १९ और फिर २३ अप्रैल, ९१ को दैनिक 'जनसत्ता' में प्रकाशित हुई है।

धर्मपाल

१. यह बीसवीं–इक्कीसवीं सदी है किसकी

गांधीजी ९ जनवरी, १९१५ को अपने दक्षिण अफ्रिका प्रवास से वापस देश लौटे। तब रास्ते में वे ब्रिटेन में भी रुके थे। उसके बाद, बर्मा और श्रीलंका की बात छोड दें, तो वे केवल एक बार विदेश गए। १९३१ की वह यात्रा ब्रिटेन जाने के लिए ही थी । पर भारत से जाते और यहां लौटते हुए वे मिस्र, फ्रान्स, स्विट्जरलैंड और इटली में भी कुछ कुछ दिन ठहरते गए। अमेरिका वाले तब चाहते रहे कि गांधीजी वहां भी आएं। लेकिन उनका अमेरिका जाना तो नहीं हो पाया।

१९१५ में गांधीजी के मुम्बई उतरने से पहले ही देश में उनसे बहुत बडी उम्मीदें लगाई जाने लगी थीं। उस समय के सम्पादकीय आलेखों से लगता है कि तभी से उन्हें कुछ अवतारपुरुष सा समझा जाने लगा था। मुम्बई में गांधीजी और कस्तूरबा का जैसा स्वागत हुआ, वैसा उस नगर की स्मृति में पहले किसी का नहीं हुआ था, ऐसा उन दिनों के समाचार पत्रों का कहना है। मुम्बई के बडे बडे घरों में गांधीजी और कस्तूरबा के सम्मान व स्वागत में अनेक भोज हुए। उन भोज समारोहों में मुम्बई हाईकोर्ट के कई न्यायाधीश और मुम्बई के गर्वनर की परिषद के सदस्य भी पहुंचे । मुम्बई के सम्पन्न समाज के प्रमुख लोग और बडे बडे उद्योगपति तो उन भोजों में उपस्थित थे ही।

पर तीन दिन में ही गांधीजी और कस्तूरबा इस सबसे ऊब गए। १२ जनवरी को हुए एक बडे स्वागत समारोह में गांधीजी ने अपनी उकताहट सबके सामने प्रकट कर डाली। इस समारोह में ६०० से अधिक अतिथि आए थे, और फीरोजशाह मेहता स्वयं इसके अध्यक्ष थे। समारोह में बोलते हुए गांधीजी ने कहा कि उन्होंने सोचा था कि देश आकर उन्हें दक्षिण आफ्रिका से कहीं अधिक आत्मीयता का अनुभव होगा । लेकिन पीछले तीन दिनों से मुझे और कस्तूरबा को लग रहा है कि दक्षिण आफ्रिका के भारतीय मजदूरों के बीच जीवन अधिक आत्मीय था । यहां तो हम अपने को कुछ पराए से लोगों के बीच ही पा रहे हैं।

उसके बाद गांधीजी का रहनसहन बदलता ही चला गया। उनके कार्यक्रम भी बडे लोगों के भोज समारोहों से हटकर अधिकतर साधारण लोगों के बीच होने लगे। और देश के साधारण जन के मानस में उनकी ऐसी पैठ हुई कि जनवरी के अन्तिम सप्ताह में, उनके मुम्बई उतरने के एक पखवाडे के भीतर, सौराष्ट्र में लोग उन्हें 'महात्मा' कहकर सम्बोधित करने लगे। उसके केवल तीन महीने बाद, लगभग एक हजार मील दूर, हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगडी में भी उन्हें 'महात्मा' कहा जा रहा था।

तब से लेकर अगले पचीस-तीस बरस तक देश में सघन आत्मविश्वास की एक लहर चलती रही। लोगों को शायद ऐसा आभास होता रहा कि उनके कष्टों का निवारण करने के लिए, पृथ्वी का बोझ घटाने के लिए, और जीवन को फिर से सन्तुलित करने के लिए, एक अवतार पुरुष उनके बीच उपस्थित है । अधिकांश भारतीयों ने उन्हें कभी देखा नहीं होगा। बहुतों ने उनके रहन सहन व काम काज के तरीकों को कभी सही भी नहीं माना होगा। और शायद भारत के अधिकतर लोग १९४५-४६ तक भी यही मानते रहे होंगे कि गांधीजी जो स्वतन्त्रता संग्राम चला रहे थे, उसके सफल होने की कोई सम्भावना नहीं है। लेकिन फिर भी शायद सभी भारतीयों को उनमें एक अवतार पुरुष और एक दिव्य आत्मा के दर्शन होते रहे।

पृथ्वी के कष्टों का निवारण करने के लिए अवतार पुरुष जन्म लिया करते हैं, यह मान्यता भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही है। रामायण, महाभारत और पुराणों के रचनाकाल से तो ऐसा माना ही जा रहा है। द्वापर का अन्त आते आते धर्म का इतना ह्रास होता है कि पृथ्वी अपने ऊपर के बोझ से पीडित होकर विष्णु से इस बोझ को किसी प्रकार हल्का करने की प्रार्थना करती है। तब देवों की ओर से एक बडी व्यूह रचना होती है और विष्णु स्वयं श्रीकृष्ण आदि के रूप में पृथ्वी पर उतरते हैं। महाभारत का युद्ध पृथ्वी के बोझ को हल्का करने की इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है । ललित विस्तर आदि बौद्धचरितों में गौतम बुद्ध के पृथ्वी पर अवतरण के भी ऐसे ही कारण दिए गए हैं। इसी प्रकार समय समय के प्रश्नों के समाधान के लिए अनेक अवतार होते रहते हैं।

इसलिए १९१५ में भारत के लोगों ने सहज ही यह मान लिया की भगवान ने उनका दु:ख समझ लिया है, और उस दु:ख को दूर करने के लिए व भारतीय जीवन में एक नया सन्तुलन लाने के लिए महात्मा गांधी को भेजा गया है। गांधीजी के प्रयासों से भारतीय सभ्यता की दासता का दु:ख बहुत कुछ कट ही गया। लेकिन भारतीय जीवन

में कोई सन्तुलन नहीं आ पाया। गांधीजी १९४८ के बाद जीवित रहते तो भी इस नए सन्तुलन के लिए तो कुछ और ही प्रयत्न करने पडते।

जो काम महात्मा गांधी पूरा नहीं कर पाए उसे पूरा करने के प्रयास हमें आगे पीछे तो आरम्भ करने ही पडेंगे। आधुनिक विश्व में भारतीय जीवन के लिए भारतीय मानस व काल के अनुरूप कोई नया सन्तुलन ढूंढे बिना तो इस देश का बोझ हल्का नहीं हो पायेगा। और उस नए ठोस धरातल को ढूंढने का मार्ग वही है जो महात्मा गांधी का था। इस देश के साधारण जन के मानस में पैठकर, उसके चित्त व काल को समझकर ही, इस देश के बारे में कुछ सोचा जा सकता है।

गांधीजी के लिए यह समझ और पैठ सहज थी। हमें उसे पाने के लिए अनेक बौद्धिक प्रयत्न करने पडेंगे। पर हमें यह जानना ही पडेगा कि इस देश के साधारणजन इसे किस दिशा में ले जाना चाहते हैं? वर्तमान की उनकी समझ क्या है? भविष्य का कैसा प्रारूप उनके मन में है? जिन साधारण लोगों के बल पर इस देश को एक नया सन्तुलन दिया जाना है, इस देश को बनाया जाना है, वे लोग हैं कौन? उनका स्वभाव क्या है? उनकी आदतें कैसी हैं? उनकी प्राथमिकताएं क्या हैं? इच्छाएं-आकांक्षाएं क्या हैं? वे अपने बारे में क्या मानते हैं? और संसार को कैसे देखते हैं? वे भगवान को देखते हैं क्या? देखते हैं तो किस दृष्टि से देखते हैं? या फिर वे भगवान को नहीं मानते तो किसे मानते हैं? काल को मानते हैं? दैव को मानते हैं? या कुछ और ही उनके मन में है क्या? जनसाधारण की अच्छे जीवन की कल्पना के अनुरूप और उनके सहयोग से देश को कुछ बनाना है तो यह सब तो जानना ही पडेगा।

लेकिन अपने लोगों के चित्त व मानस को समझने की यह बात लगता है हमें अच्छी नहीं लगती। गांधीजी का भारत के साधारण जन के साथ एकाकार होकर उन्हीं के चित्त की बात को शब्द देते जाना भी हम भद्रजनों को कभी सुहाता नहीं था। भारतीय चित्त व मानस से हमें डर-सा लगता है। हम यह मानकर चलना चाहते हैं कि भारतीय मानस में कुछ है ही नहीं। वह तो एक साफ स्लेट है, जिस पर हम भद्र लोगों को आधुनिकता से सीखकर एक नया आलेख लिखना है।

पर शायद हमें यह आभास भी है कि भारतीय चित्त वैसा साफ-सपाट नहीं है जैसा मानकर हम चलना चाहते हैं। वास्तव में तो वह सब विषयों पर सब प्रकार के विचारों से अटा पडा है। और वे विचार कोई नए नहीं हैं। वे सब पुराने ही हैं। शायद ऋग्वेद के समय से वे चले आ रहे हैं। या शायद गौतम बुद्ध के समय के कुछ विचार

उपजे होंगे, या फिर महावीर के समय से। पर जो भी ये विचार हैं, जहां से भी वे आए हैं, वे भारतीय मानस में बहुत गहरे पैठे हुऐ हैं । और शायद हम यह बात जानते हैं। लेकिन हम इस वास्तविकता को समझना नहीं चाहते, इसे किसी तरह नकार कर, भारतीय मानस व चित्त की सभी वृत्तियों से आंखें मूंदकर, अपने लिए एक नई ही कोई दुनिया हम गढ लेना चाहते हैं।

इसलिए अपने मानस को समझने की सभी कोशिशें हमें बेकार लगती हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के भारत के इतिहास का मेरा अध्ययन भी भारतीय मानस को समझने का एक प्रयास ही था। उस अध्ययन से अंग्रेजों के आने से पहले के भारतीय राज-समाज की, भारत के लोगों के सहज तौर-तरीकों की एक समझ तो बनी। समाज की जो भौतिक व्यवस्थाएं होती हैं, विभिन्न तकनीकें होती हैं, रोजमर्रा का काम चलाने के जो तरीके होते हैं, उनका एक प्रारूप-सा तो बन पाया। पर समाज के अन्तर्मन की, उसके मानस की, चित्त की कोई ठीक पकड उस काम से नहीं बन पाई। मानस को पकडने का, चित्त को समझने का मार्ग शायद अलग होता है।

पर भारतीय राज-समाज की भौतिक व्यवस्थाओं को समझने का मेरा वह प्रयास भी अधिकतर लोगों को विचित्र ही लगा था। १९६५-६६ में जब मैंने अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के दस्तावेजों को देखना शुरू किया तो दिल्ली के एक मित्र ने कहा, भई तुम ये क्या गडे मुर्दे उखाडने लगे हो ? कुछ ढंग का काम क्यों नहीं करते ? और बहुत लोगों ने कहा कि आप अठारहवीं सदी की ये जो बातें करते हैं वे तो ठीक ही हैं। उस समय भारत में खेती अच्छी होती होगी। बढिया लोहा बनता होगा। लोगों को चेचक आदि से बचाव के टीके लगाना आता होगा। प्लास्टिक सर्जरी होती होगी। लोगों की राज-समाज की अपनी सक्षम व्यवस्थाएं रही होंगीं। पंचायतें रही होंगी। यह सब सुनकर तो अच्छा ही लगता है। इन बातों से आत्मविश्वास और आत्मगौरव का भाव भी शायद देश में कुछ कुछ जगता हो। पर आजकल के सन्दर्भ में तो ये कोई बहुत काम की बातें नहीं हैं। यह सब जानकारी आज किस काम आने वाली है ? यह सब जानने का लाभ क्या है ? ऐसा अक्सर लोग पूछते रहते हैं।

इसी तरह का सवाल दो-एक महीने पहले हमारे तब के प्रधानमंत्री, श्री चन्द्रशेखर ने उठाया था। उनके घर मैं गया था। वे पूछने लगे आप यह अठारहवीं सदी को लेकर क्या बैठे हैं ? अब तो बीसवीं-इक्कीसवीं की बात होनी चाहिए। और भी बहुत से अनुभवी व परिचित लोग यही बात और अधिक जोर देकर कहते रहते हैं। लगता है हम जैसे सभी भारतीय ही किसी तरह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में पहुंचने की

बातें करने लगे हैं।

पर यह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी है किसकी? हमारी तो यह सदी नहीं है। भारत के जो साधारण लोग हैं, जिनकी अवस्था को देखकर हम दु:खी होते रहते हैं, और जिनकी भलाई के नाम पर यह सब ताम झाम चलता है, उनकी तो यह सदी नहीं है। जवाहरलाल नहेरू की मानें तो वे साधारण लोग तो अभी सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में ही रह रहे हैं। जवाहरलाल नहेरू ऐसा कहा करते थे, और वे इस बात को लेकर बहुत परेशान थे कि अपने लोग अठारहवीं सदी से बाहर निकल ही नहीं रहे, बीसवीं में आ नहीं रहे।

पर वे साधारणजन तो शायद पश्चिम की अठारहवीं सदी में भी न हों। हो सकता है कि वे अभी किसी पौराणिक युग में ही रह रहे हों। काल और युग की अपने यहां जो कल्पना है, उसी दृष्टि से वर्तमान को देख रहे हों। कलियुग में रहते हुए किसी अवतार पुरुष के आने की अपेक्षा में हों। उनकी मान्यताओं के अनुसार तो पश्चिम की इस बीसवीं सदी में ही महात्मा गांधी के रूप में एक अवतार-पुरुष यहां आए भी थे। पर शायद उन्हें किसी दूसरे तीसरे के आने की उम्मीद है, और शायद उसी की बातों में वे मग्न हों।

अगर यह सच है कि इस देश के साधारण लोग तो अपनी पौराणिक कल्पना के कलियुग में ही रह रहे हैं तो इसी कलियुग को समझने की कोशिश करनी पडेगी। बीसवीं सदी का राग अलापते रहने से तो हमारा काम नहीं चल पाएगा। हमारे लोग इस सदी में नहीं हैं तो यह अपनी सदी है ही नहीं। वैसे भी यह पश्चिम की ही सदी है। हो सकता है जापान वालों को भी यह कुछ कुछ अपनी ही सदी लगती हो। पर मुख्य रूप से तो यह यूरोप और अमेरिका की ही सदी है। और क्योंकि हम यूरोप या अमेरिका या जापान के साथ सम्पर्क तोड नहीं सकते इसलिए उनकी इस बीसवीं सदी को भी शायद कुछ समझना पडेगा। पर यह समझना तो अपने साधारण लोगों की दृष्टि से ही होगा न? अपने काल के आधार पर ही दूसरों के काल को समझा जाएगा न? समझने की प्रक्रिया का यह सामान्य क्रम उलटा तो नहीं जा सकता। हमें तो कलियुग की दृष्टि से ही बीसवीं सदी को समझना पडेगा, बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना तो हो ही नहीं सकता।

हममें से कुछ लोग शायद मानते हों कि वे स्वयं भारतीय मानस, चित्त व काल की सीमाओं से सवर्था मुक्त हो चुके हैं। अपनी भारतीयता को लांघकर वे पश्चिमी आधुनिकता या शायद किसी प्रकार की आदर्श मानवता के साथ एकात्म हो गए हैं।

ऐसे कोई लोग हैं तो उनके लिए बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना और भारतीय कलियुग को पश्चिम की बीसवीं सदी के रूप में ढालने के उपायों पर विचार करना सम्भव होता होगा। पर ऐसा अक्सर हुआ नहीं करता। अपने स्वाभाविक देश काल की सीमाओं-मर्यादाओं से निकलकर किसी और के युग में प्रवेश कर जाना असाधारण लोगों के बस की भी बात नहीं होती। जवाहरलाल नहेरू जैसों से भी यह नहीं हो पाया होगा। अपनी सहज भारतीयता से वे भी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए होंगे। महात्मा गांधी के कहने के अनुसार भारत के लोगों में जो एक तर्कातीत और विचित्र सा भाव है, उस विचित्र तर्कातीत भाव का शिकार होने से जवाहरलाल नहेरू भी नहीं बच पाए होंगे। फिर बाकी लोगों की तो बात ही क्या है। वे तो भारतीय मानस की मर्यादाओं से बहुत दूर जा ही नहीं पाते होंगे।

भारत के बडे लोगों ने आधुनिकता का एक बाहरी आवरण सा जरूर ओढ रखा है। पश्चिम के कुछ संस्कार भी शायद उनमें आए हैं। पर चित्त के स्तर पर वे अपने को भारतीयता से अलग कर पाए हों, ऐसा तो नहीं लगता। हां, हो सकता है कि पश्चिमी सभ्यता के साथ अपने लम्बे और घनिष्ठ सम्बन्ध के चलते कुछ दस-बीस-पचास हजार, या शायद लाखेक लोग भारतीयता से बिलकुल दूर हट गए हों। पर यह देश तो दस-बीस-पचास हजार या लाख लोगों का नहीं है । यह तो अस्सी करोड लोगों की कथा है ।

भारतीयता की मर्यादाओं से मुक्त हुए ये लाखेक आदमी जाना चाहेंगे तो यहां से चले ही जाएंगे। देश अपनी अस्मिता के हिसाब से, अपने मानस, चित्त व काल के अनुरूप चलने लगेगा तो हो सकता है इनमें से भी बहुतेरे फिर अपने सहज चित-मानस में लौट आएं। जिनका भारतीयता से नाता पूरा टूट चुका है, वे तो बाहर कहीं भी जाकर बस सकते हैं । जापान वाले जगह देंगे तो वहां जाकर रहने लगेंगे। जर्मनी में जगह हुई तो जर्मनी में रह लेगें। रूस में कोई सुन्दर जगह मिली तो वहां चले जाएंगे। अमेरिका में तो वे अब भी जाते ही हैं। दो-चार लाख भारतीय अमेरिका जाकर बसे ही हैं। और उनमें बडे बडे इंजीनियर, डॉकटर, दार्शनिक, साहित्यकार, विज्ञानविद् और अन्य अनेक प्रकार के विद्वान भी शामिल हैं।

पर इन लोगों का जाना कोई बहुत मुसीबत की बात नहीं है। समस्या उन लोगों की नहीं जो भारतीय चित्त व काल से टूटकर अलग जा बसे हैं। समस्या तो उन करोडों लोगों की है जो अपने स्वाभाविक मानस व चित्त के साथ जुडकर अपने सहज काल में रह रहे हैं । इन लोगों के बल पर देश का कुछ बनाना है तो हमें उस सहज

चित्त, मानस व काल को समझना पडेगा। उस चित्त के प्रकाश में वर्तमान कैसा दिखाई देता है, यह जानना पडेगा। और भारतीय वर्तमान के धरातल से पश्चिम की बीसवीं सदी का क्या रूप दिखता है, उस बीसवीं सदी और अपने कलियुग में कैसा और क्या सम्पर्क हो सकता है, इस सब पर विचार करना पडेगा। यह तभी हो सकता है जब हम अपने चित्त व काल को, अपनी कल्पनाओं व प्राथमिकताओं को, और अपने सोचने, समझने व जीने के तौर-तरीकों को ठीक से समझ लेंगे।

२. अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से

सहज भारतीय चित्त, मानस व काल को समझने के कई मार्ग हैं। अठारहवीं सदी के स्वदेशी राज-समाज को समझने का मेरा प्रयास एक मार्ग था। उस मार्ग से मानस तो शायद पकड में नहीं आता, पर उस मानस की विभिन्न भौतिक व्याप्तिओं की कुछ समझ तो बनती है। सहज भारतीय तौर-तरीकों और व्यवस्थाओं का कुछ अनुमान होता है।

अपने साधारण लोगों को जानना, वे कैसे जीते हैं, किस प्रकार की बातें करते हैं, अलग-अलग परिस्थितियों से कैसे निपटते हैं, कैसा व्यवहार करते हैं, यह सब देखने-समझने की कोशिश करना भारतीय मानस, चित्त, व काल को पकडने का एक और मार्ग है। पर यह शायद कुछ कठिन रास्ता है। हम सोचने-समझने वाले लोग फिलहाल अपनी जडों से इतने उखडे हुए हैं कि अपने लोगों की बातों को उन्हीं की दृष्टि से समझ पाना शायद अभी हम से बन न पाए।

भारतीय मानस को समझने के लिए अपने प्राचीन साहित्य को तो समझना ही पडेगा। यहां का असीम साहित्य, जो भारतीय सभ्यता का आधार रहा है, और जिससे अपने यहां की प्रज्ञा और व्यवहार नियमित होते रहे हैं, उसे जाने बिना भारतीय मानस को जानने की बात चल नहीं सकती। ऋग्वेद से लेकर अपना जितना साहित्य है, उपनिषद हैं, पुराण हैं, महाभारत और रामायण हैं, या बौद्ध और जैन साहित्य है, या फिर आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र व धर्मशास्त्र जैसे व्यावहारिक विषयों की जो विभिन्न संहिताएं हैं, उन सबकी एक समझ तो हमें बनानी ही पडेगी । इस सारे साहित्य से इस देश के मानस का, और उसकी विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व तकनीकी व्याप्तियों का क्या चित्र उभरता है, और वह चित्र समय-समय पर कैसे बदलता-संवरता रहा है, इसका एक मोटा अनुमान तो हमें करना ही पडेगा। ऐसे किसी अनुमान के बिना अपने को समझने की प्रक्रिया आरम्भ ही नहीं हो सकती। कम-से-कम बुद्धि पर आधारित प्रक्रियाएं तो ऐसे ही चला करती हैं। ज्ञानातीत कोई रास्ता हो तो उसकी बात अलग है।

अपने सारे पुराने साहित्य को देख-समझकर अपने चित्त व काल की एक तस्वीर बनाने, और उस तस्वीर में आधुनिक विश्व और उसकी वृत्तियों को उपयुक्त स्थान देने का काम हम कर नहीं पा रहे हैं। ऐसा नहीं कि भारत के पुराने साहित्य पर कोई काम हो ही न रहा हो। अनेक भारतीय विद्या संस्थान विशेष तौर पर भारतीय ग्रन्थों को देखने-समझने के लिए बने हैं, और अनेक ऊंचे विद्वान लम्बे समय से इस काम में लगे हैं। पर जो काम हो रहा है वह तो जो होना चाहिए था उससे ठीक उलटा है। अपनी दृष्टि से अपने और आधुनिक विश्व को समझने की बजाय आधुनिकता की दृष्टि से अपने साहित्य को पढा जा रहा है। अपने काल के सन्दर्भ में बीसवीं सदी को समझने की बजाय बीसवीं सदी के सन्दर्भ में अपने काल में से कुछ समसामयिक ढूंढने के प्रयास हो रहे हैं। अपनी कोई तस्वीर बनाकर उसमें आधुनिकता को सही जगह बैठाने की बजाय आधुनिकता की तस्वीर में अपने लिए कोई छोटा-मोटा कोना ढूंढा जा रहा है।

पिछले दो-एक सौ साल में पश्चिम वालों ने भारत के बारे में जानने की कोशिश की है। यहां की नीति को, रीति-रिवाजों को, धर्मशास्त्रों को, आयुर्वेद, ज्योतिष और शिल्प जैसी विद्याओं और विधाओं को, इन सबको समझने के प्रयास पश्चिमी विद्वान करते रहे हैं। जैसी जैसी उन लोंगो की रुचि थी, जैसी उनकी समझ थी, और जैसी उनकी आवश्यकताएं-अनिवार्यताएं थीं, वैसा-वैसा कुछ वे भारतीय साहित्य में पढते रहे हैं। उनकी देखा देखी, या कहिए कि उनके प्रभाव में आकर, अपने यहां के कुछ आधुनिक विद्वान भी भारतीय विद्याओं और विधाओं में रुचि लेने लगे, और भारत के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए अनेक नए नए संस्थान खुलने लगे। महाराष्ट्र में कई ऐसे संस्थान बने। बंगाल में भी बने होंगे। कई नए संस्कृत विश्वविद्यालय भी खुले ।

ये सब संस्थान, विद्यालय और विश्वविद्यालय आदि नए तरीके के ही थे। भारतीय विद्याओं को पढने-पढाने की जो पारम्परिक व्यवस्थाएं हुआ करती थीं उनके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। पश्चिम व विशेषत: लन्दन के उस समय के विद्या संस्थानों के अनुरूप ही भारत के इन नए विद्या संस्थानों का गठन किया गया था, और वहीं की विद्या धाराओं से किसी प्रकार अपनी विद्याओं को जोडना ही शायद इनका प्रयोजन था। उदाहरण के लिए, वाराणसी में 'क्वीन्झ कॉलेज' नाम का एक संस्थान वारेन हेस्टिंग्ज के समय में बना था। वही अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय कहलाता है। भारतीय विद्याओं का अध्ययन करने वाले प्रमुख भारतीय संस्थानों में उसकी गिनती होती है। ऐसे अनेक संस्थान बनते चले गए। अब भी इसी तरह के कई नए-नए संस्थान खुल रहे हैं।

पश्चिम की देखा-देखी में और पश्चिमी संस्थानों की तर्ज पर ये जो भारतीय विद्या संस्थान बने, उनमें पश्चिम के सारे पूर्वाग्रह और पश्चिम का पूरे का पूरा सैद्धांतिक ढांचा आ प्रतिष्ठित हुआ। भारतीय विद्याओं पर भारतीय विद्वानों ने जो काम आरम्भ किया, यह तो ऐसे था जैसे ये विद्वान कोई विदेशी लोग हों और किसी खोई हुई मृत सभ्यता के अवशेषों में से अपने काम आने योग्य कुछ ढूंढ रहे हों। यह काम वैसा ही था जैसा एंथ्रोपोलोजी में होता है। एंथ्रोपोलोजी पश्चिम की एक विशेष विद्या है। इस विद्या के प्रामाणिक प्रवक्ता और धुरन्धर विद्वान माने जाने वाले क्लॉड लेवी स्ट्रॉस के अनुसार इस विद्या की विषयवस्तु पराधीन, पराजित और खंडित समाज हुआ करते हैं । विजेता समाज विजित समाजों का अध्ययन करने के लिए जो उपक्रम करते हैं, वही एंथ्रोपोलोजी है। एंथ्रोपोलोजी की इस परिभाषा पर इस विद्या के विद्वत्समाज में कोई विशेष विवाद नहीं है। लेवी स्ट्रॉस धाकड विद्वान हैं, इसलिए वे अपनी बात स्पष्ट कह जाते हैं। बाकी विद्वान इसी बात को घुमा-फिराकर कहते होंगे। पर यह तो साफ है कि एंथ्रोपोलोजी के माध्यम से अपने ही समाज का अध्ययन नहीं हुआ करता, न पराजित और खंडित समाजों के विद्वान इस विद्या को उलटा कर विजेता समाजों का अध्ययन करने के लिए इसे बरत सकते हैं। पर भारतीय विद्वान भारतीय सभ्यता पर ही एंथ्रोपोलोजी कर रहे हैं। भारतीय साहित्य पर अब तक जितना काम हुआ है, और जो हो रहा है, यह सब ऐसा ही काम है। या तो एंथ्रोपोलोजी की जा रही है, या पश्चिम के एंथ्रोपोलोजीविदों के लिए सामग्री जुटाई जा रही है।

ऐसा नहीं कि इस काम में परिश्रम या बुद्धि न लगती हो। बहुत विद्वत्ता और बहुत मेहनत के काम अपने विद्वानों ने किए हैं। अभी कुछ बरस पहले महाभारत का टिप्पणी सहित एक संस्करण, अंग्रेजी में क्रिटीकल एडीशन, बनकर तैयार हुआ है। इसे बनाने में चालीस-पचास साल की मेहनत लगी होगी। ऐसे ही रामायण के संस्करण बने होंगे। वेदों और दूसरे अनेक ग्रन्थों पर भी ऐसा काम हुआ होगा। फिर अनुवाद हुए हैं। संस्कृत, पाली, तमिल और बहुत-सी दूसरी भारतीय भाषाओं के कई ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। यूरोप की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद किए गए हैं। यहां की भाषाओं में भी हुए हैं। गीताप्रेस गोरखपुर वाले तो बहुत सारे प्राचीन साहित्य का सरल हिन्दी अनुवाद कर उसे सामान्यजनों तक पहुंचाने का अथक प्रयास किए जा रहे हैं। गुजराती में भी बहुत से अनुवाद हुए हैं। यह सब हुआ है। और यह बहुत परिश्रम और विद्वत्ता का काम ही हुआ है।

पर यह सारा काम भारतीय चित्त व काल की किसी अपनी समझ के धरातल से

नहीं, पश्चिम की विश्वदृष्टि के आलोक में हुआ है। या फिर खाली भक्ति की रौ में बहकर कुछ पुण्य कमाने की दृष्टि से अनुवाद और टीकाएं होती गई हैं। इसलिए इन सब अनुवादों और संस्करणों आदि से भारतीयता की समझ के प्रखर होने की बजाय आधुनिकता के हिसाब से भारतीय साहित्य का एक भाष्य-सा बनता चला गया है।

उदाहरण के लिए श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के पुरुष-सूक्त के अनुवाद व भाष्य को देखिए। उसमें उन्होंने ला दिया है कि ब्रह्मा के तप से जिस राज्य की अभिव्यक्ति हुई उसके ये ये विभाग थे। पुरुषसूक्त का भाष्य करते हुए राज्य के बीसियों विभाग उन्होंने गिना दिए हैं। मानो अंग्रेजी साम्राज्य के विभागीय अफसरशाही वाले राज्य की कल्पना ही पुरुषसूक्त का सन्देश हो। श्री सातवलेकर तो आधुनिक भारत के महर्षि जैसे माने जाते हैं। उनका परिश्रम, उनकी विद्वत्ता और भारत की प्रज्ञा में उनकी निष्ठा सब उंची कोटि की थी। पर आधुनिकता के प्रवाह में वे भी ऐसा बहे कि उन्हें पुरुषसूक्त में अंग्रेजी राज्य व्यवस्था का पूर्वाभास दिखाई देने लगा। भारतीय साहित्य पर जो बाकी काम हुआ है, वह भी कुछ ऐसा ही है। उसका सार यही निकलता है कि आधुनिक पश्चिम में कोई विशेष वृत्ति या समझ है, तो वही वृत्ति, वही समझ अपने ग्रंथो में पहले से ही थी, और आधुनिक पश्चिम के मुकाबले अधिक सबल-स्पष्ट थी।

पिछले बीस-तीस वर्षों में ऐसा ही काम और ज्यादा होने लगा है। पर इस सबका क्या लाभ ? दूसरों की समझ के अनुरूप, दूसरों के मुहावरे में ही बातचीत करनी है तो अपने प्राचीन साहित्य को बीच में क्यों घसीटा जाए ? बीसवीं सदी की पश्चिमी आधुनिकता को ही प्रतिपादित करना है तो उसके लिए अपने पूर्वजों को साक्षी बनाने की तो जरुरत नहीं है। अपने पूर्वजों और उनका साहित्य तो अपने भारतीय चित्त व काल के ही साक्षी हो सकते हैं। उन्हें पश्चिमी आधुनिकता का साक्षी बनाकर खडा करना तो अनाचार ही है।

अपने यहां प्राचीन साहित्य पर होने वाले काम का एक और उदाहरण देखिए। पिछले बहुत समय से, शायद सौ-एक बरस से, हमारे विद्वान लोग इस देश की विभिन्न विद्याओं की विभिन्न भाषाओं में ज्ञात पांडुलिपियों की उपलब्ध सूचियों का एक संकलन बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस संकलन को बनाने वाले विद्वानों ने लम्बी मेहनत के बाद यह जाना है कि संस्कृत, प्राकृत, पाली, तमिल, आदि भाषाओं की ज्ञात पाडुंलिपियों की दो हजार के लगभग सूचियां या कैटलाग हैं। ये दो हजार कैटलाग शायद सात-आठ सौ अलग-अलग स्थानों से सम्बन्धित हैं। इनमें से सौ-दो सौ स्थान भारत के बाहर होंगे। यह केवल कैटलागों या सूचियों की बात है। मान लिया जाए कि प्रत्येक

सूची में सौ-दो सौ के लगभग पांडुलिपियां होंगी तो इन सूचियों में दर्ज पांडुलिपियों की गिनती दो-चार लाख बैठती है। ये दो-चार लाख पांडुलिपियां कहां-कहां बिखरी होंगी, और किस स्थिति में होंगी, इसका तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।

अब यह कितनी मेहनत, कितनी विद्वत्ता का काम है ? सात-आठ सौ स्थानों पर रखी पांडुलिपियों को इकट्ठा कर उनकी एक लम्बी समन्वित सूची बनाना कोई आसान काम तो नहीं रहा होगा। लेकिन हम क्या करेंगे इस सबका ? दो-चार लाख पांडुलिपियों की जो यह समन्वित सूची है वह हमारे किस काम आएगी ? यह सूची तो पिछले सौ-डेढ सौ साल में संकलित हुई है। कुछ विदेशियों ने बनाई है, कुछ हमारे विद्वानों ने बनाई है। पर हमें तो यह भी नहीं मालूम की इस सूची में जो पांडुलिपियां दर्ज हैं उनमें से कितनी अभी बची हैं और कितनी को खोलकर, अभी भी पढा जा सकता है। इनमें से कितनी माइक्रो फिल्म हो सकती हैं इसका तो शायद कोई ठीक अंदाजा नहीं है।

इन पांडुलिपियों को पढा ही नहीं जा सकता तो उनकी ये सूचियां हम किस लिए बना रहे हैं ? वैसे तो ऐसा भी माना जाता है कि भारतीय भाषाओं की कुल पचास करोड के आस-पास पांडुलिपियां इधर-उधर पडी होंगी। जो साहित्य हमारे पास आसानी से उपलब्ध है उसी को हम देख-समझ नहीं सकते तो इन पचास करोड की बात तो निरर्थक ही है।

यह ठीक है कि विद्वत्ता के क्षेत्र में ऐसे काम भी हुआ करते हैं। ठीक-ठीक चलते समाजों में ऐसी विद्वता भी समा जाती है। जिन पंडित लोगों को कवित्त ही करने होते हैं, उन्हें अपने कवित्त करने दिया जाता है। और सक्षम समाज इस प्रकार की विद्वत्ता को भी कभी-न-कभी काम पर लगा लेते हैं। लेकिन उन समाजों में भी अधिकतर काम तो मुख्य धारा में, एक विशेष दिशा में, एक-दूसरे को समर्थन देते हुए, एक-पर-एक को जोडते हुए ही किए जाते हैं। हमारे यहां तो भारतीय विद्या पर होने वाले कामों की कोई मुख्य धारा ही नहीं हैं, कोई दिशा ही नहीं है। सारे का सारा काम ही जैसे कोई मानसिक ऐयाशी हो।

पर हमारे पास तो इस तरह की ऐयाशी के लिए न साधन हैं, न समय। हमें अपने चित्त व काल को समझना है, अपने दो पैरों पर खडे होने के लिए कोई धरातल बनाना है, तो इस तरह की दिशाहीन विद्वत्ता से कुछ नहीं बनेगा। उसके लिए तो अपने पूरे साहित्य को देख-समझकर जल्दी से एक मोटा-मोटा चित्र बनाना होगा। बाद में उस चित्र में विभिन्न रंग भरते जाएंगे, रेखाएं सुस्पष्ट होती जाएंगी। पर हमें अपनी दृष्टि से अपने को और विश्व को देखने की एक दिशा तो मिल जाएगी, अपना कोई धरातल तो

होगा। अपनी दिशा ढूंढने के काम कोई सदियों में नहीं किए जाते। ये काम तो दो-चार साल में ही पूरे किए जाते हैं, और ऐसे किए जाते हैं कि छह-सात महीनों में ही अपनी कोई रूपरेखा उभरने लगे।

अपने पुराने साहित्य का अध्ययन कर इस तरह की कोई रूपरेखा बना लेने की बात जब मैं करता हूं तो मित्र लोग कहते है कि भई आप इसमें मत पडिए। यह तो समझ नहीं आएगा। इसे जानने के लिए तो संस्कृत पढनी पडेगी। अंग्रेजी में पढकर या हिन्दी में पढकर तो सब गलत ही समझ बनेगी। पढना ही है तो संस्कृत में पढो। पहले संस्कृत सीख लो।

लेकिन संस्कृत जानने वाले कितने लोग हैं इस देश में ? यहां तो अब संस्कृत में डाक्टरेट भी संस्कृत सीखे बिना ही मिल जाती है, अंग्रेजी में प्रबन्धग्रन्थ लिखकर ही संस्कृत की डाक्टरेट हो जाती है। अब संस्कृत पढने वाले विद्वान तो शायद जर्मनी में ही मिलते हैं। जापान के कुछ विद्वान भी पढते होंगे। रूस-अमेरिका वाले भी शायद पढते हों। हमारे यहाँ के आधुनिक विद्वानों में तो संस्कृत में कोई विशेष लिखना-पढना नहीं होता । हजार-पांच सौ संस्कृत जानने वाले पंडित शायद बचे हों इधर-उधर । लेकिन यह सम्भव है कि पारम्परिक विद्याधाराओं से जुडे परिवारों में चार-छह लाख लोग अभी भी संस्कृत समझ व पढ सकते हों।

सुबह आकाशवाणी पर संस्कृत में जो समाचार आते हैं उन्हें सुनने-समझने वाले भी शायद ज्यादा नहीं है। मैंने श्री रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर से एक बार पूछा था कि इन समाचारों को सुनने वाले दस लाख लोग होंगे क्या ? वे बुजुर्ग थे, विद्वान थे, लम्बे समय तक जनजीवन में रहे थे। उनका कहना था कि नहीं इतने लोग तो नहीं सुनते होंगे। पीछले दिनों तमिल पत्र 'दिनमणी' के पूर्व सम्पादक और वयोवृद्ध विद्वान श्री शिवरमण से भेंट हुई। उनसे मैंने पूछा कि दक्षिण में तो संस्कृत पढने-पढाने की परम्परा रही है, यहां ठीक से संस्कृत जानने वाले कितने होंगे ? कितने होंगे जो बिना रुके संस्कृत पढ, लिख, बोल सकते हों ? उनका कहना था कि एक भी नहीं। फिर कहने लगे हो सकता है हजारेक लोग निकल आएं जो अच्छी संस्कृत जानते हों। इससे ज्यादा तो नहीं।

तो अपने देश में अगर संस्कृत की यह अवस्था है, संस्कृत यहां रही ही नहीं, संस्कृत जानने वाले ही नहीं रहे तो अपने चित्त व काल की रूपरेखा बनाने के लिए हम संस्कृत के लौट आने की प्रतीक्षा तो नहीं कर सकते। जिस अवस्था में हम हैं, वहीं से चलना पडेगा। जो भाषाएं हमें आती हैं, उन्हीं के माध्यम से कुछ जानना पडेगा । विद्वत्ता का शायद यह तरीका न होता हो। पर अभी आवश्यकता प्रकांड विद्वत्ता की नहीं, किसी

प्रकार इस भटकाव से बाहर निकलने की है। अपनी कोई दिशा ढूंढने की है। स्थिर होकर खडे होने और अपने ढंग से विश्व को समझने के लिए धरातल तैयार करने की है। वह धरातल तैयार हो जाएगा तो प्रकांड विद्वत्ता के लिए भी रास्ते निकल आएंगे। संस्कृत पढने-सीखने का कोई भी सुभीता हो जाएगा। उस सबके लिए समय है। पर अपना धरातल ढूंढने के काम को पूरा करने के लिए तो बहुत समय अपने पास नहीं है। कितनी देर तक एक पूरी सभ्यता अधर में लटकी खडी रह सकती है ?

३. महत्त्व सही जवाब का नहीं, सही सवाल का है

हमारे पैरों के नीचे अपनी कोई जमीन नहीं है। अपने चित्त व काल का अपना कोई चित्र नहीं है। अपनी कोई विश्वदृष्टि नहीं है। इसलिए ठीक-ठाक चलने वाले समाजों के लोग जो बातें सहज ही जान जाते हैं, वही बातें हमें भूलभुलैया में डाले रखती हैं। राज, समाज व व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध क्या होते हैं ? किन किन क्षेत्रों में इनमें किस किसकी प्रधानता होती है ? व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सम्बन्धों के आधार क्या हैं ? शील क्या होता है ? शिष्ट आचरण क्या होता है ? शिक्षा क्या होती है ? सौंदर्य क्या होता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर एक स्वस्थ समाज में किसी को खोजने नहीं पडते । अपने चित्त व काल के अनुरूप चल रहे समाजों में ये सब बातें अपने आप परिभाषित होती चली जाती हैं। पर हम क्योंकि अपने मानस व काल की समझ खो बैठे हैं, अपनी परम्परा के साथ जुडे रहने की कला भूल गए हैं, इसलिए ऐसे सभी प्रश्न हमारे लिए सतत खुले पडे हैं। देश के साधारण लोगों मे सही चिन्तन व सही व्यवहार का कोई सहज विवेक शायद अभी भी बचा ही होगा। लेकिन उन लोंगो में भी अब अक्सर दुविधा ही दिखाई देती है। पर अपने भद्र समाज में तो हर स्थान पर हर सन्दर्भ में विस्मृति और भ्रान्ति जैसी स्थिति बनी हुई है। सही गलत का जैसे कोई विवेक ही न बचा हो।

मुझे कुछ साल पुरानी एक घटना याद आ रही है। तब आंध्रप्रदेश के उस समय के राज्यपाल शृंगेरी के शंकराचार्य से मिलने गए थे। बातचीत में वर्णव्यवस्था का कोई सन्दर्भ आया होगा और शृंगेरी के आचार्य इस व्यवस्था के विषय में कुछ बताने लगे होंगे। इस पर राज्यपाल ने आचार्य से कहा कि वर्णव्यवस्था की बात तो आप मत ही करें। शृंगेरी के शंकराचार्य यह सुनकर चुप हो गए। बाद में वे अपने अनुज आचार्य से बोले कि देखो कैसा समय आ गया है ? वर्ण पर अब बात भी नहीं की जा सकती।

यह कैसी विचित्र घटना है ? बात वर्णव्यवस्था के सही या गलत होने की नहीं थी। लेकिन राज्यपाल का इस विषय पर चर्चा ही वर्जित करना तो अजीब है। अपनी परम्परा और अपने मानस को समझने वाले किसी समाज में इस तरह की बातचीत की

कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्यपाल इतना भी नहीं समझते थे कि समाज संरचना के बारे में धर्माचार्यों को अपने मन की बात कहने से रोका नहीं जाता। और शृंगेरी आचार्य शायद भूल गए थे कि वे किसी राज्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। उनका उत्तरदायित्व तो अपनी परम्परा और अपने समाज तक ही सीमित है। अपनी परम्परा और अपने समाज के चित्त को अपनी समझ के अनुसार अभिव्यक्त करते रहना उनका कर्तव्य है। वे किसी राज्यपाल को इस अभिव्यक्ति को परिसीमित करने की छूट कैसे दे सकते हैं?

आचार-व्यवहार में सहज विवेक न रख पाने के बहुत से प्रसंग मिलेंगे। श्री पुरुषोत्तम दास टंडन देश के बहुत बडे और विद्वान नेता थे। स्वराज की लडाई में उनकी भागीदारी किसी और से कम नहीं थी। अहिंसा में उनका अटूट विश्वास था। और अहिंसापालन की दृष्टि से वे किसी मोची के हाथ के गढे चमडे के जूते पहनने की बजाय बाटा के बने रबड के जूते पहनते थे। इसी विचार के और बहुत से लोग रहे होंगे। अब, जीवहत्या के बारे में इतना सजग रहने की बात तो निश्चित ही बडी है। पर अहिंसा केवल जीवहत्या के निरोध का सिद्धांत तो नहीं है। अहिंसा एक व्यापक जीवनदृष्टि का अंग है। और उस जीवनदृष्टि के अनुसार अपनी आवश्यकताओं को घटाते जाना और जो घटाई न जा सकें, उन सभी आवश्यकताओं को अपने आस पडोस के परिवेश से ही पूरा कर लेना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना जीवहत्या से बचना। इसीलिए महात्मा गांधी के लिए अहिंसा और स्वदेशी के सिद्धांत एक ही थे। अपने पडोस के मोची को छोडकर बाटा वालों से रबड का जूता बनवानी की बात तो अहिंसा और स्वदेशी वाली इस जीवनदृष्टि के न तत्त्व बोध से मेल खाएगी, न सौंदर्य बोध से ही।

ग्रामोद्योगों और खादी को बढावा देने के लिए हजारों मील दूर बना विशेष सामान बरतने कि जो प्रवृत्ति हमारे कुछ भद्र लोगों में आजकल चली है वह भी किसी भी बात के सनातन तत्त्व और समयसापेक्ष बाह्य स्वरूप में विवेक न कर पाने का ही उदाहरण है। खादी और ग्रामोद्योग आदि तो स्वदेशी के भाव के बाह्य उपकरण मात्र थे। मूल बात तो समाज की जरुरतों को आस-पडोस के साधनों और क्षमताओं के माध्यम से पूरा कर लेने की वृत्ति की थी। वह वृत्ति स्वदेशी का तत्त्व था। उस तत्त्व को छोड हम केवल उपकरणों की पूजा में लग गए हैं।

पर ये तो शायद व्यक्तिगत आचरण भर की बातें हैं। इन बातों में व्यक्तियों से भूल हो जाती होगी। पर हम तो शिक्षा जैसे सामूहिक विवेक के विषय में भी ऐसे भूले हुए दिखते हैं। अभी पिछले दिनों सारनाथ में एक गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में अनेक विद्वान

इकट्ठे हुए थे। विश्वविद्यालयों के कुलपति थे, दर्शनशास्त्र के ऊंचे प्रोफेसर थे, बडे बडे साहित्यकार थे। वे सब शिक्षा के विषय पर विचार करने के लिए वहां पहुंचे थे। सुन्दर जगह थी। सारनाथ में बौद्ध ज्ञान का एक बहुत बडा संस्थान है, तिब्बतन इंस्टीट्यूट। उसी संस्थान में यह गोष्ठी हो रही थी। और संस्थान के निदेशक, सम्धोंग रिन-पो-छे, जो स्वयं बहुत उंचे विद्वान हैं, वे भी गोष्ठी में बराबर बैठे थे (तिब्बत में सबसे बडे आचार्य रिन-पो-छे, कहलाते हैं, दलाईलामा भी।)

गोष्ठी के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठा कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं, उसकी कोई परिभाषा है क्या ? मैंने ही प्रश्न उठाया कि हम किसे शिक्षा कहते हैं ? लिखने-पढने की कला ही शिक्षा है क्या ? या कुछ और है ? उस समय तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला । पर बाद में चौथे दिन, गोष्ठी के समाप्त होने से कुछ ही पहले, श्री सम्धोंग रिन-पो-छे से बोलने के लिए कहा गया तो वे इस प्रश्न की ओर मुडे। उन्होंने कहा कि इस गोष्ठी में चार दिन जो बातें होती रही हैं, उन्हें मैं तो कुछ समझ नहीं पाया, क्योंकि मैं तो इस 'एजूकेशन' शब्द का अर्थ ही नहीं जानता। वैसे अंग्रेजी मुझे ज्यादा आती भी नहीं। हां, 'शिक्षा' शब्द को तो मैं समझता हूं। और हमारे यहां इस शब्द का अर्थ प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान से होता है। इन तीनों को जानना शिक्षा है, बाकी जो तकनीकें हैं, भौतिक विज्ञान है, शिल्प और कलाएं आदि है, वे शिक्षा में नहीं आती। वे कुछ दूसरी चीजें हैं। उन्हें हमारे यहां शिक्षा नहीं माना जाता।

शिक्षा की यह परिभाषा यदि सही है, यदि प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान को ही अपने यहां शिक्षा माना गया है, तो इसे तो समझना पडेगा न। और यह भी देखना पडेगा कि इस दृष्टि से हमारे यहां कितने लोग शिक्षित हैं। हो सकता है बहुत नहीं हों। हो सकता है केवल आधा प्रतिशत लोग ही प्रज्ञा, शील और समाधि में शिक्षित हों, या शायद पांच प्रतिशत तक ऐसे लोग निकल आएं। लेकिन मान लिजिए कि आधा प्रतिशत ही शिक्षा की इस परिभाषा की कसौटी पर शिक्षित निकलते हैं। पर ये आधा प्रतिशत भी बाकी संसार में प्रज्ञा, शील और समाधि को जानने वालों के मुकाबले पांच-दस गुना अधिक बैठते होंगे। शिक्षा की अपनी इस मान्यता के अनुसार हम विश्व के सबसे अधिक शिक्षित लोगों में से होंगे।

या फिर प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान को हम शिक्षा नहीं मानते। शायद आचरण और व्यवहार की कला को, जीविका चला पाने की क्षमता को हम शिक्षा मानते हैं। उस दृष्टि से देखें तो भारत के ९०-९५ प्रतिशत लोग शिक्षित ही निकलेंगे। और अधिक भी शिक्षित हो सकते हैं। पर हो सकता है कि इस दृष्टि से देखने पर हम जैसे ५

प्रतिशत लोग कुछ अशिक्षित ही निकलें। क्योंकि हम जैसों को तो न आचरण आता है, न व्यवहार आता है, न जीविका चलाने की कोई कला आती है।

लेकिन शायद हम आचरण, व्यवहार और काम-धंधे चलाने की क्षमता को भी शिक्षा नहीं मानते। अक्षर ज्ञान को ही शिक्षा मानते हैं, और उस दृष्टि से देखकर पाते हैं कि भारत के ६०, ७०, या ८० प्रतिशत लोग अशिक्षित ही हैं। लेकिन शिक्षा के माध्यम से कैसा अक्षरज्ञान हम लोगों तक पहुंचाना चाहते हैं ?

मान लिजिए किसी को खाली भोजपुरी ही लिखनी-पढती आती है। उसे हम शिक्षित मानेगें या अशिक्षित। शायद वह हमें अशिक्षित ही दिखाई देगा। हम कहेंगे कि भई इसे अक्षर ज्ञान तो है, पर भोजपुरी का अक्षरज्ञान तो कोई अक्षरज्ञान न हुआ। इसे तो अच्छी नागरी हिन्दी भी नहीं आती। नागरी हिन्दी न आए तब तक हम इसे शिक्षित कैसे मान लें ?

पर फिर कोई कहेगा कि खाली नागरी हिन्दी से भी क्या होता है, अच्छी संस्कृत आनी चाहिए। कोई और कहेगा कि संस्कृत से भी कैसे चलेगा ? अंग्रेजी आनी चाहिए, और वह भी शेक्सपीयर वाली ही आनी चाहिए। या आक्सफोर्ड में अंग्रेजी पढाई जाती है, या बीबीसी पर जो बोली जाती है, वही अंग्रेजी आनी चाहिए। फिर कोई कहेगा की हां वैसी अंग्रेजी तो इसे आती है। पर अमेरिका में यह अंग्रेजी बेकार है। अमेरिका वालों की तो अंग्रेजी दूसरी है, और आज संसार में जो चल रही है वह तो अमेरिकी अंग्रेजी है। वह इसे नहीं आती तो इसे अक्षरज्ञान तो नहीं हुआ ठीक से। इसे शिक्षित मान लें ?

इस सबके बाद जब हममें से कुछ अमेरिकी अंग्रेजी सीख जाएंगे तो कोई और कहेगा भई अब तो अमेरिका वालों के दिन भी लद गए। अब तो किसी और के दिन आ रहे हैं। शायद जर्मनीवालों के आ रहे हों, या शायद रूसियों के ही आ रहे हों। हो सकता है अफ्रीकावालों में से किसी के दिन आ जाए। या अरबों के ही आ जाएं। तब हम कहेंगे कि उनकी भाषा है उसका अक्षरज्ञान हो तो हम अपने लोगों को शिक्षित मानेंगे। उसके बिना तो हम सब अशिक्षित ही हैं।

यह हम किस चक्कर में फंस गए हैं ? इस तरह दुनिया की बहती हवाओं के साथ झुक-झुककर हम कहां पहुंचेंगे ? हमें इस चक्कर से निकलना है तो अपना कोई स्थिर धरातल खोजना पडेगा। अपने चित्त व काल को समझकर, अपने साहित्य की सम्पूर्णता का अनुमान-सा लगाकर, एक सैद्धांतिक ढांचा तो हमें बनाना ही पडेगा, ताकि सही-गलत के विवेक का कोई आधार हमें मिल पाए। आचरण की, व्यवहार की, और रोजमर्रा के विभिन्न सम्बन्धों की कुछ सहज परिभाषाएं हो पाएं । अपने हिसाब से चल निकलने

का कोई रास्ता निकल आए।

हो सकता है कि जो सैद्धांतिक ढांचा हम बनाएंगे वह बहुत सही या बहुत टिकाऊ नहीं होगा। शायद पांच-सात साल में उसे बदलना पडेगा। पर सैद्धांतिक ढांचे तो सब ऐसे ही होते हैं। ये सब तो व्यक्ति के अपने उपक्रम हैं, परमात्मा के दिए सनातन सत्य जैसे तो वे नहीं हो सकते। सैद्धांतिक ढांचे दुरुस्त होते रहते हैं, बदलते रहते हैं। भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धांत बदल जाते हैं, राजनीति विज्ञान की मौलिक परिभाषाएं बदल जाती हैं, दर्शनशास्त्र की दिशा बदल जाती है। इस सब में सनातन तो कुछ नहीं होता। और कुछ सनातन होता है, सैद्धांतिक ढांचे के आधार में कुछ मूलभूत सत्य होता है, तो वह सनातन सत्य ढांचे के बदल जाने से प्रभावित नहीं हुआ करता। वह तो रह ही जाता है। पर संसार के काम अस्थायी काम चलाउ सैद्धांतिक ढांचो के आधार पर ही चला करते हैं। वैसा ही एक कामचलाऊ ढांचा हमें अपने चित्त व काल की अपनी समझ का भी बना लेना है।

और यह काम हमें स्वयं ही करना पडेगा। बाहर वाले आकर हमें ऐसा कोई ढांचा बनाकर नहीं दे सकते जो हमारे सहज चित्त व काल के अनुरूप बैठता हो। वे चाहते हों तो भी यह काम नहीं कर पाएंगे। ये काम तो यहीं के लोगों के करने के हैं।

भारत के सनातन सत्य का कोई छोर पकड लाने की बात मैं नहीं कर रहा। बात तो कोई ऐसा धरातल तैयार करने ही है जहां खडे होकर सही प्रश्न पूछे जा सकें। प्रश्न उठने लगेंगे तो उत्तर भी निकलते आएंगे। या शायद उत्तर नहीं मिलेंगे। पर प्रश्नों के उठने से सही रास्ते का कुछ विवेक तो होने लगेगा। सामान्य आचार व्यवहार में भ्रान्ति की स्थिति तो नहीं रहेगी।

मद्रास के श्री शिवरमण तो कहते हैं कि प्रश्न पूछते जाना ही भारतीय सत्य-साधना का मूल है। उनका मानना है कि उपनिषदों में उत्तर तो कोई बहुत ठीक नहीं हैं, पर प्रश्न बहुत बडे हैं। स्मृतियों में भी उनका कहना है कि प्रश्न बहुत ऊंचे हैं। और फिर अपने सभी प्राचीन ग्रन्थों में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ही तो सब कुछ कहा जाता है।

वाल्मीकि रामायण में एक प्रसंग है। रामचंद्रजी जब चित्रकूट से आगे बढते हैं तो रास्ते में खूब अस्त्र-शस्त्रों से लैस होते चले जाते हैं। तब सीता उन्हें कहती हैं कि यह क्या हो गया है आपको ? वन में तो ऐसे नहीं रहा जाता । आप तो हिंसा की ओर बढते दिखाई दे रहे हैं। यह तो अच्छा नहीं है। रामचंद्रजी सीता की बात का कुछ जवाब जरूर देते हैं। पर वह कच्चा सा जवाब है। महत्त्व सीताजी के प्रश्न का ही है। उत्तर का नहीं। बात हिंसा-अहिंसा की वृत्तियों पर और अनेक सही सन्दर्भो पर चिन्तन करने की है,

किसी अन्तिम समाधान पर पहुंचने की नहीं।

ऐसे ही नारदपुराण में महर्षि भरद्वाज और भृगु के बीच एक संवाद है। भरद्वाज पूछते हैं कि आपके अनुसार चतुर्वर्ण-व्यवस्था में एक वर्ण दूसरे वर्ण से सर्वथा भिन्न होता है। पर इस भिन्नता का आधार क्या है? टट्टी, पेशाब और पसीना तो सभी को आता है। रक्त, पित्त और कफ आदि भी सभी के शरीर में रचे रहते हैं। फिर उनमें भिन्नता कैसी है? भृगु कहते हैं कि आरम्भ में तो सभी एक ही वर्ण के थे। फिर अपने अपने कर्मों से वे भिन्न होते गए। फिर भरद्वाज पूछते हैं कि कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र कैसे बनता है? भृगु कहते हैं कि कर्मों और गुणों से ही इस प्रश्न का निर्णय होता है। और इस तरह संवाद चलता रहता है।

यहां भी प्रश्न का कोई अन्तिम समाधान नहीं हुआ। पर समाज संरचना के बारे में प्रश्न पूछते रहने, इस विषय पर चिन्तन करते रहने, और समय व संदर्भ के अनुरूप कुछ स्थायी-अस्थायी समाधान निकालते रहने का यह तरीका ही शायद भारतीय तरीका है। इसमें महत्त्व सही सनातन उत्तर पाने का नहीं, सही सटीक प्रश्न उठाने का है। प्रश्न उठाते रहने के उस तरीके को हमने कहां खो दिया है? उन बडे प्रश्नों को उठाना ही हम एक बार फिर शुरू कर दें तो हमारा सहज विवेक लौट ही आएगा।

४. अपने चित्त को समझे बिना हमारा काम नहीं चलेगा

अपने चित्त, मानस व काल का सहज धरातल हमसे छूट गया है। अपने संसार को छोड किन्हीं और के संसार में हम रहने लगे हैं। पर उस दूसरे संसार में जीना हमें आता नहीं। उसमें हम समा नहीं पाते। हमारे बडे बडे राजनेताओं से, विद्वानों से और व्यापारियों आदि से भी यह नहीं हो पाता कि वे दूसरों के उस संसार में रच-पच जाएं। प्रयास वे अवश्य करते हैं, और उस प्रयास में वे प्राय: असफल होते हैं, क्योंकि जिस संसार में वे समाना चाहते हैं, वह उनका है ही नहीं। उस संसार की कोई ठीक समझ भी उन्हें नहीं हो सकती।

अपने संसार में लौटे बिना, अपने सहज चित्त, मानस व काल के धरातल को ढूंढे बिना, अपना काम चलने वाला नहीं है। भारतीय चित्त में जो अंकित है और उसका काल के साथ जो सम्बन्ध है, वह भारतीय सभ्यता में कई प्रकार से अभिव्यक्त हुआ होगा। उन अभिव्यक्तियों को देखने-समझने से अपने चित्त व काल का कुछ चित्र तो उभरेगा। भारतीय सभ्यता का जो पुराना साहित्य है उसे भी भारतीय चित्त व काल की एक अभिव्यक्ति के रूप में ही देखा जाना चाहिए। उस साहित्य में शायद भारतीयता की, सहज भारतीय चित्त व काल की बहुत विशद झलक मिल जाए।

यह सही है कि भारतीय साहित्य में जो है, वह सब का सब सीधे चित्त व काल के स्वरूप से सम्बन्धित नहीं होगा। इस विशाल साहित्य में अनेक विषयों पर अनेक प्रकार की बातें है। पर वे सब बातें भारतीय चित्त व काल के सहज धरातल से, संसार की भारतीय समझ के अनुरूप और भारतीय मुहावरे में ही की गई होंगी। फिर जो बातें इस साहित्य में बहुत मौलिक दिखाई देती हैं, जो सारे कथ्य का आधार सी लगती हैं, और जो विभिन्न प्रकार के साहित्य में बार बार दोहरायी जाती हैं, वे बातें तो शायद भारतीय चित्त व काल की सहज वृत्तियों की परिचायक ही होंगी।

जैसे पुराणो में सृष्टि के सर्जन और विकास की कथा है। उसका तो भारतीय चित्त व काल के साथ सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है। वैसे हर सभ्यता की सृष्टि की

अपनी एक गाथा होती है, और वह गाथा शायद उस सभ्यता की मूल वृत्तियों को बहुत गहराई से प्रभावित किया करती है। आदम और हव्वा की कथा, उनका ज्ञान के वृक्ष के फल को खा स्वर्ग से निष्कासित होना, और फिर ज्ञान के ही माध्यम से निरन्तर उसी स्वर्ग को रचते जाना, उसकी ओर आगे ही आगे बढते जाना-यह पश्चिमी गाथा शायद वहां की सारी सोच-समझ को प्रभावित किए रहती है। वहां के सारे साहित्य में और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान व तकनीक आदि में भी उनकी सृष्टि की इस गाथा की झलक देखी जा सकती है।

पुराणों में सृष्टि की जो गाथा गाई गई है वह तो अपने आप में बहुत सशक्त है। इस गाथा के अनुसार ब्रह्म के तप व संकल्प से सृष्टि का सर्जन होता है, और फिर यह अनेकानेक आवर्तनों से होती हुई, वापस ब्रह्म में लीन हो जाती है। ब्रह्म से सर्जन और ब्रह्म में प्रलय यह बडा आवर्तन एक निश्चित कालक्रम के अनुरूप दोहराया जाता रहता है। पर प्रत्येक बडे आवर्तन के भीतर अनेक छोटे आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते हैं, बार बार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होते रहते हैं। 'उत्पत्ति'और 'विनाश' शब्द शायद इस सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं हैं। क्योंकि ब्रह्म सृष्टि का सर्जन करते हुए अपने से बाहर किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करते हैं, वे तो स्वयं सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। ब्रह्म की वह अभिव्यक्ति ही सृष्टि है और उस अभिव्यक्ति का संकुचन ही प्रलय है। ब्रह्म के व्यास और संकुचन की ही यह सब लीला है। इसके अतिरिक्त न किसी वस्तु या भाव की उत्पत्ति होती है, न विनाश। ब्रह्म की इस लीला का जो सुव्यवस्थित कालक्रम दिया गया है उसकी जानकारी शायद बहुतों को न हो। पर ब्रह्म की यह लीला अनादि और अनन्त है यह विचार प्राय: भारतीयों के चित्त में रहता ही है।

सृष्टि और प्रलय के आवर्तनों की इस लीला में आवर्तन का मौलिक कालांश चतुर्युग है। सृष्टि का प्रत्येक आवर्तन कृत युग से आरम्भ होता है। और सृष्टि का यह आरम्भिक काल आनन्द का काल है। इस युग में जीव शायद अभी ब्रह्म से बहुत दूर नहीं हुआ है। जीव जीव में तो कोई भिन्नता है ही नहीं। सभी एक वर्ण हैं। या वर्ण की अभी बात ही नहीं है।

इस युग में सृष्टि अभी बहुत सहज रूप में है। कहीं कोई जटिलता नहीं है। मद, मोह, लोभ, अहंकार, जैसे भाव उत्पन्न ही नहीं हुए। 'काम' भी नहीं है। सन्तानोत्पत्ति मात्र संकल्प से ही होती है। जीवन की आवश्यकताएं बहुत कम हैं। जीवन चलाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पडता। 'मधु' पीकर ही सब जीवित रहते हैं। यह 'मधु' भी सहज प्राप्य है। मधुमक्खियों के प्रयत्न से बना मधु यह नहीं है। इस सहज

आनन्दमयी सृष्टि में ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए वेद भी अभी नहीं हैं।

आनन्द का यह युग बहुत लम्बे समय तक चलता है। पौराणिक गणना के अनुसार कृत का काल १७,२८,००० बरस का है। पर समय के साथ सृष्टि जटिल होती चली जाती है। सहज व्यवस्था में गडबड होने लगती है। धर्म की हानि होने लगती है। कृत युग में ही कर्ता के विभिन्न अंशावतारों को आकर सृष्टि में धर्म की पुनर्स्थापना के प्रयास करने पडते हैं। विष्णु के भी अवतार होते हैं। और कृत युग में ही धर्म की हानि और उसकी पुनर्स्थापना का क्रम कई बार दोहराया जाता है। पर लगता है कि धर्म की ग्लानि और उसके पुन: प्रतिष्ठापन के हर क्रम के बाद सृष्टि पहले से कुछ अधिक जटिल होती जाती है, आनन्द की मूल स्थिति से कुछ और दूर हटती जाती है, जीवन में कुछ और गिरावट आती जाती है। और इस तरह चलते चलते कृत का अन्त होता है और त्रेता का आरम्भ।

त्रेता में सृष्टि उतनी सहज नहीं रह जाती जितनी कृत में थी। कृत में धर्म चार पांवो पर स्थिरता से टिका था। त्रेता में उसके तीन ही पांव रह जाते हैं। अपेक्षाकृत अस्थिरता की इस स्थिति में धर्म पर टिके रहने के लिए मानव को एक राजा और एक वेद की प्राप्ति होती है। मद, मोह, लोभ, अहंकार, आदि जैसे मनोविकारों की उत्पत्ति भी इसी समय होती है। पर अभी ये विकार प्राथमिक अवस्था में ही हैं और उन्हें आसानी से नियंत्रित किया जा सकता है।

त्रेता में जीवन की आवश्यकताएं बढने लगती हैं। मात्र 'मधु' से अब काम नहीं चलता। पर कृषि अभी नहीं होती। हल चलाने, बीज बोने, निराई-गुडाई आदि जैसी क्रियाओं की अभी जरूरत नहीं। अपने आप कुछ अनाज पैदा होता है। उस अनाज से, और वृक्षों के फलों और मेवों आदि से जीवन चलता है। वृक्षों की भी बहुत जातियां नहीं हैं। कुछ गिनी-चुनी वनस्पतियां और वृक्ष ही अभी सृष्टि में पाये जाते हैं।

सीमित आवश्यकताओं के इस युग में मानव कुछ कला, कौशल व तकनीकें सीखने लगता है। सहज पैदा होने वाले अनाज और फलों आदि को एकत्रित करने के लिए कुछ कला-कौशल चाहिए। फिर घर-बार, गांव और नगर आदि बनने लगते हैं। इनके लिए और कलाओं व तकनीकों की आवश्यकता हुई होगी।

सृष्टि की इस बढती जटिलता के साथ जीव जीव में विभिन्नता आने लगती है। त्रेता में मानव तीन वर्णों में बंट जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों त्रेता में उपस्थित हैं। पर शूद्र अभी नहीं बने। इस विभिन्नता और विभाजन के कारण भी जीव जीव के बीच में संवाद व सम्पर्क में कोई व्यवधान अभी नहीं दीखता। मानव और अन्य

जीवों के बीच भी संवाद चलता रहता है। वाल्मीकि रामायण में वर्णित घटनाएं त्रेता के अन्त में घटती हैं। श्री राम का वानरों, भालुओं और पक्षियों आदि को अपनी सहायता के लिए बुलाना, और उनका श्रीराम के साथ मिलकर महाबली और प्रकांड विद्वान रावण की बहुसंख्य सेनाओं को हराना, इस बात का परिचायक है कि त्रेता के अन्त तक मानव और अन्य जीवों में संवाद टूटा नहीं है। जीव जीव में विभिन्नता आई है, पर वह इतनी गहरी है कि संवाद व सम्पर्क की स्थिति ही न रहे।

त्रेता युग भी बहुत लम्बी अवधि तक चलता है। पर त्रेता का काल कृत के काल का तीन चौथाई ही है। कुछ ग्रन्थों के अनुसार, श्रीराम के स्वर्गारोहण के साथ ही त्रेता का अन्त होकर द्वापर का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय दृष्टि से जिसे इतिहास कहा जाता है उसका आरम्भ भी द्वापर से ही होता दीखता है।

द्वापर में सृष्टि कृत युग की सहजता से बहुत दूर निकल चुकी है। सभी जीवों और भावों में विभिन्नता आने लगती है। त्रेता का एक वेद अब चार में विभाजित हो जाता है और फिर इन चार की भी अनेक शाखाएं बन जाती हैं। इसी युग में विभिन्न विद्याओं और विधाओं की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का विभाजन होता है। अनेक शास्त्र बन जाते हैं।

सृष्टि की इस जटिलता में जीवन यापन के लिए अनेक कलाओं और तकनीकों की जरुरत पडती है। अनेक प्रकार के शिल्प आते हैं। खेती भी अब सहज नहीं रहती। अनाज पैदा करने के लिए अब अनेक प्रयत्न करने पडते हैं। और इन विविध शिल्पों और कलाओं को वहन करने के लिए ही शायद शूद्र वर्ण बनता है। इस तरह द्वापर में चार वर्ण हो जाते हैं।

द्वापर एक प्रकार से राजाओं का ही युग दिखता है। कुछ लोग तो द्वापर का प्रारम्भ श्रीराम के अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठने के समय से ही मानते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में और दूसरे पुराणों में राजाओं की जो अनेक कथाएं है उनका सम्बन्ध द्वापर से ही दिखता है। त्रेता की घटनाएं वे नहीं लगती। राजाओं की इन कथाओं में चित्रित वातावरण रामायण की कथा के वातावरण से एकदम भिन्न है। रामायण में धर्म का ही साम्राज्य है। पर द्वापर के राजा लोग तो क्षत्रियोचित आवेश में ही लिप्त हैं। उनमें अपार ईर्ष्या और लोभ है। क्रूरता उनके स्वभाव में निहित है। इसीलिए शायद यह माना गया है कि द्वापर में धर्म के केवल दो ही पांव बचे रहते हैं, और उन दो पांवो पर खडा धर्म डांवाडोल रहता है।

धर्म की हानि और क्षत्रियों की ईर्ष्या, लोभ व क्रूरता के इस सन्दर्भ में ही पृथ्वी

विष्णु से जाकर प्रार्थना करती है कि इतना अधिक बोझ अब उससे सहा नहीं जाता, और इस बोझ को हल्का करने का कोई उपाय होना चाहिए। तब विष्णु श्रीकृष्ण और श्री बलराम के रूप मे अंशावतार लेते हैं। उनकी सहायता के लिए अनेक दूसरे देवों के विभिन्न रूपों में अवतरण का आयोजन होता है। इस सारे आयोजन के बाद महाभारत का युद्ध होता है। उस युद्ध में धर्म की अर्धम पर विजय होती है, ऐसा सामान्यत: माना जाता है। पर इस विजय के बावजूद कलियुग का आना रुक नहीं पाता। महाभारत के युद्ध के कुछ ही सालों में श्रीकृष्ण और उनके वंशज यादवों का अन्त हो जाता है। यही समय कलियुग के आरम्भ होने का माना जाता है। श्रीकृष्ण के अवसान की बात सुन पांडव, द्रौपदी सहित अपने जीवन का अन्त करने के लिए हिमालय पर चले जाते हैं। उनका पोता परीक्षित महाभारत युद्ध में हुए सर्वनाश से किसी तरह बच गया था। वह भी कुछ ही सालों में सर्पविष से मारा जाता है। परीक्षित कलियुग का पहला राजा कहा गया है।

पौराणिक गणना के अनुसार श्रीकृष्ण के अवसान के साथ द्वापर का अन्त होकर कलियुग आरम्भ होता है । द्वापर की अवधि कृत युग की अवधि से आधी ही है। कहा जाता है कि महाभारत का युद्ध द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ से ३६ साल पहले हुआ। आज की विश्वसनीय मानी जाने वाली गणनाओं से वर्तमान समय कलि का ५०९२ वां साल बैठता है। यह कलियुग की शुरुआत ही है। बाकी तीन युगों की तरह कलियुग की अवधि भी बहुत लम्बी है, चाहे यह कृत की अवधि का एक चौथाई ही है। कलियुग को कुल ४,३२,००० साल तक चलना है , ऐसा कहा गया है।

कलियुग का मुख्य लक्षण यह है कि इसमें धर्म एक पांव पर टिका रहता है। धर्म की स्थिति द्वापर में ही डांवाडोल-सी रहती है। अब धर्म का सन्तुलन नितान्त अस्थिर हो जाता है। कलियुग में सृष्टि कृत के सहज भेदभाव विहीन आनन्दमय काल से बहुत दूर निकल जटिलता, विभिन्नता और विभाजन के चरम की ओर अग्रसर होती है। जीवन यापन इस युग में एक कठिन कला-सा बन जाता है। उसमें पहले युगों वाली कोई सहजता नहीं रहती। पर इस कठिन युग में जीव मात्र के लिए धर्म का मार्ग कुछ आसान कर दिया जाता है। जो पुण्य दूसरे युगों में अनेक तप करने पर मिलता है, वैसा पुण्य कलियुग में साधारण अच्छे कामों से ही प्राप्त हो जाता है। यह कलियुग की जटिलता में फंसे जीव पर कर्ता की कृपा का परिचायक है। इस प्रावधान से कर्ता की दृष्टि में और कर्ता के साथ सम्बन्धों के सन्दर्भ में जीव के लिए चारों युगों में कुछ सन्तुलन-सा दिया गया है।

यह संक्षेप में भारतीय सृष्टि की कथा है। साधारण भारतीय जन की, और उसमें उसके अपने स्थान की समझ इस कथा से ही बनी है। वर्तमान काल को भी वह इस कथा में सन्दर्भ में ही देखता है। अलग अलग पुराणों में, और सामान्य स्तर पर कहने के अलग अलग तरीकों के साथ, इस कथा के विस्तृत विवरणों में थोडा-बहुत अन्तर आता रहता होगा। पर मुख्य कथ्य तो बहुत स्पष्ट है और उसमें शायद कभी कोई बदलाव नहीं आता। इस कथ्य के अनुसार सृष्टि एक बार प्रकट होने के बाद सतत गिरावट की ही ओर जाती है। विभिन्न विद्याएं, और विधाएं, विभिन्न कलाएं और शिल्प इत्यादि, विभिन्न ज्ञानविज्ञान, ये सब, सृष्टि की गिरी हुई जटिल अवस्था में जीवन को थोडा आसान जरूर बनाते हैं, पर वे सृष्टि की दिशा को बदल नहीं सकते। गिरावट की ओर, विभाजन की ओर चलते जाने की मूल वृत्ति को तो कर्ता के अंशावतार भी नहीं बदल पाते। वे भी सृष्टि की गिरावट की अवस्था में जीवन को सम्भव बनाने, धर्म का कुछ सन्तुलन बनाए रखने की व्यवस्था मात्र करते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण के सारे पराक्रम और महाभारत युद्ध जैसे व्यापक प्रयत्न के बाद भी कलियुग का आना रुक नहीं पाता। हां, द्वापर में इकट्ठे हुए सारे बोझ को हटाए बिना कलियुग का आना पृथ्वी के लिए और शायद जीव मात्र के लिए असहनीय ही होता।

सृष्टि की इस कथा का दूसरा मुख्य कथ्य सृष्टि के अनादि-अनन्त विस्तार में मानव के प्रयत्न और उसके काल की क्षुद्रता का है। सृष्टि की लीला एक बहुत बडे स्तर पर एक विशाल काल चक्र में चल रही है। इस विशालता में न कृतयुग के आनन्दभोगी मानव की कोई विशेषता है, न कलियुग की जटिलता में फंसे मानव की। यह सब तो आता जाता ही रहता है। चतुर्युग का यह आवर्तन हमारे लिए बडा दिखता है। पूरे ४३,२०,००० साल इसे पूरा होने में लगते हैं। पर प्राचीन मान्यता के अनुसार ब्रह्मा के तो एक दिन में ऐसे १००० चतुर्युग होते हैं। एक कल्प के इस एक दिन के बाद ब्रह्मा कल्प भर की रात्रि के लिए विश्राम करते हैं, और फिर एक नया कल्प और १,००० चुतुर्युगों का एक नया दिन आरम्भ हो जाता है। ऐसे ३६० दिन-रात मिलकर ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। और ब्रह्मा का जीवन १०० वर्षों तक चलता है। उसके बाद नए ब्रह्मा आकर फिर वही लीला आरम्भ करते हैं। इस विशाल कालचक्र में मानव और उसके जीवन की बिसात क्या है ?

५. हम किसी और के संसार में रहने लगे हैं

सृष्टि के अनादि अनन्त प्रवाह में मानव और उसके प्रयत्नों की नितान्त क्षुद्रता का भारतीय भाव आधुनिकता से मेल नहीं खाता। हर नए आवर्तन में सृष्टि के सतत गिरावट की ओर ही बढते जाने की बात भी आधुनिकता की विश्वदृष्टि में जमती नहीं। मानवीय ज्ञानविज्ञान और कलाकौशल आदि का मात्र ऐसे उपायों के रूप में देखा जाना जो सृष्टि की गिरावट वाली अवस्था में जीवनयापन को किंचित सम्भव बनाते हैं, यह भाव तो ज्ञानविज्ञान के बारे में आधुनिकता की समझ के बिलकुल विपरीत बैठता है। आधुनिकता की विश्व दृष्टि के अनुसार तो मानव अपने प्रयत्नों से, अपने ज्ञानविज्ञान से, अपने कलाकौशल व तकनीकों इत्यादि से सृष्टि को निरन्तर बेहतर बनाता चला जाता है, ऊपर उठता चला जाता है, पृथ्वी पर स्वर्ग की प्रतिछवि का निर्माण करता जाता है।

भारतीय मानस में सृष्टि के विकास के क्रम और उसमें मानवीय प्रयत्न और मानवीय ज्ञानविज्ञान के स्थान की जो छवि अंकित है, वह आधुनिकता से इस प्रकार विपरीत है तो इस विषय पर गहन चिन्तन करना पडेगा। यहां जो तंत्र हम बनाना चाहते हैं और जिस विकास प्रक्रिया को यहां आरम्भ करना चाहते हैं वह तो तभी यहां जड पकड पाएगी और उसमें जनसाधारण की भागीदारी तो तभी हो पाएगी जब वह तंत्र और विकास प्रक्रिया भारतीय मानस और काल दृष्टि के अनुकूल होगी। इसलिए इस बात पर भी विचार करना पडेगा कि व्यवहार में भारतीय मानस पर छाए विचारों और काल की भारतीय समझ के क्या अर्थ निकलते हैं? किस प्रकार के व्यवहार और व्यवस्थाएं उस मानस व काल में सही जंचते हैं? सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि मानवीय जीवन और मानवीय ज्ञान की क्षुद्रता का जो भाव भारतीय सृष्टिगाथा में स्पष्ट झलकता है, वह केवल अकर्मण्यता को ही जन्म दे सकता है। पर यह तो बहुत सतही बात है। किसी भी विश्व व काल दृष्टि का व्यावहारिक पक्ष तो समय सापेक्ष होता है। अलग अलग सन्दर्भों में अलग अलग समय पर उस दृष्टि की अलग अलग व्याख्याएं होती जाती हैं। इन व्याख्याओं से मूल चेतना नहीं बदलती पर व्यवहार और व्यवस्थाएं बदलती रहती हैं।

और एक ही सभ्यता कभी अकर्मण्यता की ओर और कभी गहन कर्मठता की ओर अग्रसर दिखाई देती है।

भारतीय ऋषिमुनि इत्यादि विभिन्न सन्दर्भों में भारतीय विश्व व काल दृष्टि की विभिन्न व्याख्याएं करते ही रहे हैं। भारतीय सभ्यता का मौलिक साहित्य इन व्याख्याओं का भी साहित्य है। इस साहित्य को देख-समझ कर आज के सन्दर्भ में भारतीयता की कोई नई व्याख्या करने की बात भी सोची जा सकती है। भारतीय विश्व व काल दृष्टि के अनुरूप उपयुक्त व्यवहार आज के समय में क्या होगा और उसके लिए उपयुक्त व्यवस्थाएं क्या होंगी, इस विषय पर विचार तो करना ही पडेगा। पर इस विषय पर आने से पहले भारतीय चित्त पर गहराई से अंकित कुछेक और मौलिक भावों की बात कर ली जाए।

ऐसा ही एक मौलिक भाव परा और अपरा विद्याओं में भेद का है। भारतीय परम्परा में किसी समय विद्या और ज्ञान का इन दो धाराओं में विभाजन हुआ है। जो विद्या इस नश्वर, सतत परिवर्तनशील, लीलामयी सृष्टि से परे के सनातन ब्रह्म की बात करती है, उस ब्रह्म से साक्षात्कार का मार्ग दिखाती है, वह परा विद्या है। इसके विपरीत जो विद्याएं इस सृष्टि के भीतर रहते हुए दैनन्दिन समस्याओं के समाधान का मार्ग बतलाती हैं, साधारण जीवन-यापन को सम्भव बनाती हैं, वे अपरा विद्याएं हैं और ऐसा माना जाता है कि परा विद्या अपरा विद्याओं से ऊंची है।

परा और अपरा का यह विभाजन कब हुआ यह तो साफ नहीं है। कृत युग की बात यह नहीं हो सकती। उस समय तो किसी विद्या की आवश्यकता ही नहीं है। वेद ही नहीं है। त्रेता की भी बात शायद यह न हो। क्योंकि त्रेता में एक ही वेद है और उसका कोई विभाजन नहीं हुआ है। त्रेता के अन्त और द्वापर के आरम्भ में जब सृष्टि की बढती जटिलता के साथ साथ अनेकानेक कलाकौशलों और विद्या-विधाओं की आवश्यकता पडने लगी, उस समय शायद परा-अपरा के इस विभाजन की बात उठी होगी। पर साधारण तौर पर ऐसा माना जाता है कि चारों वेद, उनकी विभिन्न शाखाओं और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण, उपनिषद आदि परा ज्ञान के स्रोत हैं। इनसे भिन्न जो पुराण, इतिहास आदि हैं, और विभिन्न शिल्पों व आयुर्वेद, ज्योतिष आदि से सम्बन्धित जो संहिताएं हैं, वे सब अपरा के भंडार हैं।

वास्तव में मूल ग्रन्थो के स्तर पर परा और अपरा का विभाजन इतना स्पष्ट नहीं है जितना माना जाता है। उपनिषदों में तो केवल परा ज्ञान की ही बात है, पर वेदों में अन्य स्थानों पर ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो सीधे अपरा से ही सम्बन्धित हैं। ऐसे ही पुराणों

में ब्रह्म ज्ञान की बातें कम नहीं हैं। फिर व्याकरण जैसी विद्याएं तो परा और अपरा दोनों से ही सम्बन्ध रखती हैं। दोनों प्रकार के ज्ञान के सम्प्रेषण के लिए व्याकरण की आवश्यकता रहती है। ज्योतिषशास्त्र भी कुछ सीमा तक परा-अपरा दोनों से सम्बन्धित होगा। पर आयुर्वेद जैसे केवल अपरा से सम्बन्धित विषय की संहिताओं में भी परा की बात तो होती ही है और साधारण स्वास्थ्य की समस्याओं को परा के सन्दर्भ में देखने के प्रयास होते हैं।

इस सबके बावजूद सामान्य भारतीय चित्त में परा और अपरा के बीच की विभाजन रेखा बहुत गहरी दिखती है। साधारण बातचीत में पुराणों का प्रसंग आने पर लोग प्राय: कह देते हैं कि इन किस्से-कहानियों को तो हम नहीं मानते, हम तो केवल वेदों में विश्वास रखते हैं। अपरा विद्याएं सब निकृष्ट ही हैं और वास्तविक ज्ञान तो परा ज्ञान ही है ऐसा कुछ भाव भी भारतीय चित्त में बना रहता है। विद्वानों के स्तर पर भी इस प्रकार से बात चलती है जैसे भारतीयता का सम्बन्ध तो केवल परा से ही हो, अपरा से उसका कुछ लेना देना ही न हो।

अपरा के प्रति हेयता का भाव शायद भारतीय चित्त का मौलिक भाव नहीं है। मूल बात शायद अपरा की हीनता की नहीं थी। कहा शायद यह गया था कि अपरा में रमते हुए यह भूल नहीं जाना चाहिए कि इस नश्वर सृष्टि से परे सनातन सत्य भी कुछ है। इस सृष्टि में दैनिक जीवन के विभिन्न कार्य करते हुए परा के बारे में चेतन रहना चाहिए। अपरा का सर्वदा परा के आलोक में नियमन करते रहना चाहिए। अपरा विद्या की विभिन्न मूल संहिताओं में कुछ ऐसा ही भाव छाया मिलता है। पर समय पाकर परा से अपरा के नियमन की यह बात अपरा की हेयता में बदल गई है। यह बदलाव कैसे हुआ इस पर तो विचार करना पडेगा। और भारतीय मानस व काल के अनुरूप परा और अपरा में सही सम्बन्ध क्या बैठता है इसकी भी कुछ व्याख्या हमें करनी ही पडेगी।

इस समय साधारण भारतीय चिन्तन में परा और अपरा के बीच कुछ असन्तुलन सा है। यह असन्तुलन शायद बहुत नया नहीं है। विद्वत्ता के संसार में यह असन्तुलन, हो सकता है, काफी पहले से चल रहा हो। विद्वत्ता की शायद यह सामान्य प्रवृत्ति ही है कि साधारण जीवन से परे की अमूर्त व गूढ बातें उसमें अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। विद्वत्ता की यह प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता के मौलिक साहित्य में भी परिलक्षित होती गई होगी। या शायद अपने यहां ऐसा माना गया हो कि साधारण जीवन को चलाने के लिए जो आवश्यक कला-कौशल-तकनीकें आदि होती हैं वे साहित्य की विषयवस्तु नहीं बन सकतीं या शायद हमने ही अपरा वाले ग्रन्थों को खोजने-देखने की विशेष चेष्टा नहीं की।

हमारा ही ध्यान भारतीय साहित्य के परा वाले अंश पर टिका रहा है।

कारण जो भी हो, उपलब्ध साहित्य और साधारण चिन्तन में यह असन्तुलन तो है ही। वही असन्तुलन अन्य अनेक विषयों पर अपने विचारों में आ गया है। जैसे वर्ण-व्यवस्था की बात है। वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या में कुछ ऐसा मान लिया गया है कि जो वर्ण परा से सम्बन्धित हैं वे ऊंचे हैं और जो अपरा से जुडे हैं वे नीचे हैं। परा के जो जितना नजदीक है उतना वह ऊंचा है, और जो अपरा से जितनी गहराई से जुडा है, उतना वह नीचा है, इसलिए वेदाध्ययन, वेदपाठ आदि करने वाले ब्राह्मण सबसे ऊंचे हो गए, और सामान्य जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न विद्याओं, कलाओं और शिल्पों का वहन करने वाले शूद्र सबसे नीचे।

पर यह ऊंच-नीच वाली बात तो बहुत मौलिक नहीं दिखती। पुराणों में इस बारे में चर्चा है। एक जगह ऋषि भारद्वाज कहते हैं कि यह ऊंच-नीच वाली बात कहां से आ गई ? मनुष्य तो सब एक से ही लगते हैं, वे अलग-अलग कैसे हो गए ? महात्मा गांधी भी यही कहा करते थे कि वर्णों में किसी को ऊंचा और किसी को नीचा मानना तो सही नहीं दिखता। १९२० के आसपास उन्होंने इस विषय पर बहुत लिखा और कहा। पर इस विषय में हमारे विचारों का असन्तुलन जा नहीं पाया। पिछले हजार दो हजार वर्षों में भी इस प्रश्न पर बहस रही होगी। लेकिन स्वस्थ वास्तविक जीवन में तो ऐसा असन्तुलन चल नहीं पाता। मौलिक साहित्य के स्तर पर भी इतना असन्तुलन शायद कभी न रहा हो। यह समस्या तो मुख्यत: समय समय पर होने वाली व्याख्याओं की ही दिखती है।

पुरुष सूक्त में यह अवश्य कहा गया है कि ब्रह्मा के पांवो से शूद्र उत्पन्न हुए, उसकी जंघाओं से वैश्य आए, भुजाओं से क्षत्रिय आए और सिर से ब्राह्मण आए। इस सूक्त में ब्रह्मा और सृष्टि में एकरूपता की बात तो है। थोडे में बात कहनेका जो वैदिक ढंग है उससे यहां बता दिया गया है कि यह सृष्टि ब्रह्म की ही व्यास है, उसी की लीला है। सृष्टि में अनिवार्य विभिन्न कार्यों की बात भी इसमें आ गई है। पर इस सूक्त में यह तो कहीं नहीं आया की शूद्र नीचे हैं और ब्राह्मण ऊंचे हैं। सिर का काम पांवो के काम से ऊंचा होता है, यह तो बाद की व्याख्या लगती है। यह व्याख्या तो उलट भी सकती है। पांवो पर ही तो पुरुष धरती पर खडा होता है। पांव टिकते हैं तो ऊपर धड भी आता है, हाथ भी आते हैं। पांव ही नहीं टिकेंगे तो और भी कुछ नहीं आएगा। पुरुष सूक्त में यह भी नहीं है कि ये चारों वर्ण एक ही समय पर बने। पुराणों की व्याख्या से तो ऐसा लगता है कि आरम्भ में सब एक ही वर्ण थे, बाद में काल के अनुसार जैसे जैसे विभिन्न प्रकार की क्षमताओं की आवश्यकता होती गई, वैसे वैसे वर्ण विभाजित होते गए।

जैसे परा अपरा की बात के साथ जोड कर, पुराणकारों के समय से ही हमने वर्णों में ऊंच-नीच का विचार बना लिया है, वैसे ही कर्मों में भी ऊंच-नीच की बात आ गई है। एक स्तर पर कर्म फल का विचार भारतीय मानस में बहुत गहरे अंकित है। जैसे हम यह मानते हैं कि सृष्टि में जो भी उत्पन्न होता है उसका नाश अवश्य होता है, वैसे ही यह माना जाता है कि सृष्टि में होने वाली हर घटना का कोई कारण अवश्य है। कामों और उनके फलों की एक शृंखला-सी बनती जाती है और उस शृंखला के भीतर सब घटनाएं घटती हैं।

कर्म और कर्मफल के इस मौलिक सिद्धांत का इस विचार से तो कोई सम्बन्ध नहीं की कुछ कर्म अपने आप में निकृष्ट होते हैं और कुछ प्रकार के काम उत्तम। वेदों का उच्चारण करना ऊंचा काम होता है और कपडा बुनना नीचा काम, यह बात तो परा-अपरा वाले असन्तुलन से ही निकल आई है। और इस बात की अपने यहां इतनी यांत्रिक सी व्याख्या होने लगी है कि बडे बडे विद्वान भी दरिद्रता, भूखमरी आदि जैसी सामाजिक अव्यवस्थाओं को कर्मफल के नाम पर डाल देते हैं। श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जैसे जोषीमठ के ऊंचे शंकराचार्य तक कह दिया करते थे कि दरिद्रता तो कर्मों की बात है। करुणा, दया, न्याय, आदि जैसे भावों को भूल जाना तो कर्मफल के सिद्धांत का उद्देश्य नहीं हो सकता। यह तो सही व्याख्या नहीं दिखती।

कर्मफल के सिद्धांत का अर्थ तो शायद कुछ और ही है। क्योंकि कर्म तो सब बराबर ही होते हैं। लेकिन जिस भाव से, जिस तन्मयता से कोई कर्म किया जाता है वही उसे ऊंचा और नीचा बनाता है। वेदों का उच्चारण यदि मन लगाकर ध्यान से किया जाता है तो वह ऊंचा कर्म है। उसी तरह मन लगाकर ध्यान से खाना पकाया जाता है तो वह भी ऊंचा कर्म है। और भारत में तो ब्राह्मण लोग खाना बनाया ही करते थे। अब भी बनाते हैं। उनके वेदोच्चारण करने के कर्म में और खाना बनाने में बहुत अन्तर नहीं है। पर वेदोच्चारण ऐसे किया जाए जैसे बेगार काटनी हो, या खाना ऐसे बनाया गए जैसे सिर पर पडा कोई भार किसी तरह हटाना हो तो दोनों ही कर्म गडबड हो जाएंगे।

इसी तरह दूसरे काम हैं। झाडू देने का काम है। बच्चे पालने का काम है। धोबी का काम है। नाई का काम है। बुनकर का काम है। कुम्हार का काम है। पशुपालन का काम है। जूते बनाने का काम है। ये सभी काम यदि उसी तरह ध्यान से, तन्मयता के साथ किए जाते हैं तो ऊंचे कर्म बन जाते हैं। उन कामों में ऐसा कुछ नहीं है जो उन्हें स्वभाव से ही निकृष्ट बनाता हो।

इस सन्दर्भ में एक पौराणिक कथा है। एक ऋषि थे। वे पता नहीं कितने वर्षों से एक ही स्थान पर समाधि लगाए तपस्या कर रहे थे। एक दिन अचानक उनकी समाधि टूटी। उन्होंने पाया कि कोई चिडिया उनके सिर पर बीट कर गई है। तब उन्होंने आंखें खोलकर रोष के साथ चिडिया की ओर देखा। चिडिया वहीं भस्म हो गई। ऋषि को लगा कि उनकी तपस्या पूरी हो गई है।

उसके बाद वे समाधि से उठे और बस्ती की ओर चल दिए। एक घर का दरवाजा खटखटाया और भिक्षा की गुहार लगाई। गृहिणी शायद अपने काम में व्यस्त थी। उसे दरवाजा खोलनें में कुछ देरी हो गई। इतने में ही ऋषि को रोष होने लगा। जब गृहिणी ने दरवाजा खोला तो वे फिर गुस्से भरी आंखो से उसकी ओर देखने लगे। गृहिणी ने कहा, 'महाराज, अकारण रुष्ट मत होइए। मैं वह चिडिया तो नहीं हूं।'

ऋषि को विचित्र लगा कि इतनी तपस्या के बाद जो सिद्धि उन्हें मिली थी उसका इस साधारण गृहिणी पर तनिक प्रभाव नहीं होता। उलटा वह स्वयं ही उनकी सिद्धि के रहस्यों को घर बैठे जान गई है। वे जानना चाहते हैं कि यह सब क्या है? गृहिणी उन्हें एक कसाई का नाम बताती है और कहती है कि इस विषय का भेद तो उन्हें वह कसाई ही बता सकता है।

ऋषि और भी आश्चर्यचकित हो उस कसाई के पास पहुंचते हैं। कसाई उन्हें बताता है कि वह गृहिणी तो पूरी तन्मयता से अपने कर्म में लगी थी। उसके गृहकार्य की महिमा आपकी तपस्या से कम तो नहीं। और आपकी तपस्या तो तभी नष्ट हो गई थी जब उस चिडिया पर रुष्ट हुए थे। मैं भी कसाई का अपना काम पूरी तन्मयता से करता हूं। तन्मयता के उस भाव से किए सब कर्म महान हैं। वह वेदपाठ हो, ध्यानसाधना हो, गृहकार्य हो, या फिर कसाई गिरी।

यह पौराणिक कथा कर्मफल के सिद्धांत की एक व्याख्या प्रस्तुत करती है। ऐसी ही अनेक और व्याख्याएं होंगी। परा-अपरा और वर्णव्यवस्था पर भी ऐसी अनेक व्याख्याएं होंगी। उन व्याख्याओं को देख-परख कर आज के सन्दर्भ में भारतीय मानस व काल की एक नई व्याख्या कर लेना ही विद्वत्ता का उद्देश्य हो सकता है। परम्परा का इस प्रकार नवीनीकरण करते रहना, मानस को समयानुरूप व्यवहार का मार्ग दिखाते रहना ही हमेशा से ऋषियों, मुनियों और विद्वानों का काम रहा है।

६. सभ्यताओं का नवीनीकरण तो करना ही होता है

एक और पौराणिक प्रसंग है। विष्णुपुराण से। कहते हैं कि एक बार महर्षि व्यास नदी में नहा रहे थे। उस समय कुछ ऋषि उन्हें मिलने आते हैं, और दूर से वे देखते हैं कि नहाते हुए महर्षि व्यास जोर जोर से ताली बजा बजाकर कलियुग की, शूद्रों की और स्त्रियों की जय बुला रहे हैं। कह रहे हैं, 'कलियुग महान है', 'शूद्र महान हैं', 'स्त्रियां महान हैं'।

बाद में ऋषि लोग महर्षि व्यास से पूछते हैं कि नहाते हुए वे यह सब क्या कह रहे थे। व्यासजी उन्हें समझाते हैं कि कृत, त्रेता और द्वापर में जो काम बहुत कठिनाई से हो पाते थे, वे कलियुग में तो क्षणभर में ही हो जाते हैं। थोडी सी भक्ति से ही ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाते हैं। और इस कलियुग में स्त्रियां और शूद्र अपना काम तन्मयता से करके ही ब्रह्म को पा जाते हैं।

महर्षि व्यास की बहुत महत्ता है। कहा जाता है कि द्वापर में उन्होंने वेद को चार में, और फिर उन चार को अनेक शाखाओंमे विभाजित किया। उसके बाद उन्होंने विशेष तौर से शूद्रों व स्त्रियों के लिए महाभारत की रचना की और स्वयं गणेशजीने व्यासजी की रचना को लिपिबद्ध किया। पर महाभारत को रचने के बाद विश्व की अवस्था पर विचार करते हुए महर्षि व्यास दुःखी हो गए। उन्हें लगा कि शूद्र और स्त्रियां वेदों से तो वंचित कर दिए गए हैं, और उनके लिए जिस महाभारत की रचना उन्होंने की है वह बहुत दुःख व क्षोभ वाली गाथा है। उसे पढकर मन प्रसन्न नहीं होता। उत्साह नहीं आता। तब उन्होंने अपनी गलती को सुधारने के लिए पुराणों की रचना की और, उनके माध्यम से सृष्टि और उसके कर्ता के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव को सभी के लिए सुलभ बनाने का प्रयास किया। इन पुराणों में से श्रीमद् भागवत पुराण सबसे अधिक भक्ति व श्रद्धा में पटा दिखता है। नारद मुनि के परामर्श पर रचे गए व्यासजी के इस पुराण में वासुदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। शायद भारत भर में श्रीमद् भागवत पुराण साधारणजनों के भारतीय साहित्य से परिचय का मुख्य स्रोत है।

महर्षि व्यास की यह सहृदयता, प्राणी मात्र के लिए दया व करुणा का यह भाव, जिसे मन में रखकर उन्होंने पुराणों की रचना की, वही भाव विष्णु पुराण वाले ऊपर के प्रसंग में झलकता है। कलियुग की, शूद्रों की और स्त्रियों की जय बुलाते हुए महर्षि व्यास कलियुगी काल की एक व्याख्या कर रहे हैं। और उस व्याख्या के माध्यम से धर्म की ग्लानि के इस काल को साधारणजन के लिए कुछ सहज, कुछ सहनीय बनाए दे रहे हैं।

हो सकता है कि कलियुगी काल की व्यासजी की व्याख्या ही सही हो। हो सकता है कि जैसे कृतयुग में केवल एक ही वर्ण है वैसे ही कलियुग में भी केवल एक शूद्र वर्ण ही बचा रहता हो। सभी शूद्रों जैसे ही हो जाते हों। अपरा विद्या और व्यावहारिक ज्ञान की पराकाष्ठा के इस युग में अपरा और व्यवहार के वाहक शूद्र और स्त्रियां ही महत्त्वपूर्ण रह जाते हों। गांधीजी भी कुछ ऐसी ही बात किया करते थे कि इस काल में तो हम सबका शूद्रों जैसा होना ही सही है।

पर बात शायद व्याख्या के सही या गलत होने की नहीं। क्योंकि व्याख्याएं तो समय व सन्दर्भ सापेक्ष हुआ करती हैं। महत्त्वपूर्ण बात व्याख्याकार की सहृदयता की है। प्राणीमात्र के लिए मन में करुणा, दया व सम्मान का भाव रखने की है। उस तरह के भाव को रखकर ही हम अपने मानस, चित्त व काल की ऐसी व्याख्याएं कर पाएंगे जिनसे आज के सन्दर्भ में भारतीयता की धारा फिर स्थापित, फिर प्रवाहित हो सके। अपनी दरिद्रता तो अपने कर्मो का ही फल है इस तरह की कठोर व्याख्याओं से तो कोई काम नहीं चल पाएगा।

प्राणीमात्र के प्रति सहृदयता के साथ साथ अपने चित्त व मानस की सक्षमता, अपनी परम्परा की सशक्तता में विश्वास भी रखना पडेगा। हममें ऐसे बहुत हैं जो मानते हैं कि कभी भारतीय सभ्यता बहुत महान रही थी। पर अब तो उसके दिन नहीं रहे। चित्त व काल की बात करने का तो अब समय नहीं रहा । कांची कामकोटि पीठम् के श्री जयेन्द्र सरस्वती ही कहते रहते हैं कि पहले तो हम महान थे पर आज की बात मैं नहीं करता। लेकिन समस्या तो आज की है। आज के सन्दर्भ में भारतीय मानस व काल को प्रतिष्ठापित करना ही विद्वत्ता का, या भारतीय राजनीति का, या भारतीय कला-कौशल का कार्य है।

ऐसा हो सकता है कि आज भारत के सभी वासी भारतीय चित्त, मानस व काल की परम्परागत समझ में विश्वास न रखते हों। ऐसे भी भारतवासी होंगे जो कलि जैसे किसी युग के होने की बात ही नहीं मानते। ऐसे भी होंगे, विशेष कर भारतीय मुसलमानों, ईसाईयों और पारसियों में अनेक ऐसे होंगे जो चतुर्युग व कल्प आदि को भी नहीं मानते।

पेरियार रामस्वामी नायकर और उनके अनुगामी लोग भी शायद चतुर्युग आदि को न मानते हों। भारत के भिन्न भिन्न भागों में और भी ऐसे जन होंगे जो इऩ मान्यताओं में विश्वास नहीं रखते। पर जो लोग पुराणों आदि को न मानने का दावा करते हैं उनमें से बहुतेरे प्राय: अपने अपने जाति पुराणों में तो विश्वास रखते ही हैं। और इन असंख्य जाति पुराणों की संरचना महर्षि व्यास रचित पुराणों जैसी ही है।

खैर, इतना तो सभी भारतीयों के बारे में कहा जाता है, साधारण भारतीय ईसाईयों के बारे में भी, कि उनका अपना चित्त व काल आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के चित्त व काल से मेल नहीं खाता। बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में तो वे भी नहीं हैं। ऐसा माना जा सकता है कि भारत के अधिक से अधिक आधा प्रतिशत लोगों को छोडकर बाकी का आधुनिकता की बीसवीं-इक्कीसवीं सदी से कुछ लेना देना नहीं है। उन ९९.५ प्रतिशत भारतीयों के चित्त व मानस में जो कुछ भी अंकित है उसका सम्बन्ध यूरोपीय आधुनिकता और उनकी बीसवीं सदी-इक्कसवीं सदी से तो नहीं ही है।

लेकिन इस आधुनिकता के प्रवाह में भारत के साधारणजन और उनकी बची-खुची व्यवस्थाएं, उनके तीजत्यौहार, उनके जीवन मरण के कर्म आदि सब दब गए हैं। उनकी अपनी पहचान खो-सी गई है और अपनी अस्मिता की इस हानि से भारत के सभी साधारणजन पीडित हैं। यह पीडा सभी की सांझी है। भारत के साधारण मुसलमानों, ईसाइयों आदि की भी।

अब इस स्थिति से उबरने के रास्ते तो निकालने ही पडेगें। ४-६ वर्ष पहले इन्दिरा गांधी निधि की ओर से भारत के ऐसे ही प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक आंतरराष्ट्रीय गोष्ठी हुई थी। कहा जाता है उस गोष्ठी में किसी यूरोपीय विद्वान का सुझाव था की भारत की समस्याओं का समाधान भारत के ईसाई हो जाने में है। यह सुझाव नया नहीं है। भारत को ईसाई हो जाना चाहिए यह बात पिछले दो-सौ बरस से तो चली आ रही है। इसके लिए बडे पैमाने पर सरकारी प्रयत्न भी होते रहे हैं। इसी ईसाईकरण का दूसरा नाम पश्चिमीकरण है, जिसे करने के प्रयत्न स्वतंत्र भारत की सरकारें भी करती चली आ रही हैं। भारत का ईसाईकरण मैकाले रास्ते से हो, कार्ल-मार्क्स के रास्ते से हो, या आज की वैज्ञानिक आधुनिकता के रास्ते से-बात एक ही है।

इन सब प्रयत्नों से भारतीय मानस का ऐसा पश्चिमीकरण हो पाता जिससे भारत के साधारणजन सहजता से यूरोप की २१ वीं सदी से जुड सकते, यह भारत की समस्याओं का एक समाधान तो होता। तब भारत के लोगों की मानसिक अवस्था और उनकी प्राथमिकताएं व आकांक्षाएं भी वैसी ही होतीं जैसी आज यूरोप व अमेरिका के

साधारण लोगों की हैं। ऐसा कुछ हो गया होता तो भारत का साधारणजन भी अपने मानस में ब्रह्म का अंश होने और उस अंशत्व के नाते स्वयं में स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान होने का जो भाव पाले रखता है, वह भाव अपने आप नष्ट हो जाता। भारत के लोग भी पश्चिम के लोगों की तरह अपने आपको एक सर्वशक्तिमान व्यवस्था के दास जैसा मानने लगते। पश्चिम की पिछले चालीस-पचास बरस की सम्पन्नता और खुशहाली के बावजूद वहां के साधारणजन का मानस तो व्यवस्था के दास वाला ही है, मानस के स्तर पर वह अब भी प्लेटो के आदर्श राज्य और वास्तविक रोम साम्रज्य के गुलामों जैसा ही है। वैसा ही दासता वाला चित्त भारतीय साधारणजन का भी बन जाता, यदि ईसाईकरण व पश्चिमीकरण के पिछले दो-सौ बरस के प्रयास कहीं पहुंच पाते। फिर भी भारत की दुविधा का एक समाधान तो शायद वह होता।

लेकिन ऐसे समाधान शायद सम्भव नहीं हुआ करते। किसी सभ्यता के मानस व चित्त को पूरी तरह मिटाकर वहां एक नए मानस का प्रतिष्ठापन करना शायद संसार में सम्भव ही नहीं है। उसके लिए तो किसी सभ्यता का पूरा विनाश ही करना पडता है, उसके सभी लोगों को समाप्त करके उनकी जगह एक नई प्रजा को बसाना पडता है। अमेरिका में कुछ वैसा ही हुआ। पर यूरोप के सभी प्रयत्नों के बावजूद भारत पश्चिम के हाथों ऐसी परिणति पर पहुंचने से तो अभी तक बचा है।

भारतीय सभ्यता का पश्चिमीकरण संभव नहीं तो फिर हमें अपने चित्त व काल के धरातल पर ही खडा होना पडेगा। आधुनकिता के तौर-तरीकों और मुहावरों से छुटकारा पाकर स्वयं अपने को अपने ढंग से समझना पडेगा। कुछ उसी तरह जैसे महर्षि व्यास महाभारत में अपने पूरे इतिहास को, अपनी सभी इच्छाओं-आकांक्षाओं को समझ रहे हैं, और फिर कलियुग में जीने का एक मार्ग दिखा रहे हैं। या जैसे श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वदर्शन करवा रहे हैं और उस विश्वदर्शन के आधार पर अर्जुन को अपनी दुविधा से निकलने का रास्ता बता रहे हैं। ऐसा ही कुछ विश्वदर्शन हमें अपनी दृष्टि से अपने काल का करना होगा।

लेकिन यह काम यहीं की परम्परा से जुडे और उसे सम्मान से देखने वाले लोग ही कर सकते हैं। इस विश्वदर्शन में सहृदयता का भाव बनाए रखना है तो यह भी आवश्यक होगा कि इस नए चिन्तन-दर्शन में साधारण लोगों की मान्यताओं व आचार-व्यवहार को पुस्तकों व ग्रन्थों में दर्ज मान्यताओं पर वरीयता मिले। ग्रन्थों के साथ बंधना भारतीय परंपरा का अंग नहीं है। भारतीय ऋषियों ने कभी अपने को किसी ग्रंथ में दर्ज विचारों से बंधा हुआ नहीं माना। यह सही है कि वे प्राचीन ग्रन्थो की बातों को नकारते

भी नहीं हैं। पर उन बातों की नित नई व्याख्या करते रहने का अधिकार तो वे रखते ही हैं। तभी तो व्यास ताली बजा बजाकर कलियुग की और कलियुग में स्त्रियों व शूद्रों की जय बुला पाते हैं।

सभ्यताओं की दिशा का निर्धारण तो सभ्यताओं के सहज मानस, चित्त व काल पर विचार करके ही होता है। लेकिन निर्धारित दिशा में सभ्यता को चलाने का काम गृहस्थों का होता है। गृहस्थों में सभी आ जाते हैं। जो पांडित्य में ऊंचे हैं, या पाकशास्त्र में निपुण हैं, या खेती में लगे हैं या विभिन्न शिल्पों में दक्ष हैं, या आज के विज्ञान और आज की तकनीकों में दक्ष हैं, या राज्य व दंड व्यवस्था चलाना जानते हैं, या वाणिज्य में लगे हैं, ये सब गृहस्थ मिलकर ही सभ्यता को चलाते हैं। सभ्यता की दिशा भटक भी जाए तो भी सवेरे से शाम तक, और एक दिन से अगले दिन तक गृहस्थी तो चलानी ही पडती है। गृहस्थी को चलाए रखना गृहस्थ का मुख्य काम है। इसलिए साधारण तौर पर यह सही है कि राजनेताओं, व्यवस्थापकों और विद्वानों इत्यादि का अपनी दिनचर्या चलाए रखने पर ही ध्यान केंद्रित करना जरूरी है।

पर ऐसा भी समय आता है जब सभ्यता की दिशा इतनी भटक जाती है कि रोजमर्रा की दिनचर्या चलाए रखने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। ऐसा ही समय भारत के लिए अब आया दिखता है। ऐसे समय में गृहस्थ को भी अपनी गृहस्थी छोड अपनी सभ्यता के लिए कोई नई दिशा, कोई नया सन्तुलन ढूंढने पर ध्यान देना पडता है। आज के समय को भारतीय सभ्यता के लिए संकट का काल माना जाना चाहिए। और इस संकट से उबरने के लिए पर्याप्त साधन, समय व शक्ति जुटाने के प्रयास हमें करने चाहिए।

एक बार हम इस काम में लग जाएंगे तो भारतीय सभ्यता के लिए आधुनिक सन्दर्भों में एक नई उपयुक्त दिशा मिल ही जाएगी। ऐसे काम कुछ असम्भव नहीं हुआ करते। समय समय पर विभिन्न सभ्यताओं को अपनी मौलिक मान्यताओं को फिर से समझकर अपने भविष्य की दिशा ढूंढने का काम करना ही पडता है। भारतीय सभ्यता में ही अनेक बार यह हुआ होगा।

कुछ गिने चुने प्रश्न हैं जिनका समाधान हमें शीघ्रता से कर लेना है। अपने इतिहास व अपने साहित्य का एक सिंहावलोकन-सा करके अपने चित व काल की एक प्रारम्भिक समझ बनानी है। सृष्टि के सर्जन और उसके विकास की प्रक्रिया का जो स्वरूप अपने मानस में अंकित है उसका एक चित्र सा बना लेना है। समय के साथ अपने साहित्य में, और शायद अपने मानस में भी, विभन्न विषयों पर जो असन्तुलन-सा

आ गया है, उसका कुछ समाधान कर लेना है। और फिर अपने चित्त व काल की कोई ऐसी व्याख्या बना लेनी है जो साधारण भारतीयजन के मन को जंचती है, और जिसे लेकर आज के विश्व में भारतीयता के फिर प्रतिष्ठापन का कोई मार्ग निकलता हो।

अपने आप में, अपने चित्त व काल में स्थित और अपनी दिशा में अग्रसर भारतीय सभ्यता का आज के विश्व के साथ क्या सम्बन्ध होगा और उस सम्बन्ध को कैसे स्थापित किया जाएगा, उसकी कुछ अल्पकालीन योजना भी हमें बनानी पडेगी। आरम्भ में तो कोई ऐसा मार्ग निकालना ही पडेगा कि विश्व हमारे कामों में आडे नहीं आए, और आज के विश्व के साथ कोई अकारण का झगडा नहीं हो। लंबे समय में तो विश्व के साथ सही सम्बन्धों की ये समस्याएं अपने आप हल हो जाया करती हैं। विश्व हमें अपनी दिशा में चलते हुए और उस प्रयास में सफल होते हुए देखेगा तो शायद उसे भी भारतीयता में अपने लिए और सारी मानवता के लिए महत्त्वपूर्ण कुछ दिखाई देने लगेगा। यह कोई नई बात नहीं है। इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है जब विश्व की अनेक अन्य सभ्यताओं को लगने लगा कि भारत के पास उनकी समस्याओं के समाधान का कोई महती संदेश है। अपने ही समय में, अभी पचास-साठ वर्ष पहले जब महात्मा गांधी इस देश को अपनी ही एक दिशा में ले चले थे, तब विश्व के बहुतेरे लोगों को लगने लगा था कि भारत पूरी मानवता को एक नया मार्ग दिखा देगा। वह स्थिति फिर आ सकती है। और उस स्थिति में, जब विश्व को भारतीयता में महत्त्व का कुछ दिखाई देने लगेगा, तब विश्व के साथ समानता के स्थायी स्वस्थ सम्बन्ध बनाने का उपाय भी निकल आएगा। उस स्थिति में पहुंचने के लिए जो बौद्धिक, मानसिक व भौतिक प्रयास करने आवश्यक हैं, उन्हें कर लेने का समय तो अब आ ही गया है।

विभाग २

भारत का स्वधर्म

१. स्वाधीनता से वंचित होने की चिन्ता

२. यूरोप से टकराव के पूर्व

३. भविष्य और सुपथ की गवेषणा

१. स्वाधीनता से वंचित होने की चिन्ता

भारतीय समाज, भारतीय मानस, भारतीय समाज व्यवस्था को तथा यूरोपीय समाज और वहाँ की व्यवस्था और मानस को, पिछले दो-ढाई सौ वर्षों में हुई इन दोनों की टकराहटों को और उससे भारत पर पड़े विभिन्न प्रभावों को समझने का कुछ प्रयास मैं करता रहा हूँ। मैं स्वाधीनता से वंचित कर दिये जाने के अनुभव से भारतीयों में चले वैचारिक मंथन तथा प्रतिनिधि-रूपों पर और उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों पर कुछ कहूँगा। इन विचारों और निर्णयों की आज के हमारे परिवेश, हमारे देश, हमारे समाज और राज्य की दशा तथा रचना में निर्णायक भूमिका है। हम आज भी उन्हीं के मध्य जी रहे दिखते हैं। इसी के साथ मैं उस तैयारी के बारे में कुछ संकेत दूंगा, जो अपने विश्वविजय के अभियान के लिए ब्रिटेन ने की तथा जो यूरोपीय मानस की पृष्ठभूमि रही। उस तैयारी की अवधि में ब्रिटेन का समाज किन आधारों पर संगठित था, शिक्षा, ज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि में उसकी क्या स्थिति थी, इस पर भी कुछ प्रासंगिक चर्चा हो जायेगी।

मैं मुख्यत: इस पर विचार व्यक्त करुंगा कि यूरोपीयों से ऐसी टकराहट के पूर्व तथा अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारी समाज-संरचना, शिक्षा-व्यवस्था, विद्या-संस्थाएं, समाज-व्यवस्थाएं, राजतंत्र, धर्मतंत्र एवं हमारे लोक मानस का तंत्र कैसा था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी, श्रम-मूल्य-भुगतान तथा परस्पर मानवीय संबंध पर प्रकाश डालने वाली उस काल से संबंधित सामग्री में से भी कुछ मैं आपके सामने रखूँगा।

लक्ष्य क्या हैं और कौन - से हो सकतै हैं और उनमें कुटिल पथ कौन-सा है और ऋजु पथ कौन-सा है, यह विचार करते रहने की अपनी परंपरा रही है। स्वयं वाणी को भी द्वार एवं पथ कहा गया है, अत: विचार एवं वाणी के स्तर पर हम पथ का अन्वेषण करें और उसी प्रक्रिया में कर्म पथ की भी खोज होती चले, यही हमारे यहां प्रत्येक विद्या प्रक्रिया का लक्ष्य रहा है। ऋग्वेद में 'ऋतस्य पन्था' यानी ऋत और सत्य

के पथ की तथा 'अनृत-पथ' की बात है। उपनिषदों में भी बार-बार 'पथ' पद का प्रयोग है। आत्मज्ञान के रास्ते पर बढ रहे साधक की तुलना गांधार-पथ पर पूछ-पूछ कर आगे बढ रहे पथ गवेषी से की गई है। ईशोपनिषद् की मुख्य प्रार्थना ही है कि चेतना अग्नि ! हमें सुपथ में प्रवृत्त रखो, जटिल पथों से दूर रखो। पथों की अनृतता की बात हमारे यहां कही गई है। अत: देश, काल और पात्र का विचार कर, अपने लक्ष्य या श्रेयस् का ध्यान रखते हुए ऋजु-पथ, ऋत-पथ की खोज हमारे यहां प्रत्येक विमर्श का और सहचिंतन का उद्दिष्ट रहा है। हमारे लक्ष्य क्या हैं और उनकी प्राप्ति के सुपथ, ऋजु-पथ या श्रेयस्कर पथ क्या हैं, यह हमारे चिंतन का अभीष्ट है।

अपने इस विमर्श का समापन भी इसी प्रकार रहेगा। इतिहास और वर्तमान का विचार और स्मरण करते हुए हमें भविष्य की संभाव्यताओं के बारे में सोचना होगा। भावी समाधानों की विवेचना करनी होगी। समाधानों और संभाव्यताओं का यह विचार, पथ के विचार की ओर ले जायेगा। हम किस पथ का वरण करें और क्यों ? हमारे सामने कौन-कौन से पथ हैं ? उनमें से सुपथ या ऋजु-पथ कौन सा है, कुटिल-जटिल पथ कौन से हैं। किस पथ पर प्रस्थान करने पर क्या गति होगी या हो सकती है, इन सब पर हम संक्षेप में अंतिम क्रम में विचार करेंगे। अपने व्यष्टि-चित्त और समष्टि-चित्त, संस्कार और सामर्थ्य, परंपराएं और कुंठाएं- इन पर विचार के साथ प्रासंगिक यूरोपीय संदर्भ सामने आयेंगे। आज की हीनता को गहराई से समझने पर उसे दूर करने के क्या उपाय या मार्ग हो सकते हैं, इसका विचार भी आयेगा।

मेरी बातचीत में कोई सुस्पष्ट एवं निर्णीत पथ-निर्देश होना संभव नहीं है। तथ्य, उनसे निगमित निष्कर्ष और जिज्ञासाएं, बहुत-से प्रश्न, बहुत से वैचारिक द्वन्द्व, हम सबसे धीरता एवं सहचिंतन की अपेक्षा करती बौद्धिक व्यग्रता - यही सब इनमें से शायद निकलें। अपने बृहत समाज से और अपनी समष्टि चेतना से, बृहत् ऋत से, विराट भाव से अपने सम्बन्ध की सम्यक पहचान की व्यग्रता ही तो वास्तविक बौद्धिक व्यग्रता है। वह व्यग्रता हममें जाग्रत रहे तो प्रशस्त पथ, सुपथ या 'ऋतस्य पन्था:' भी हमारी प्रज्ञा में कौंधते रहेंगे, ऐसा आश्वासन हमारे पूर्वजों ने, हमारे अवतारों ने, हमारे देवता-गणों ने, हमारी दैवी शक्तियों ने दे रखा है। अत: उस श्रद्धा भाव के साथ ही यह विमर्श, यह संवाद आरंभ करना चाहिए।

महात्मा गांधी ने सन् १९०९ ईस्वी में 'हिन्द स्वराज' लिखा था, जिसमें भारत और योरप की टकराहट को दो सभ्यताओं की टकराहट के रूप में देखा-बताया गया था। १९२० और १९३० ईस्वी वाले दशकों में गांधीजी ने भारतीय समाज की दशा के

बारे में और योरप, विशेषत: इंग्लैंड से विभिन्न क्षेत्रों में उसकी तुलना के बारे में प्रभूत सामग्री लिखी ही थी, अन्य लोगों ने भी ऐसी सामग्री बडी मात्रा में प्रकाशित की थी। उहारणार्थ 'यंग इंडिया' में ई. १९२० के दशक के प्रारंभिक वर्षो में ही गांधीजी ने इन विषयों पर बहुत से लेख लिखे व प्रकाशित किये थे - १८ वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शती ईस्वी के प्रारंभिक काल में स्वदेशी भारतीय शिक्षा की दशा, अंग्रेजों के आने से पूर्व की भारतीय सामाजिक जीवन दशाएँ और उनके प्रभुत्व-काल में बढी भारतीय समाज की दरिद्रता और दुर्दशा, १८०० ईस्वी तक दक्षिण भारत में तथाकथित अन्त्यज लोगों (जिसमें दो चार जातियाँ ही आती थी) की अथवा महाराष्ट्र में महारों की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति जो ब्रिटिश आधिपत्य होने पर बिगडती चली गयी तथा अन्य ऐसे ही विषय। इन लेखकों में गांधीजी के अनुयायी या प्रशंसक ही सम्मिलित नहीं थे। सर शंकरन नायर ब्रिटिश वायसराय की कौंसिल के एक सदस्य थे। वे तथा उन जैसे अन्य लोग भी इसी प्रकार से लिखने लगे थे। स्पष्ट है कि उस समय के पढे-लिखे लोगों के विविध समूह इन तथ्यों को जानते थे। सर शंकरन नायर ने ईस्वी १९१९ में लिखा था कि अन्त्यज आदि की सामाजिक आर्थिक दशा में मुख्य गिरावट विगत डेढ सौ वर्षों में ही हुई है तथा भारतीय समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में उल्लेखनीय ह्रास इसी अवधि में हुआ। मेरा अनुमान है कि २० वीं शती ईस्वी के आरंभ काल के अनेक समाचार पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं, शोधपूर्ण गवेषणाओं, विशिष्ट विद्वानों की कृतियों, सृजनात्मक लेखकों-कवियों की रचनाओं आदि में इसी तरह की बहुत सी सामग्री उपलब्ध हो जायेगी।

संभवत: यह हुआ की ये सारी जानकारियाँ अब से ५०-६० वर्ष पूर्व सामने तो आईं, लेकिन इस समय वे भारतीय समाज का एक समग्र चित्र अंकित करने की दृष्टि से नहीं रखी गईं। शायद जिज्ञासा-वर्धक भाव से ही या ऐसे ढंग से ही ये बातें अधिकांशत: रखी गईं, जिनमें आज अति भावुकता दिखती हो।

परंतु गांधीजी ने १९०९ ईस्वी में ही 'हिन्द स्वराज' लिखा और हम सब भलीभाँति जानते हैं कि उसमें तथा अपनी अधिकांश कृतियों में गांधीजी ने सदा संतुलित रूप में भारतीय समाज एवं राजनीति-तंत्र की एक ऐसी समग्र छवि, एक ऐसा रूप संकेत प्रस्तुत करने का उद्यम किया, जो कि उन्होंने इस समाज के सुदीर्घ अतीत से गतिशील जीवन के बारे में समझा था। हम यहां स्मरण करें कि 'हिन्द स्वराज' में असहयोग पर लिखते हुए गांधीजी ने संकेत दिया था कि यह परंपरा भारत की स्वाभाविक परंपरा है और यह भारत में सदा से विद्यमान रही है। इसके दृष्टांत भी

उन्होंने दिये। मेरा मानना है कि भारतीय बुद्धि एवं भारतीय समाज की क्रियाशीलताओं के स्वरूपों के बारे में अपने ऐसे बोध के कारण ही गांधीजी सहजता से भारतीय बुद्धि एवं भारतीय समाज से संवाद कर सके, सहज वार्तालाप का सम्बन्ध रख सके तथा इसके कारण ही भारतीय जन गांधीजी के सुझाए रास्ते को अपनाते रहे। १९४४ ईस्वी में गांधीजी ने कहा भी था कि जब मैं भारत लौटा तो मैंने उन्ही भावों और विचारों को अभिव्यक्ति दी, जो कि भारतीय अपने मन में स्वयं पहले से जानते थे और अनुभव करते थे। निश्चित ही, गांधीजी के नेतृत्व में भारत जो कुछ कर पाया और प्राप्त कर सका, उसके मूल में गांधीजी की भारतीय समाज से यह सहज एकात्मता ही नहीं थी, उनकी संगठन क्षमता तथा आध्यात्मिक व बौद्धिक सामर्थ्य भी इस सफलता व उपलब्धि का आधार रही।

बृहत् भारतीय समाज में अपनी समाज रचना, समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था के बारे में यह बोध परंपरा होते हुए भी और गांधीजी द्वारा 'हिन्द स्वराज' में तथा अन्यत्र एवं दूसरे अनेक लोगों द्वारा 'यंग इण्डिया' समेत विविध स्थानों में, ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व के भारत के बारे में इतना सब कुछ लिखित साहित्य एवं साक्ष्य विद्यमान होते हुए भी, उन व्यक्तियों, समूहों और अंग्रेजों द्वारा रची गई उन समस्त व्यवस्थाओं में, अधिकांशत: जो आज भी हमारे बीच में है, उस बोध-परंपरा की स्मृति बहुत कम दिखती है। स्वाधीनता-संग्राम के बोध के अंग के रूप में लिखी गई तथा एकत्र और सुरक्षित रखी गई उस ऐतिहासिक तथ्य सामग्री की भी कोई चेतना या स्मृति इन व्यक्तियों के समूहो में कम ही दिखती है, जिनके ऊपर अंग्रेजों के भारत छोडने के बाद, सत्ता-हस्तांतरण के द्वारा, स्वाधीन भारत के शासन का दायित्व आया। स्थिति स्पष्ट है कि स्वाधीन होने पर भी, हमारी समस्त शासकीय व्यवस्थायें और उनके साथ समस्त आधुनिक अशासकीय प्रवृत्तियाँ, आज भी बहुत कुछ उसी संरचना पर आधारित हैं, जो संरचना-तंत्र अंग्रेजों ने सन् १७६० से १८३० ईस्वी के मध्य, भारतीय व्यवस्थाओं एवं संरचना-तंत्र को नष्ट करने हेतु और उसी प्रकिया में रचे थे या फिर जो उन्होंने १८५७ ईस्वी के बाद अपने राज्य को भारत में और सुदृढ बनाने के लिये रचे थे।

यहां यह स्मरण किया जा सकता है कि सन् १९२० ई. तक भारत का राज्यकर्ता वर्ग या अभिजनों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा अपने समाज के बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर असंबद्ध हो चुका था और परकीयता अपना चुका था। इस वर्ग ने अंग्रेजों के आचार-व्यवहार को और बोली या अभिव्यक्ति की विधियों को अंगीकार कर लिया था तथा ब्रिटिश संकल्पनाओं या अवधारणाओं एवं जीवन-रूपों के अनुरूप अपने

निजी एवं सामाजिक जीवन को ढालने के लिए अग्रसर था। स्पष्ट है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व वाले २५ वर्षों का काल-खंड भारत में विविध क्षेत्रों में संग्राम की दृष्टि से बहुत ही कम कहा जायेगा। यह भी सत्य हो सकता है कि जिन प्रमुख अभिजनों ने गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया और उसके द्वारा राज-सत्ता एवं राजनैतिक सत्ता प्राप्त की, वे गांधीजी की भारतीय समाज की समझ को बहुत गंभीरता से नहीं ग्रहण करते थे और वे यह स्वीकार कर पाने में भी असमर्थ थे कि वैसा कोई भारतीय समाज आधुनिक विश्व में व्यवहार्य हो सकता है। इस राज्यकर्ता वर्ग के एक अधिक प्रबुद्ध और गांधीजी के आत्मीय जनों में गिने जाने वाले सदस्य ने कहा ही था कि 'भला कोई यह कैसे कबूल कर सकता है की गांव के लोगों में भी कोई सद्‌गुण और सामर्थ्य है। वे तो बडे मूर्ख लोग हैं।'

इसमें तो आज कोई संदेह नहीं है कि यह अभिजात वर्ग भारतीय अतीत को आत्मसात् नहीं कर सका और भारत का भविष्य उसके अनुरूप रचने की नहीं सोच सका। किन्तु यदि उसमें तनिक भी सृजनात्मक सामर्थ्य होता, तो वह उस जानकारी को तो आत्मसात् कर ही सकता था, जो उसने पश्चिम से ग्रहण की थी और फिर इस जानकारी या सोच को वह भारतीय प्रत्ययों एवं अभिव्यक्ति रूपों में ढाल सकता था। लेकिन यह वर्ग अब तक भी तो इसमें विफल ही रहा है। लेकिन यह सृजनात्मक अक्षमता हमारे शक्तिशाली वर्ग या अभिजात वर्ग में ब्रिटिश काल में ही आई दिखती हो, ऐसा शायद नहीं है। ऐसा लगता है कि भारत के बहुत से क्षेत्रों में उसके बहुत पहले से यह अक्षमता घर कर चुकी थी। सुप्रसिद्ध आचार्य विद्यारण्य से प्रेरणा पा रहे विजयनगर राज्य में भी और स्वदेशी राज्य हेतु प्रेरणा देने वाले समर्थ गुरु रामदास से प्रेरित मराठों द्वारा १७ वीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में 'हिन्दवी स्वराज' की स्थापना के प्रयास में भी, राज्यकर्ता वर्ग ने बहुत सृजनात्मक सामर्थ्य नहीं दिखाया। अपने समाज और राजनीति तंत्र (पौलिटी) को ऐक्यबद्ध करने, साथ-साथ चलने, संवाद और विमर्श करने तथा कार्य करने की एकता उत्पन्न करने में ये दोनों ही राज्य कुछ अधिक सफल नहीं रहे। भाषाशास्त्रियों का कहना है कि शिवाजी के समय में मराठी क्षेत्र में फारसी का प्रयोग बहुत बढा-चढा था। यहां तक कि शिवाजी के प्रारंभिक काल में राजकाजी मराठी में सत्तर-अस्सी प्रतिशत शब्द फारसी के होते थे। दक्षिण के १७ वीं शती ईस्वी के संस्कृत प्रहसनों में भी इसीलिए मराठों की भाषा पर व्यंग्य किया गया। छत्रपति बनने के बाद अवश्य शिवाजी की राजकाजी मराठी में फारसी शब्दों की भरमार घटी और भाषायी स्वाभिमान की कुछ समझ बढी। उस काल की मराठी में फारसी शब्दों की संखा २० से

३० प्रतिशत तक मानी जाती है।

संभवत: ऐसा ही होता हो कि प्राय: सभी सभ्यताओं में ऐसे अंतराल आते हों जब बृहत समाज और राज्य से उसके सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हों अथवा निष्प्रभावी या व्यर्थप्राय हो जाते हों - या प्रसुप्ति की दशा में जा पडते हों। हो सकता है कि पिछली कई शताब्दियों से हम इसी दशा, ऐसे ही अंतराल में जी रहे हों और शीघ्र ही वह समय आने वाला हो, जब भारत का राज्यतंत्र और राजनीति तंत्र (पॉलिटि) हमारे समाज की आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं को तो प्रतिबिम्बित करने ही लगे, साथ ही समाज के अपने व्यवहार-पथों, व्यवहार-विधियों एवं अभिव्यकित -विधियों को भी प्रतिबिम्बित करे, उन्हें सम्यक् प्रतिष्ठा दे।

यह भी संभव है कि यह प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी हो, जो निकट भविष्य में ही हमारे समाज और 'पॉलिटी'(राजनीति-तंत्र) के बीच के इस विखंड्न को नगण्य सिद्ध कर दे और मेरी अधीरता शायद असम्यक् हो। जब हमने स्वाधीनता फिर से पा ली थी, उसी समय गांधीजी ने किसी को लिखा था कि तत्काल बडे परिणामों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए और १५० वर्षो की दासता से जर्जर भारत को पुन:स्वस्थ होने में कम से कम उससे आधे वर्ष तो लगेंगे ही।

तब भी, मेरी व्यग्रता का अंत नहीं दिखता। मुझे कुछ ऐसी अनुभूति होती है कि हमारा समाज और हमारा राजनीति तंत्र , दोनों दो विलग-विलग विश्वों में परिभ्रमण करने लगे हैं, तो इसके कहीं गहरे और दार्शनिक हेतु हैं। कुछ ऐसा दिखता है कि समष्टिगत भारतीय मानस और उसके अंगभूत भारतीय व्यक्ति के निजी मानस की स्वाभाविक संरचना, संस्कार और बोध-प्रवृत्ति ही ऐसी है कि भारतीय जन स्वभावत: एक ऐसे विश्व में रहने को तैयार नहीं हो पाते, जिसमें विभिन्न मानव समूहों या विविध क्षेत्रों के लोगों के मध्य परस्पर वैर-भाव एवं युद्ध-स्थिति एक स्थायी लक्षण हो। इस विषय पर आधिकारिक रूप से निश्चित विचार व्यक्त करने की पात्रता मैं स्वयं में नहीं पाता। किन्तु यदि मेरी इस जिज्ञासा में और व्यग्रता में कुछ तत्त्व दिखें, तो हमारे विद्वज्जनों एवं प्रतिभाशाली नर-नारियों को इस ओर विचार करना चाहिए। हो सकता है कि ऐसी प्रक्रिया चल रही हो।

यदि भारतीय बुद्धि और मन की संरचना ऐसी होती है, तो स्पष्टत: इसके परिणाम दूरगामी और बहुअर्थी निकलते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय मानस भी यदा-कदा-लडाई-झगडों तथा अन्य उपद्रवों-अनिष्टों को जीवन का स्वाभाविक अंग मानता है। पर इसके साथ ही, वह वैर-भाव या युद्ध-भाव को नित्य मानने की कल्पना

भी नहीं कर पाता। अंतत: एक आंतरिक सौमनस्य स्थापित होकर शांति-लाभ होगा। सबका सह-जीवन, सह-अस्तित्व, अपने संपूर्ण वैविध्य, समस्त बहुरूपता एवं रूप-भेद, गुण-लक्षण-क्रिया भेद के साथ अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकेगा, यह शायद भारतीय मानस का स्थायी भाव है। एक ऐसे संसार में जहां भारतीय शक्ति का निर्णायक प्रभाव हो अथवा कम से कम अपने बारे में भारत स्वावलम्बी एवं पर्याप्त समर्थ हो, पराजय की स्थिति न हो, यह स्थायी भाव एक उदात्त व्यवहार का आधार बनता है। किन्तु जब किसी ऐसी प्रबल शक्ति से सामना हो जाए जो वैर-भाव एवं युद्ध-भाव को शाश्वत मानवीय स्वभाव एवं कर्तव्य माने, अपने से अतिरिक्त अन्य प्रकार के जीवन-रूपों को नष्ट करने की या दूसरों को अधमरा करके अधीन बनाये रखने की योजना पर सतत् चले, तब स्थिति बदल जाती है। उस स्थिति में यदि पराजित, तेजहत भारतीय चित्त अपने समय और अपने सम्मुख उपस्थित संसार के इस स्थायी वैरभाव को समझ पाने को तैयाार न हो, तब उसका स्थायी शांति-भाव तेजहीन होकर एक तरह से स्वयं को ठगने का विचार-जाल रचता है। शायद भारतीय चित्त 'कबिरा आप ठगाइए और न ठगिये कोय' जैसे अध्यात्म सूत्र की भ्रामक व्याख्या द्वारा इस दशा को उचित ठहराने का प्रयास करने लगता है। ऐसे में अद्वैत बोध का स्थान एक भ्रांत अद्वैतवादी तर्क-जाल ले लेता है, अद्वैत दर्शन का सारतत्त्व विवेक-सिद्धि तब उपेक्षित कर दी जाती है। वस्तुत: भेद की सम्यक् पहचान के सामर्थ्य का ही नाम विवेक है। सत् और असत् में स्व और पर में, स्वधर्म और विधर्म में, धर्म और अधर्म में भेद करने का सामर्थ्य ही विवेक है। परमार्थत: अद्वैत जो सत्ता है, उसका ज्ञान इस भेद-बोध सम्पन्न विवेक के बिना असंभव है। विवेक के अभाव में अद्वैत ज्ञान नहीं होता, किन्तु अद्वैतवाद का शब्दजाल, जिसे आदि शंकराचार्य ने चित्त को भटका डालने वाला महावन कहा है, प्रबल हो उठता है। अद्वैत-बोध सात्त्विक तेज है, अद्वैतवाद तामसिक प्रमाद। पराजित समाज में जब अपनी विद्या-संस्थाएं नहीं रह जातीं, जब बोध की साधना का पथ विलुप्त हो जाता है और पंथ नहीं सूझता, चित्त-भूमि जब बाहरी खरपतवारों से संकुल हो उठती है, तब अद्वैतवादी प्रमाद अपने समय के संसार के सत्य को जानने में बाधक बनता है। यह स्वाभाविक ही है। तब न तो परायी विद्या-संस्थाओं का मर्म आत्मसात् करने योग्य बौद्धिक स्फूर्ति बचती है, न ही अपनी विद्या-परंपराओं की पुनर्रचना का बल और साहस। पराजित भारतीय चित्त शायद इसी हीनता से ग्रस्त है। हीनता की दशा में प्रमाद और सृजन-विमुखता से उपजी अद्वैतवादी भ्रांति अपनी परंपरा का ही प्रसार दिखने लगती है। शायद प्रत्येक संस्कृति की विकृति का भी अपना ही विशिष्ट स्वरूप होता है।

प्रमादपूर्ण अद्वैतवाद से भरे मानस में संसार को ठीक से जानने के प्रति अनिच्छा का उभार हो जाना विशिष्ट भारतीय विकृति है। अन्य संस्कृतियों की विकृतियां भिन्न प्रकार की होती हैं। हमारी विकृति इसी आत्महीनता से भरे प्रमाद के रूप में है।

पराजित भारतीय चित्त की बात उठने पर, उसके स्वरूप को तथा पराजय से उभरने की उसकी सतत चेष्टाओं के इतिहास को स्मरण करना आवश्यक है। इसके लिए मुझे यह उचित लगता है कि कुछ प्रतिनिधि घटनाओं तथी बिन्दुओं का सांकेतिक स्मरण किया जाए। इस्लाम के अनुयायियों से हजार वर्ष लंबे समय तक सम्बन्ध होते हुए भी इस्लाम के स्वरूप को भी बौद्धिक स्तर पर समझने का कोई प्रयास भारत में पिछले दो सौ-तीन सौ वर्षो में भी नहीं हुआ दिखता। यह सही है कि इस्लाम अनुयायियों के आक्रमण से अधिकांश भारत पराजित नहीं हुआ, संघर्षरत ही रहा और अपने ढंग से इस्लाम को आत्मसात् करने की भी चेष्टा में लगा रहा। भारतीय समाज के पास ११ वीं शती से १७ वीं शती ईस्वी तक लगातार संग्राम और बलिदान के उपरांत भी उल्लेखनीय शक्ति बची रह गई। संग्राम के क्रम में भारतीय समाज को बीच-बीच में उल्लेखनीय सफलताएं भी मिलीं। विजयनगर राज्य और मराठों का प्रसंग पहले आ चुका है। किन्तु अपना राज्य भिन्न एवं विपरीत प्रकार के विचारतंत्र के प्रति क्या बौद्धिक व्यवहार करे, इस पर पर्याप्त गहरा शास्त्रार्थ विजयनगर राज्य में भी नहीं हुआ। जो सांस्कृतिक-केन्द्र, विद्या-केन्द्र नष्ट कर देने वाली शक्तियां हैं, उन्हें मात्र प्रत्यक्षत: पराजित कर, अपने क्षेत्र भर में मर्यादित रखके, क्षेत्र के चारों ओर वैर-भाव से परिपूर्ण वैचारिक आक्रमकता को यों ही रहने देना है या उससे वैचारिक संवाद करना है, इस पर विगत एक हजार वर्षों में कभी कहीं पर्याप्त गहरा विमर्श हुआ हो, इसके अभी तक सूत्र नहीं मिले हैं। 'खुदा' और 'ईश्वर' की, एकपंथवाद और सर्वपंथ-मान्यता की अवधारणाओं में तात्त्विक अंतर क्या है, और एकता का आधार क्या है, इस पर आध्यात्मिक-बौद्धिक विमर्श न आचार्य विद्यारण्य के संरक्षण में या नेतृत्व में कहीं हुआ, न ही समर्थ गुरु रामदास के। पंचदशी और दासबोध को पढने पर यह रंचमात्र नहीं पता चलता कि इस्लाम की किन्हीं आधारभूत अवधारणाओं को कोई चुनौती समझी जा रही है। वह सजगता होती तो विदेशी भाषा के कितने शब्दों को और किन विचारों को आत्मसात् करना है और क्यों करना है, मनुष्य के रूप में कहां उनसे हमारी एकात्मता है तथा एक भिन्न सांस्कृतिक प्रजाति या समाज के रूप में कहां नितांत विरोध, विभेद या विपरीतता है, क्या ग्रहण करना धर्म है, क्या अधर्म, किन-किन रूपों में प्रतिरोध व स्वाधीन सृजन-साधना धर्म है, आदि विषयों पर विस्तृत विचार होता, जैसे कि उन

दिनों इस पृथ्वी पर अन्यत्र हो रहा था। अपने यहां महाभारत में विविध स्थलों में भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों के स्वभाव व विशेषताओं का कुछ वर्णन है। ब्रह्म पुराण और स्कंद पुराण में भी कुछ ऐसे ही प्रसंग हैं। विश्व के नए घटनाक्रमों और एकपंथवादी समूहों के अभूतपूर्व विस्तार के संदर्भ में इस भेद विवेचन को और विस्तार तथा गहराई देना ही स्वाभाविक होता। अपने उन दिनों के राष्ट्रीय अनुभवों के संदर्भ में यह आवश्यक था। पर ऐसा कुछ अपने यहां उन दिनों हुआ नहीं दिखता। समाज में तो भावोद्वेलन, प्रतिरोध भाव, प्रतिशोध-भाव आदि देखने को मिलते हैं, किन्तु राजनीति-तंत्र के शीर्ष जनों मे ये भाव पर्याप्त नहीं दिखते।

अठारहवीं शती ईस्वी के आरंभ में, औरंगजेब की १७०७ ई. में मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य समाप्त हुआ, ऐसा माना जा सकता है। शिवाजी के राज्याभिषेक से लेकर १७५० ई. तक मराठे ही भारत की सबसे शक्तिशाली व विस्तृत राज्य शक्ति थे। लेकिन इन्हीं दिनों में योरपीय भारत में प्रभाव बढाने लगे। १७५० ईस्वी में अरकाट की लडाई से उन्होंने अपनी शक्ति को निर्णायक रूप से बढाना शुरू किया। १८०० ईस्वी तक प्राय: समस्त भारत पर उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभुत्व हो गया। इसके उपरांत यह मानना कि सन् १८५७ ई. तक भारत की अपनी स्वतंत्र सत्ता कहीं रही, निराधार और निरर्थक है। सन् १८०३ ईस्वी तक हमारा प्रभावशाली वर्ग मानसिक पराजय स्वीकार कर चुका था। इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण अंश उत्साहपूर्वक ब्रिटिश जीवन-पद्धति, ब्रिटिश विचार-पद्धति, एवं अभिव्यक्ति-पद्धति को ऐसे अपना रहा था, मानो वह बौद्धिक दारिद्र्य से ग्रस्त हो, उसके पास न अपनी प्रभा हो, न प्रतिभा, न प्रतिमान। बाहरी विचार और व्यवहार को किस रूप में लेना है, उसका संपूर्ण समाज पर क्या-क्या प्रभाव पडेगा, उस प्रभाव को कैसे संतुलित रखना तथा अर्थवान बनाना है, इस पर शास्त्र-चिंतन, कोई सृजनात्मक प्रयास नहीं दिखते। जो ले रहा है, उत्साह से ले रहा है। बृहत् समाज तिरस्कार से यह देख रहा है। विखंडन की यह स्थिति स्पष्ट दिखती है।

ऐतिहासिक राजनैतिक घटनाओं को समझने के प्रति राजनीति तंत्र के शीर्ष जनों में या तो प्रमाद और उपेक्षा-भाव दिखता है, या फिर एक अस्पष्ट अपेक्षा-भाव। हमारे प्रतिभाशाली लोग समकालीन राजनीतिक घटनाओं को किस रूप में देख रहे थे इसका एख उदाहरण हैं राममोहन राय।

कहा जाता है कि बचपन में अपने साथ घटी घटनाओं के कारण उन्होंने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और हुगली जिले से पटना जा पहुंचे। वहां फारसी और अरबी का अध्ययन किया। अरबी विज्ञान और दर्शन पढा। यूनानी चिंतकों के अरबी अनुवाद

पढे। हाफिज, रुमी आदि की शाइरी पढी। फिर कुछ साल बनारस रहे। वहां उपनिषद् और गीता पढी। फिर मुर्शिदाबाद जाकर अरब की विद्या पढने लगे। वहीं अपनी पहली पुस्तक 'तुहफत-उल-मुवहिदीन' फारसी में लिखी, जिसमें एकपंथवाद का घनघोर समर्थन किया। इसकी भूमिका अरबी भाषा में थी। तदुपरांत ब्रिटिश राज में नौकरी की । १८१४ ईस्वी मे कोलकता पहुंचे। वहीं ईसाई साहित्य पढा और हिब्रू, लैटिन और यूनानी भाषाएं सीखीं। और फिर एक यूनिटेरियन मिशन प्रेस, सभाघर, पुस्तकालय आदि बनवाया व 'द प्रिसेप्ट्स आव जीसस', 'अपील टु द क्रिश्चियन पब्लिक', 'द आइडियल ह्यूमैनिटी आव जीसस' आदि पुस्तकें प्रकाशित कीं। अंग्रेजी की शिक्षा के देशव्यापी प्रचार के लिए वातावरण बनाने में लगे रहे और अंत में ब्रह्म समाज की स्थापना की, जिसका मुख्य लक्ष्य था मूर्तिपूजा की परंपरा पर तीव्रतम प्रहार करना। साथ ही उन्होंने देशभर में एकपंथवाद की स्थापना के लिए अत्यधिक श्रम किया। आधुनिक अभिजनों ने उनमें 'रेनेसॉ' का नव-प्रवर्तक देखा।

यहीं पर बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का स्मरण प्रासंगिक है। बंकिम ने 'आनंदमठ' जैसे उपन्यास लिखे और संन्यासी-विद्रोह जैसी राजनैतिक घटनाओं की मीमांसा की। प्रसिद्ध राष्ट्रगीत वंदेमातरम् रचा। उन्हीं बंकिम की अंग्रेजी राज के बारे में यह व्याख्या थी कि वह दैवी इच्छा से भारत के शुभ के लिए ही आया है। यह बोध उस काल-खंड का है, जब अंग्रेज भारत की समाज-रचना, कृषि, शिल्प, प्रौद्योगिकी, विद्या-संस्था आदि को देशभर में नष्ट कर चुके थे। लेकिन जन-जीवन का व्यापक क्षय और विनाश करने वाला ब्रिटिश राज ऐसे शक्तिशाली लोगों को पूर्ववर्ती इस्लामी त्रास से मुक्ति दिलाने वाले वरदान के रूप में दिख रहा था। ये सब भारत के मेधावी नागरिक थे। देशभक्ति और संस्कृति-रक्षा की भावना इनमें कम नहीं थी। किंतु बृहत् सामाजिक जीवन के विध्वंस का या तो इन्हें पर्याप्त ज्ञान नहीं था, या फिर विध्वंस इन्हें अपनी या अपने जैसों की निजी क्षति न होने के कारण उतना पीडाप्रद नहीं लगता था। निजी अनुभव, निजी दैहिक-मानसिक स्तर पर भोगा हुआ यर्थाथ ही इन्हें सामाजिक यथार्थ का प्रयाप्त प्रतिनिधि दृष्टांत लगता था। बृहत् समाज के दु:खों का राजनैतिक ऐतिहासिक संदर्भ पहचानना उन्हें आवश्यक नहीं लगता था। सब परंपरागत अर्थ में विरक्त भी नहीं थे। क्योंकि परंपरा में तो गुरुतम निजी दु:ख से भी विचलित न होने का आदर्श रहा है, जबकि ये सब निजी दु:खों के दारुण अनुभवों से ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष निकालते दिखते हैं।

स्वामी विवेकानंद का व्यक्तित्व कई अर्थों में इससे भिन्न था और प्रतिभा,

शास्त्र-ज्ञान एवं संवेदना में भी वे अधिक उन्नत थे। अत: उनका स्मरण बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दु धर्म और भारतीय संस्कृति के वे समर्थ प्रवक्ता संन्यासी बने और शायद आज सबसे अधिक पुस्तकें जिन आधुनिक भारतीय विचारकों की पढी जाती हैं, उनमें प्रमुख हैं विवेकानंद और महात्मा गांधी।

हम स्वामी विवेकानंद में गहरा और उत्कट देशप्रेम व्याप्त पाते हैं। शास्त्रों का ज्ञान भी उन्हें था ही। श्री रामकृष्ण परमहंस के वे सर्वप्रमुख शिष्य थे। श्री रामकृष्ण का शरीरान्त १५ अगस्त१८८६ ईस्वी को हुआ। २६ मई १८९० को विवेकानंद ने वाराणसी के श्री प्रमदादास मित्र को एक लंबा पत्र लिखा। उसमें कहा....'यह निश्चय ही अपराध हो गया कि भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस के शरीर को चिताग्नि में समर्पित कर दिया गया, जबकि उसे समाधिस्थ किया जाना उचित होता। ..... उनके राख-फूल सुरक्षित हैं। अच्छा हो, यदि वे पवित्र गंगा तट पर जहां पर वे साधना किया करते थे वहीं स्थल निर्मित कर सुरक्षित भूमिस्थ कर दिये जायें, इससे उस अपराध का कुछ मार्जन हो जायेगा। उन अवशेषों की, श्री परमहंस के आसन की एवं चित्र की पूजा मठ का नित्य नियम है। ब्राह्मणवंशीय एक संन्यासी रात-दिन इसी कार्य हेतु नियुक्त है। पूजा का खर्च दो महान् भक्तों द्वारा उठाया जाता है...। कितनी पीडा की बात है कि उनकी स्मृति के लिए अभी तक बंगाल से धन नहीं एकत्र हो सका, जिनके जन्म से यह बंगाली जाति पवित्र हो गई है और जो पश्चिमी संस्कृति के सांसारिक आकर्षण से भारतीयों को बचाने के लिए पृथ्वी पर आए तथा इसीलिए जिन्होंने अपने अधिकांश संन्यासी-शिष्य विश्वविद्यालयों से चुने।

'...स्मृति-स्थल हेतु अपेक्षित भूमि लगभग पांच-सात हजार रूपयों में मिलेगी। फिर उस पर कुछ आश्रम बनाना होगा। ....श्री रामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों के मित्रों और संरक्षकों में से एक मात्र अब आप ही हैं। संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में आपकी प्रसिद्धि है, पद है, और परिचय-क्षेत्र है। आप इस कार्य को उचित मानें तो इसके लिए धन एकत्र करने की कृपा करें। मैं आपके साथ द्वार-द्वार चलकर इस श्रेष्ठ कार्य हेतु भिक्षा-याचना को उद्यत हूं। उसमें तनिक भी लज्जा कैसी ?.... शायद आप कहें कि संन्यासी को इच्छाएं क्यों ? मेरा उत्तर होगा, भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस का नाम, उनका जन्म-स्थल एवं साधना-स्थल विश्व में सर्वत्र प्रसिद्धि पाए, इसके लिए मैं चोरी-डकैती तक करने को तैयार हूं, क्योंकि मैं उनका सेवक दास हूं, मैं इस स्मृति स्थल के निर्माण हेतु ही कोलकता लौटा हूं।... अगर आप कहें कि स्मारक काशी में हो, तो निवेदन है कि उन्होंने साधना तो यहां कोलकते में गंगा-तट पर की थी।.... मेरी

बुद्धि के अनुसार, कुलीन घरों के ये अच्छे, सुशिक्षित मेरे साथी युवा संन्यासी यदि श्री रामकृष्ण के आदेशों को पूर्ण करने हेतु जीवन समर्पित करने पर भी उस कार्य में आश्रय और सहायता के अभाव में विफल रहे तो यह हमारे देश का दुर्भाग्य है।'

प्रमदादास मित्र ने इसका निराशाजनक उत्तर दिया। स्पष्टत: इससे विवेकानंद को असह्य वेदना हुई। वेदना की बात भी थी। निस्ससंदेह तब तक बंगाल दरिद्र और कंगाल किया जा चुका था, परंतु इतनी कम धनराशि उस व्यक्ति के स्मृति-स्थल हेतु न जुट पाये, जिसके पास केशवचंद्र सेन, गिरीशचंद्र घोष, ईशान चंद्र मुखोपाध्याय, बलराम बोस, शंभुनाथ मल्लिक, मणिमोहन मल्लिक जैसे संपन्न लोग आते-जाते थे, तो यह प्रसंग आर्थिक दारिद्य्र का नहीं, वैचारिक दारिद्य्र का ही दिखता है। या तो यह बात सही नहीं है कि बंगाल में भी श्री रामकृष्ण परमहंस की ख्याति उनके जीवन-काल में ही दूर-दूर तक फैल चुकी थी, और शायद ऐसा रहा हो कि १५-२० युवाओं के सिवाय उनके सच्चे प्रशंसक लगभग नगण्य थे, या फिर यह पूरी तरह बौद्धिक आध्यात्मिक दारिद्य्र की दशा का फल है कि इतनी धनराशि न जुट पाये।

इस दुर्दशा ने विवेकानंद को हिला दिया। उन्हें लगा कि क्या अब इस देश के भीतर से स्वत: कुछ नहीं हो सकेगा? तो वे इस देश को जानने को निकल पडे। परिव्राजक, यायावर, संन्यासी विवेकानंद निरंतर घूमते रहे। सर्वत्र उन्हें प्रेम मिला, श्रद्धा मिली। किन्तु बस अधिक ठोस सहायता नहीं। फिर वे कन्याकुमारी की सुप्रसिद्ध विवेकानंद शिला पर ध्यानस्थ हुए। ध्यान का उनका सुदीर्घ साधना-क्रम था। वहां भी अद्वितीय अनुभूति हुई। कुछ ही दिनों बाद लगा... श्री रामकृष्ण परमहंस समुद्र के बीचोबीच हैं और बुला रहे हैं। वह विदेशयात्रा का संकेत बना। शिकागो विश्वधर्म सभा वस्तुत: स्वामी विवेकानंद के विदेश जाने का कारण न थी। कारण उससे कहीं बहुत बडा, बहुत गहरा और बहुत अलग था। योरप-अमेरिका की समृद्धि देखी। संगठन देखा। शक्ति देखी। प्राणवत्ता देखी और बहुत प्रभावित हुए। उन प्रभावों के ओजस्वी, उत्साहमय, भावपूर्ण, काव्यात्मक वर्णन उनके पत्रों में हैं। उन पत्रों में प्रगाढ देशप्रेम, देश के वैविध्य की समझ, लोक व्यवहार की समझ भी है और अंतर्बाह्य दारिद्य्र का दु:ख भी। धर्म के मामले में वे अमेरीकियों को अव्यावहारिक बताते हुए ६ मार्च १८९५ को अमरीका के अलासिंघा पेरुमल को लिखते हैं - 'धर्म में मात्र हिन्दु व्यावहारिक हैं, यांकी (अमेरिकी) लोग धन कमाने में व्यवहारपटु हैं। इसी से मैं यहां कुछ निश्चित पाकर ही लौटना चाहता हूं। .....धीरे-धीरे शुरु करो, अपना आधार पहचानो और बढो, बढते जाओ, मेरे वीर बच्चों ! एक दिन हमें प्रकाश दिखेगा। भारतीयों को दी गई उनकी प्रेमपूर्ण

धिक्कृति में गहरी पीडा है, ममत्व है, प्रेम है। उनके निजी अनुभवों से निकला निष्कर्ष यह है कि भारत का उद्धार तभी संभव है, जब इसकी सेवा हेतु बाहर से समर्पित व्यक्ति आएं और बाहर से धन आए। इस प्रकार मुख्यत: विदेशी धन से रामकृष्ण मिशन का प्रारंभिक विकास होता है।

श्री रामकृष्ण परमहंस को वे क्षण भर भी नहीं भूलते। किन्तु व्यवहार-कुशल बुद्धि से वे देखते हैं कि कहां किस तरह का संवाद अर्थमय होगा, सम्प्रेष्य होगा। अत: पश्चिम में वे तर्कपूर्ण प्रतिपादनों से श्री रामकृष्ण की विचारधारा का प्रसार चाहते हैं। सन् १८९५ में ही अपने एक गुरु भाई को लिखे पत्र में वे स्पष्ट कहते हैं - 'वास्तविक वस्तु है श्री रामकृष्ण द्वारा सिखाया गया धर्म। हिन्दू उसे हिन्दू धर्म कहे, तो कहने दो। दूसरे उसे अपने ढंग से पुकारेंगे। हमें शनै: शनै: पंथ पर बढना है। .... मुझे लौटने को कहने से लाभ नहीं। यहां किया गया थोडा सा कार्य भारत में कई गुना प्रभाव उत्पन्न करेगा। फिर यहां के लोग धनी हैं और साहसपूर्वक देते हैं। हमारे यहां तो न धन है, न दानशीलता का यह साहस।' २९ सितम्बर १८९४ को अलासिंघा पेरुमल को वे लिखते हैं, 'हमारा कार्यक्षेत्र भारत है। ....हमें अपना सुदृढ आधार बनाना है। क्षण भर भी मन्द मत पडो।.... हिन्दू समाज मात्र आध्यात्मिक लोगों के लिए संगठित है तथा औरों के प्रति कठोर व्यवहार करता है। ऐसा क्यों ? जो संसार के सुखों का कुछ उपभोग करना चाहते हैं, वे कहां जाएं ? समाज में इन सबका भी स्थान होना चाहिए। ....पहले धर्म के सच्चे सिद्धांतों को समझना होगा। फिर उन्हें समाज में क्रियान्वित करना होगा।'

६ अप्रैल १८९७ के अपने पत्र में वे 'भारती' की विदुषी संपादिका सरला घोषाल को लिखते हैं, 'मैं सदा से यह मानता रहा हूं कि हमारा उत्कर्ष तब तक न हो पायेगा, जब तक पश्चिमी लोग हमारी सहायता के लिये आगे नहीं आते। हमारे इस देश में गुणों का सम्मान नहीं है, धन की शक्ति नहीं है और सर्वाधिक शोचनीय यह है कि तनिक-सी भी व्यवहार बुद्धि नहीं है। ....मैंने अपने अल्प जीवन में भी यह अनुभव किया है कि श्रेष्ठ अभिप्राय, संकल्प, निष्ठा और अगाध-अनंत प्रेम से विश्व-विजय संभव है। इन गुणों से संपन्न एक अकेली आत्मा करोडों पाखंडियों और जड क्रूरबुद्धियों के तमसावृत संकल्पों को विनष्ट कर सकती है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि पश्चिम से व्यक्तियों और धन के आये बिना हमारा कल्याण असंभव है।' इस प्रकार, विवेकानंद पश्चिम से धन लाए और व्यक्ति लाए - इन्हीं में थीं मार्गरेट नोबुल, यानी भगिनी निवेदिता। हम पाते हैं कि भगिनी निवेदिता महान वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बसु की वैज्ञानिक पुस्तकों के संपादन में सहायता करती हैं, बृजेन्द्र नाथ सील की रचनाओं के

अनुवाद में भी। ऐसे तथ्यों से कम से कम हमारे भद्रलोक, हमारे अभिजात वर्ग के बारे में यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समाज की प्रतिभा व शक्ति को पहचानने और आगे बढाने का सामर्थ्य वे खो चुके हैं। विश्व का कोई भी स्वस्थ समाज अपने महत्त्वपूर्ण मौलिक सृजनात्मक कार्य विदेशियों की सहायता से संपन्न नहीं किया करता।

जहां तक धन की बात है, हम पाते हैं कि सोलहवीं शती के आरंभ से सत्रहवीं शती ईस्वी के अंत तक उत्तर भारत में कबीर, रैदास, दादू आदि संतो को संपन्न शिष्य मिलते हैं। तुलसीदास को अवश्य अपने ही पंडित बंधुओ से सर्वाधिक प्रताडना सहनी पडती है। पर साथ ही उन्हें व्यापक सहयोग भी मिलता है। अपार लोकप्रियता मिलती है। किंतु राजाओं और संपन्न जनों द्वारा गुरु भाव रखे जाने पर भी इन संतों के पास ऐसे पर्याप्त साधन स्रोत पहुंचे नहीं दिखते जिनसे वे दक्षिण भारत के मंदिरों जैसे किसी भव्य विद्या केन्द्र या संस्कृति केन्द्र का निर्माण करा सकें। लगता है कि उस अवधि में ही हमारे संपन्न और शक्तिशाली वर्ग की प्राथमिकताएं बृहत समाज से अलग बन चुकी थीं। बृहत समाज ने अवश्य इन संतों को यथाशक्ति सहयोग दिया, साधन दिए। संभवत: इसका कारण यही था कि तब तक बृहत् भारतीय समाज के पास कुछ साधन-स्रोत बचे रहे थे। अंग्रेजों ने उनका सुनियोजित विनाश किया। देश के जन साधारण में तो मौलिक दारिद्र्य बढता ही गया किन्तु नए अभिजात वर्ग के पास कुछ धन व शक्ति तो रही ही होगी। लेकिन ऐसा लगता है कि यह वर्ग मानसिक दारिद्र्य से त्रस्त और मलिन हो गया था, जिसका अनुभव विवेकानंद को हुआ।

विवेकानंद से तत्काल पूर्व तेजस्वी स्वामी दयानंद को आवश्यक साधन-स्रोत एवं जनाधार मिला था। वेदों के गहरे अर्थों की तेजस्वी व्याख्या और उनकी परम प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के साथ-साथ ही स्वामी दयानंद ने गो-रक्षा आंदोलन को भी भरपूर समर्थन तथा सहयोग दिया। किन्तु साथ ही व्यापक हिन्दू समाज की समकालीन सांस्कृतिक बुद्धि के प्रति उनमें एक गहरे दु:ख का भाव भी था। प्रतिमा-पूजन के खण्डन में उन्हें भारतीय समाज की शक्ति दिखती थी। मूर्तिपूजन और एकपंथवादी कठोर पंथानुशासन के मध्य आधारभूत अंतर क्या है, यह वे शायद कभी पहचान नहीं पाये।

विवेकानंद और दयानंद जैसे लोगों में भारतीय समाज के प्रति ममत्व का प्रेम था। विवेकानंद में तो भारतीय नर-नारियों पर बहुत गहरा विश्वास भी था। किंतु देश के बारे में जो छवि, जो प्रतिभा नवप्रबुद्ध वर्ग ने रच दी थी, उसके प्रभाव से ये प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली लोग भी बच नहीं पाए।

देश की वह प्रतिमा परंपरागत नहीं थी, न ही भारतीय इतिहास के तथ्यों के अनुरूप थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में वह प्रतिमा अंग्रेजों द्वारा और उनकी प्रेरणा से परिश्रमपूर्वक गढी गई। बंगाल के नवप्रबुद्धों ने इसमें बहुत आगे बढकर भूमिका निभाई। संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भी पढाई हो, इसका राममोहन राय जैसों ने प्रचंड विरोध किया। उनका मत बन गया था कि ये भाषाएं मात्र स्मृति की, अतीत के ज्ञान की वाहक हो सकती हैं। पश्चिम का ज्ञान तो पश्चिम की भाषा से ही प्राप्त हो सकता है। यह एक अनोखी मान्यता थी कि स्वयं पश्चिम तो, भारत का और पूर्व का ज्ञान अपनी ही भाषा में प्राप्त करे, परंतु भारत को पश्चिम का ज्ञान पश्चिम की ही भाषा में सीखना होगा। इस आग्रह के पीछे निश्चय ही भारतीय भाषा, भारतीय बुद्धि, भारतीय जन के प्रति एक हीनता का भाव रहा। यह भारत के प्रति किसी द्वेष, या द्रोह की बात नहीं है। अपितु भारत के प्रति ऐसे बोध को आत्मसात् कर लेने की दशा है, जिसमें भारत को विश्व के अन्य समाजों से विशेष हीन, विशेष पतित और निकृष्ट मानने का आग्रह है। इस बोध की अभिव्यक्ति हम उन दिनों के अनेक प्रसिद्ध लोगों के कथनों में पाते हैं।

केशवचंद्र सेन ने भारत के बारे में ब्रिटेन में ही कहा - 'यदि आप आज भारत को देखें तो आप पायेंगे - दूर-दूर तक फैली मूर्ति-पूजा, एक ऐसी जाति व्यवस्था जैसी और कहीं नहीं मिलेगी, जिज्ञासारहित प्रकृति वाली सामाजिक और पारिवारिक संस्थाएं तथा अत्यन्त जुगुप्साजनक सीमा तक विद्यमान अज्ञान, पूर्वग्रह, दोष और अंधविश्वास।' रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् १९०० के आसपास लिखा, 'अस्तित्व के आंतरिक सत्य से सम्बन्ध विच्छिन्न कर हमारे देशने अविवेक के प्रचंड भार से दब कर परिस्थितियों की भीषण दासता स्वीकार कर ली। सामाजिक व्यवहार, राजनीति, धर्म और कला के क्षेत्र में हम लोग सृजनात्मकता से रहित हो गये तथा एक क्षयशील परंपरा अपनाकर हमने अपनी मानवता की अभिव्यक्ति का ही अंत कर दिया।'

देश के बारे में यह छवि रायल बंगाल सोसायटी तथा बंगाल एशियाटिक सोसायटी जैसी अनेक संस्थाओं एवं प्रवृत्तियों से क्रमश: प्रचारित होती रही। राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों ने अपनी समर्पित प्रतिभा और परिश्रम के द्वारा इसे रूपायित करने में विशेष योगदान दिया। राजेन्द्रलाल मित्र एक देशभक्त थे। वे भारत को इंग्लैंड जैसा तथा भारतीयों को अंग्रेजों जैसा बनते देखना चाहते थे और इसी में देश का गौरव मानते थे। आर्य जाति संबंधी भाषा-वैज्ञानिक परिकल्पनाएं और गाथाएं इस सम्मोहन का प्रेरक तत्त्व बनीं। इन सब तत्त्वों के सम्मिलित परिवेश ने ही तत्कालीन नवप्रबुद्ध भारतीयों,

विशेषकर बंगाली भद्रलोक का वह मानस रचा।

भारत की छवि नई 'इंडोलॉजी' की रचना थी। इसमें किसी व्यक्ति को दोषी ठहराने की बात नहीं है, अपितु तत्कालीन भद्रवर्गीय परिवेश और मनोदशा के प्रतिनिधि रूपों का ही संकेत यहां है। भारत के हार जाने और पराधीन हो जाने की चिंता का एक उल्लेखनीय शक्तिशाली वर्ग में यह रूप बनते जाना कि विजेता के समक्ष समर्पण और दासता में ही स्वाधीनता दिखने लगे, विचार एवं विश्लेषण का विषय है, निंदा या धिक्कार का नहीं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी सर्जनात्मक प्रतिभाओं ने एक विचित्र आत्मग्लानि, आत्मदैन्य और उसी के साथ योरपीय लक्ष्यों की पूर्ति में ही भारत का आत्मगौरव देखने का बौद्धिक परिवेश रचा, उसमें ही जवाहरलाल नेहरू जैसे पश्चिमीकृत व्यक्तियों का उभरना और प्रतिष्ठित होना संभव हुआ।

चेतना-विकासवाद की अपनी विशिष्ट अवधारणाओं के फलस्वरूप जवाहरलाल नेहरू जैसे लोग पश्चिम के चिंतको में सर्वाधिक विकसित चेतना देखते थे और पश्चिम के चिंतकों के अनुगत समाज को सर्वाधिक विकसित समाज। अत: पश्चिम के द्वारा रची गई आधुनिक शिक्षा ही स्वभावत: जवाहरलाल नेहरू के लिए प्रामाणिक ज्ञान का एकमात्र माध्यम थी। इसीलिए वे मानते थे की भारतीय ग्रामीणों में आधुनिक शिक्षा के पर्याप्त प्रसार बिना ज्ञान और गुण हो ही कैसे सकते हैं। इसीलिए वे भयंकर अज्ञान और गुणहीनता की इस दशा से करोडों भारतीयों का उद्धार करना तथा उन्हें अपने अनुरूप रूपांतरित करना, अपने नेतृत्व में आधुनिक शिक्षित वर्ग द्वारा संचालित राज्य का प्रमुख कर्तव्य मानते थे।

सृजनात्मक बुद्धि के इस अभाव का परिणाम था कि भारतीय इतिहास, भारतीय शास्त्र, धर्मग्रंथ एवं वेदों तक में वे सब बातें ढूंढी-बताई जाने लगीं, जो हमें अंग्रेजों के अनुगत बनने के योग्य सिद्ध करें। इसमें विशेष बात यह भी थी कि स्वयं अंग्रेजों के बारे में हमें लगभग कुछ भी नहीं ज्ञात था। न उनका इतिहास, न उनकी समाज व्यवस्था, न उनके लक्ष्य। वे अपने बारे में जो भी यहां हमें बता देते, उसे ही हमारे प्रबुद्ध लोग ब्रह्म सत्य मानने लगे। साथ ही, स्वयं के वैसे बन सकने की सुपात्रता सिद्ध करने लगे। यहां तक कि वेदों में गोमांस-भक्षण की बात है, यह सिद्ध करने के लिए राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों ने अद्‌भुत परिश्रम किया। अपनी नृतत्त्वशास्त्रीय एवं राजनैतिक मान्यताओं के कारण अंग्रेज मानते थे कि उनसे भिन्न अन्य समाज सभ्यता के विकास की पूर्व अवस्था में हैं और अपने इतिहास के कारण वे मानते थे कि आदि दशा में मनुष्य नरमांस खाते

थे, तो यहां राजेन्द्रलाल मित्र जैसे परिश्रमी विद्वान यह सिद्ध करने में भी जुट गये कि हमारे यहां नरबलि प्रथा थी एवं नरमांस खाया जाता था। ऐसी बातों के प्रचार से ऐसा वातावरण बना कि अपने समय में विवेकानंद भी कह गये कि एक समय था, जब भारत में पांच ब्राह्मण मिलकर एक गाय को चट कर जाते थे। इसकी एक परिणति आचार्य विनोबा भावे में देखी जा सकती है। विनोबा भावे 'गीता प्रवचन में कह गये कि वैदिक ऋषि गोमांस खाते थे और फिर इस कथन के लिए प्रमाण दिया सातवीं शताब्दी ईस्वी में भवभूति रचित उत्तर रामचरितम्' नाटक के उस अंश का, जिसका अर्थ भी अस्पष्ट है। इससे हमारे विद्या के स्तर में आया ह्रास व प्रमाद ही झलकता है।

स्वाधीनता की चिन्ता और विचार जहां हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग में आक्रमकों के प्रतिपादनों के प्रति ऐसे दास्य भाव को गहरा करने की परिणति को प्राप्त हुआ, वहीं बृहत् भारतीय समाज में स्वाधीनता की चिन्ता इससे विपरीत रूप में ही प्रकट होती रही। यह बृहत् समाज अपने सांस्कृतिक प्रतीकों और आदर्शो को केन्द्र बनाकर बारम्बार स्वयं को संगठित करने का प्रयास करता है। १८५७ ई. के स्वतंत्रता-संग्राम में भी ऐसा ही प्रयास किया गया था। सन् १८८० से १८९४ ई. तक देशभर में, विशेषत: उत्तर और मध्य भारत में प्रबल गोरक्षा आंदोलन उठा। गोरक्षिणी सभाओं की व्यापक शृंखला स्थापित हुई, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, धनी, निर्धन, नर-नारी, बाल-वृद्ध सभी सम्मिलित हुए। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, चेतना और परंपरा से जुडे प्रतीकों एवं रूपों के साथ बृहत् समाज के ऐसे प्रयासों में भारत को हीन मानने या भारतीय संस्थाओं, प्रवृत्तियों एवं आदर्शों के प्रति ग्लानि का भाव होने के कोई भी चिन्ह नहीं दिखते।

महात्मा गांधी में ऐसा हीनता और ग्लानि का भाव लेशमात्र नहीं था और उनके नेतृत्व में पूरा देश एक होकर उमड पडा। देश के बारे में महात्मा गांधी का विचार नवप्रबुद्ध लोगों से नितांत भिन्न था। वे मानते थे कि इस देश के बृहत् समाज में भरपूर गुण हैं, और कुप्रवृत्तियों तथा विकृतियों के होते हुए भी आतंरिक सामर्थ्य है। यदि इन्हें अपनी श्रेयस्कर प्रवृत्तियों को संगठित करने और अभिव्यक्ति करने के वैसे ही पर्याप्त साधन स्रोत फिर से दे दिये जाएं तो ये लोग उसी तरह एक श्रेष्ठ सभ्यता पुन: रचने लगेंगे, जैसे की हजारों साल से रचते रहे हैं। कुछ लडाई- झगडे तो समय-समय पर होते ही रहेंगे, उतार-चढाव भी होंगे, थोडा वैर-विरोध, कुछ अनीति भी शायद रहे, पर उन सबको अनुचित और अधर्म माना जाएगा, मर्यादा का उल्लंघन माना जायेगा तथा उनकी निंदा की जायेगी। इसलिए आवश्यक है इन्हें पुन: आत्मगौरव एवं आत्मप्रतिष्ठा

हेतु आवश्यक वे साधन-स्रोत वापस लौटाना, जो कुछ तो इस्लामी प्रभुत्व काल में, लेकिन पूरी तरह ब्रिटिश साम्राज्य के काल में इनसे छल-बल से छीन लिये गये। यहां महत्त्वपूर्ण मात्र इतना है कि गांधीजी को भारतीय जन और भारतीय धन के सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था तथा उसी दृष्टि से उन्होंने अपने अद्वितीय संगठन और सामर्थ्य के बल पर देश व्यापी विराट संगठन और आंदोलन खडा किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाधीनता की चिंता व विचार की दो मुख्य धाराएं ब्रिटिश साम्राज्यकाल में रहीं। एक धारा बृहत समाज की थी, जिसके सबसे सशक्त नेता गांधीजी हैं। दूसरी धारा भारत में क्रमश: पराये होते जा रहे अभिजन एवं शक्तिशाली जन हैं, जो आक्रमकों के प्रति विशेष समर्पण एवं दास्य भाव की एक लंबी परंपरा के वाहक हैं। स्पष्ट है कि भारत के स्वाधीनताको चाहनेवाले बृहत् समाज की मुख्य टक्कर इन अभिजनों से नहीं थी, अपितु पराधीन बनाने वाले साम्राज्य से थी। उस साम्राज्य को समझने से हमें इस दास्य भाव वाले अभिजन समुदाय के भी मानस के कारक तत्त्वों का कुछ अनुमान हो सकेगा।

आक्रमक अंग्रेज और उनका समाज तथा सभ्यता

सन् १५०० ई. के बाद से विश्वभर में यूरोपीय जातियां अपना प्रभाव बढाने लगीं और लगभग संपूर्ण गैर यूरोपीय विश्व को किसी न किसी रूप में अपने नियंत्रण या प्रभाव में लाने में सफल हुईं। यह सफलता यद्यपि उन्हें सोलहवीं शती ई. से ही मिल पाई, किन्तु उनकी अपनी सभ्यता-दृष्टि बहुत पहले से ऐसी ही रही है।

प्लेटो के समय से ही, यूरोपीय दृष्टि यह है कि थोडे से लोग, मुख्यत: एक चिंतक या उद्धारक, और उसके अंगरूप सच्चे शिष्य या अनुयायी तथा उन्हें मिलाकर बनी संस्था या निकाय, ये ही सत्य और संस्कृति के वाहक होते हैं। शेष समाज में सत्य और संस्कृति के सर्वोच्च रूप को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता और The good and the Beauty 'द गुड' और 'द ब्यूटी' की भी समझ नहीं होती, समझने की क्षमता नहीं होती। अत: यदि उनकी बुद्धि और मन पर नियंत्रण नहीं रखा गया तो बुराई फैलेगी, पाप फैलेगा, बर्बरता फैलेगी। इसलिए शक्ति का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। उसी से सभ्यता की रक्षा हो सकती है।

सभ्य वे हैं, जो शक्तिशाली हैं, शासक हैं। अपने समाज के शेष लोग बर्बर हैं। उन्हें दास बनाकर रखना चाहिए। तभी सभ्यता का विकास होता है, सुव्यवस्था संभव होती है। अपने अतिरिक्त अन्य समाज संपूर्णत: बर्बर होते हैं, अंधकार ग्रस्त होते हैं।

उन्हें अपने अधीन लाकर कुछ प्रकाश का संचार करना चाहिए। यह सम्पूर्ण पृथ्वी हमारे अपने द्वारा प्रकाश फैलाये जाने के लिए है। हमारे द्वारा विश्व के सभी समाजों का उद्धार होना है। उनका उद्धार इसमें है कि ये सभ्यता के 'टूल', औजार बन जाएं। इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है यूरोपीय शासकों के विचार व व्यवहार। विश्व के समाजों के उद्धार का अर्थ है उन्हें इस सभ्यता का औजार बनाया जाना।

अरस्तू ने स्पष्ट कहा है, 'संपत्ति मनुष्य का औजार है और स्वयं औजार मनुष्य की संपत्ति है। सभ्यता का अर्थ है संपत्ति की निरंतर वृद्धि, व्यवस्था और रक्षा। अपनी संपत्ति की रक्षा औजारों के द्वारा की जाती है। दास एवं सेवक भी ऐसे ही औजार हैं। उनसे काम लेते हुए संपत्ति बढाई जाती है।' इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है - संपत्ति विस्तार। शासकों यानी सभ्यों के अतिरिक्त शेष सबको संपत्ति का औजार बनाना है। यही सभ्यता का विस्तार है। समय एवं आवश्यकता के अनुसार औजार के रूप बदलते रहते हैं।

यहीं यह भी स्मरणीय है कि यूरोपीय शासक सामान्यत: अन्य समाजों को सीधे अपने द्वारा उद्धार योग्य नहीं मानते। ऐसे छोटे कामों के लिए उनके औजार या उनके अर्धविकसित लोग ही पर्याप्त हैं। सभ्य शासक इस उद्धार व्यापार का नियंत्रण-निर्देशन ही करते हैं। इसी दृष्टि के अंतर्गत १६ वीं शती ईस्वी में विविध ईस्ट इंडिया कंपनी बनायी गईं। जो लोग अपेक्षाकृत गरीब व मध्यम वर्ग के होते थे और जिनमें जोखिम उठाने का साहस व धन की अभिलाषा होती थी उन्हीं यूरोपीयों को शेष विश्व की खोज करने तथा वहां आधिपत्य जमाकर यूरोपीय सभ्यता का प्रकाश फैलाने भेजा गया। यहीं प्रसंगवश स्मरणीय है कि कार्ल मार्क्स ने भी यही माना था कि एशिया अफ्रिका के देशों के समाजों का उद्धार तो यूरोप का 'वर्किंग क्लास' - औद्योगिक श्रमिक वर्ग करेगा। कार्ल मार्क्स यूरोपीय सभ्यता के ही एक सबल प्रतिनिधि थे।

अपनी विश्व दृष्टि के प्रति आस्था, संकल्प और मनोबल से तथा उसके अनुरूप संस्थाएं-व्यवस्थाएं खडी करते हुए यूरोपीय विश्व में फैले साधन या शिक्षा या विज्ञान प्रौद्योगिकी की दृष्टि से वे उन दिनों विश्व के अन्य समाजों से पीछे ही थे, आगे नहीं। इस यथार्थ को न जानने के कारण हमारे बहुत से विद्वान भी तरह तरह के भ्रान्त निष्कर्षों पर पहुंचते रहते हैं। यहां हम भारत को सभ्य बनाने के लिए आगे बढकर सफल होने वाले इंग्लैंड के ही तथ्यों का इस दृष्टि से स्मरण कर लें।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के संदर्भ में सर्वप्रथम तो यही स्मरणीय है कि आधुनिक विज्ञान की अधिकांश उपलब्धियां मात्र एक सौ वर्ष पुरानी हैं - कार, वायुयान,

मोटरलारी, बिजली आदि एक सौ वर्ष पहले नहीं थे। रेल भी १५० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं हैं। १६ वीं शताब्दी में जब अंग्रेज भारत में अपना विस्तार कर रहे थे, उस समय तक इंग्लैंड में वहां की आवश्यकता की तुलना में बहुत कम लोहा होता था। स्वीडन, रूस, आदि से आयात कर वे काम चलाते थे। ब्रिटेन का कच्चा लोहा हल्के किस्म का था और १७०० ईस्वी के आसपास से पत्थर के कोयले का प्रयोग वे इस्पात बनाने के काम में करने लगे थे, पर वह कोयला भी घटिया किस्म का था। जे. एम. हीथ ब्रिटेन के एक उद्योगकर्मी थे। वे बाद में शेफील्ड में लोहे और इस्पात के एक प्रमुख निर्माता बने। पहले १८२४ ई. में उन्होंने लिखा – 'यह सुविदित है कि अपनी आवश्यकता के लिए वांछित लोहे के लिए इंग्लैंड पूरी तरह विदेशों पर निर्भर है। पिछले वर्ष मात्र इस्पात बनाने के लिए इंग्लैंड में १२ हजार टन से अधिक विदेशी लोहे का आयात करना पडा। ....हर वर्ष 'सोसायटी फार एनकरेजमेंट आफ आर्ट्स' इंग्लैंड में इस्पात बनाने के योग्य इंग्लिश लोहा तैयार किये जाने हेतु पुरस्कार देने की घोषणा करती है और आज तक उस पुरस्कार का कोई दावेदार नहीं हुआ। लगता है कि कभी कोई होगा भी नहीं। क्योंकि इंग्लिश कच्चा लोहा ऐसे ही स्तर का है और हमारा इंधन भी घटिया श्रेणी का है।'

'ड्रिल प्लाऊ' यानी वपित्र जो भारत में पुरातन काल से प्रयुक्त होता रहा है, यूरोप में पहले पहल सन् १६६२ ई. में आस्ट्रिया में प्रयोग में आया। इंग्लैंड में 'ड्रिल प्लाऊ' का पहला प्रयोग १७३० ईस्वी में हुआ, पर प्रचलन लगभग ५० वर्ष बाद सन् १७८० में हुआ। सिंचाई यूरोप में कभी अधिक नहीं थी।

ब्रिटेन में शिक्षा की दशा का भी स्मरण उपयोगी होगा

१३ वीं और १४ वीं शती ईस्वी में ब्रिटेन में आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग विश्वविद्यालय प्रारंभ हुए। १८ वीं शती ईस्वी के अंत तक ब्रिटेन में लगभग ५०० ग्रामर स्कूल थे। सोलहवीं शती ईस्वी के मध्य में वहां प्रोटेस्टेंट ईसाईयों ने सत्ता पर एकाधिकार किया था और अधिकांश कैथोलिक ईसाई मठों को बंद कर दिया तथा उनकी संपत्ति एवं आय राज्य के अधीन कर दी। तब से वहां शिक्षा एक अत्यंत सीमित वर्ग को ही दी जाती रही।

ए. ई. डाब्स के अनुसार प्रोटेस्टेंट क्रांति के पहले इंग्लैंड के गरीबों को पढने के लिए स्कूल की सुविधा थी। उनके अनुसार उन दिनों आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय एक ईसाई पंथ का धर्मार्थ शिक्षा केन्द्र था और इंग्लैंड का वह मुख्य ग्रामर स्कूल माना जाता था जहां ईसाई तत्त्व-ज्ञान, चिकित्सा एवं कानून पढाये जाते थे। किन्तु सोलहवीं शती

ईस्वी केमध्य से विपरीत प्रवृत्ति उभरी।

तब कुछ समय के लिए एक कानून बना कि अंग्रेजी में लिखी बाइबल चर्चों में नहीं पढी जानी चाहिए। कानून में प्रावधान था कि निजी तौर पर पढने का अधिकार उन नोबल्स को, कुलीनों को एवं व्यापारियों को है जो गृहस्वामी हैं, किन्तु कारीगरों, किसानों, मालियों, मजदूरों आदि के बेटों को नहीं है। इसका कारण यह बताया गया था कि धर्मग्रंथ बाइबल की मुक्त व्याख्या करके वहां अव्यवस्था फैलाने की कुछ कोशिश हो रही है। उन लक्षणों को दबाना है। तब कहा गया कि 'हल जोतने वाले के बेटे को हल पकडना चाहिए, कारीगर के बेटे को बाप का हुनर अपनाना चाहिए, कुलीनों की संतानों को राजकाज का ज्ञान प्राप्त कर कामनवेल्थ का शासन करना चाहिए। क्योंकि हमें सभी प्रकार के लोग चाहिए और (इसीसे) सबका स्कूल जाना आवश्यक नहीं।'

फिर १७ वीं शती ईस्वी केअंत से कुछ नई नीति अपनायी गई। साधारण लोगों के लिए कुछ चेरिटी स्कूल इस लिए खोले गए, ताकि श्रमिक वर्ग की चेतना को इतना तो उन्नत बनाया जा सके कि वे ईसाई धार्मिक निर्देशों को ग्रहण कर सके। विशेषकर वेल्स में ये चेरिटी स्कूल इसलिए खोले गये, ताकि, 'गरीबों को इतनी बाइबिल पढायी जा सके कि वे रविवारी प्रार्थना में सम्मलित हो सकें और धार्मिक निर्देश ग्रहण कर सकें।' पर ये चेरिटी स्कूल अधिक नहीं चले। फिर १७८० ई. के लगभग से 'संडे स्कूल मूवमेण्ट' शुरू हुए। उसमें भी लोकशिक्षण का मुख्य लक्ष्य ईसाइयत के प्रचार के ग्रहण करने योग्य अधिकाधिक लोगों को बनाना और हर बच्चे को बाइबिल पढने योग्य बनाना था। कुछ समय बाद डे स्कूलों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। १८३४ ईस्वी तक अच्छे राष्ट्रीय स्कूलों में भी पाठ्यक्रम मुख्यत: धार्मिक निर्देशों तक सीमित था। पढ पाना, लिख पाना और अंकगणित का सामान्य ज्ञान पाठ्यक्रम के लक्ष्य थे। कई स्कूलों में लिखना सिखाने की बात त्याग दी गई, क्योंकि भय था कि इसके बुरे, यानी राज्य के लिये हानिकारक, परिणाम हो सकते हैं।

१८०२ के एक कानून में यह विधान बना कि छोटे बच्चों को काम पर रखने वाले स्वामी लोग सात वर्षों की एप्रेण्टिसशिप की अवधि में सेवा लेने के साथ-साथ पहले चार वर्ष उन्हें पढना, लिखना और अंकगणित सिखाएं तथा धार्मिक निर्देश ग्रहण करने के योग्य बनाएं। रविवार को एक घंटा इन बच्चों को प्रार्थना सभा में पहुंचाया जाए। किन्तु यह कानून 'बहुत अलोकप्रिय हुआ। उसका प्रभाव अधिक नहीं हुआ।' तभी जोसेफ लंकास्टर द्वारा प्रयुक्त मानीटोरियल शिक्षणविधि अपनायी गई। इसमें एण्ड्रयू बेल का भी योगदान था। उन्हीं दिनों यह माना गया कि यह विधि भारत से ग्रहण की गई। उस विधि

से लोकप्रिय शिक्षा के कार्य को बहुत सहायता मिली। ब्रिटेन में १७९२ ईस्वी में स्कूलों में पढ रहे बच्चों की संख्या ४० हजार के लगभग बताई गई है। १८१८ ई. में यह संख्या ६,७४,८८३ तथा १८५१ ईस्वी में २१,४४,३७७ थी। १८०१ ई. में निजी और सार्वजनिक स्कूलों कि वहां कुल संख्या ३,३६३ थी तथा १८५१ ईस्वी में वह क्रमश: बढती हुई ४६,११४ तक जा पहुंची। प्रारंभ में शिक्षक बहुत सक्षम नहीं थे।

सार्वजनिक स्कूलों में प्रारम्भ में अत्यल्प छात्र थे। स्रूसबरी के प्रसिद्ध स्कूल में जनवरी, १७६७ ईस्वी में कुल तीन या चार लड़के थे। बहुत प्रयास करने पर और स्कूल का पुनस्संगठन करने पर एक वर्ष बाद यह संख्या २० तक जा पहुँची। १८५१ ईस्वी तक स्कूलों में गणित का नियमित अध्यापन नहीं होता था। छिटपुट अंकगणित सिखायी जाती थी।

सार्वजनिक स्कूलों की चाहे जो दशा थी, किन्तु आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग इंग्लैंड के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय थे। १७७३ ईस्वी के बाद वहां से भारत आने वाले विद्वान, यात्री, न्यायाधीश आदि इन्हीं विश्वविद्यालयों के शिक्षित जन थे। १८०० ईस्वी में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की स्थिति पर एक दृष्टि यहां उपयोगी होगी। कैम्ब्रिज और एडिनबर्ग में भी स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

सन् १८०३ में पहली बार आक्सफोर्ड में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई। इसके पहले साहित्य, विधि, संगीत, व्याकरण, दर्शन आदि के प्रोफेसर थे। साथ ही १६२४ ईस्वी में 'एनाटमी' के और १६६९ ई. में 'बॉटनी' के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई थी। उन्नीसवीं शती के आरंभ में आक्सफोर्ड से संलग्न १९ कोलेज और ५ सभा कक्ष थे। कालेजों में कुल ५०० फेलो थे, जिनमें से कुछ प्रत्येक कालेज में अध्यापन भी करते थे। कुल १९ प्रोफेसर (विभागाध्यक्ष) १८०० ई. में थे। १८५४ में इनकी संख्या २५ हो गई।

उन्नीसवीं शती ईस्वी के आरंभ में जो मुख्य विषय पढाये जाते थे, वे थे ईसाई पंथ विद्या (थिओलॉजी) एवं क्लासिक्स। 'लिटरेट ह्यूमेनिअर्स' नाम से क्लासिक्स की परीक्षा होती थी, जिसमें ग्रीक व लैटिन भाषा और साहित्य, मॉरल फिलोसॉफी, छन्द अंलकार शास्त्र एवं तर्क शास्त्र सम्मिलित थे। गणित, विज्ञान एवं भौतिकी के तत्त्वों से संबंधित प्रश्नपत्र भी परीक्षा में होते थे। विधि, चिकित्सा, भूर्गभ शास्त्र आदि पर व्याख्यान उपलब्ध थे।

१८०५ ई. के आगे इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या बढने लगी। उन्नीसवीं शती के आरंभिक वर्षो में कुल छात्र ७६० थे, १८२०-२४ में यह संख्या

१३०० तक जा पहुंची। कालेजों के पास अपनी संपत्ति थी, विशेषकर भूमि और विद्यार्थियों से प्राप्त धन।

विश्वविद्यालयों का काम इसी तरह के धन से चल रहा था। जहां ब्रिटिश, डच, पुर्तगाली और फ्रेंच लोगों के समूह सीधे या तो १६वीं-१७वीं शती में बनायी अपनी विविध ईस्ट इंडिया कंपनियों के नाम से भारतीय क्षेत्र एवं भारतीय महासागर-क्षेत्र में अपना प्रभाव, आधार, स्थिति सुदृढ करने में लगे थे, वहीं यूरोपीय विद्वान इस क्षेत्र की सभ्यता को समझने में निरंतर प्रवृत्त थे, ताकि उस ज्ञान से लाभ उठाकर इस सभ्यता को अपने हिसाब से ढाल सकें और प्रभावित कर सकें। इनमें विविध ईसाई मठों के पंथ प्रचारक एवं पंथाधिकारी प्रमुख थे, विशेषकर जेसुइट लोग। ये लोग भारतीय विज्ञान, सामाजिक प्रथाएँ, रीति रिवाज, तत्त्वज्ञान एवं धर्म-पंथों को समझने हेतु सक्रिय थे। कुछ अन्यों की रुचि अधिक राजनैतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक विषयों में थी। वे 'कथात्मक' एवं 'उत्तेजनापूर्ण' 'पूर्व' के अपने अनुभव और कथाएं लिखते थे । यूरोपीय अभिजातवर्ग में इस तरह की लिखित सामग्री की इतनी मांग बढी कि शीघ्र ही एक या एकाधिक यूरोपीय भाषाओं में ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रारंभ हो गया। जो वृत्तांत और विमर्श सीमित किन्तु विशिष्ट विद्वज्ज्नोचित उपयोग के थे, अथवा धार्मिक अभिप्राय के काम के थे, उनकी लगे हाथ अनेक प्रतिलिपियां तैयार होती थीं। उदाहरणार्थ, एक विदुषी ने डॉक्टरेट के अपने शोधग्रंथ 'एटूड सुर ल रोल देस मीसनरीज योरोपीन्स दान्स ला फार्मेशन प्रीमीयर्स देस इडीज सुर इ इन्दे' में बताया कि अठारहवीं शती के आरंभ की एक पांडुलिपि 'ट्रेट दे ला रीलीजन देस मलावार्स' की अनेक प्रतियां उपलब्ध हैं। उसकी पहली प्रतिलिपि पांडिचेरी में १६९९ से १७२० ईस्वी तक पेरिस फारेन मिशन के प्राकूरेटर रहे टेसीयर डे क्वेरले द्वारा १७०९ ई. में पूर्ण की गयी थी। वे १७२७ ई. में थाइलैंड के एपास्टालिक वाइकार नामांकित किये गये थे। इस पांडुलिपि की प्रतियां इन संग्रहालयों में उपलब्ध हैं - पेरिस में बीबिलयाथिक नेशनल में ३ प्रतियां, बीबिलयाथिक दे ल आर्सनल में एक प्रति, बीकिलयाथिक स्टे जेनेवी में एक प्रति, आर्काइव्स नेशनल्स में एक प्रति, चार्टर्स में बीबिलयाथिक म्युनिसिपेल में एक प्रति, जो कि पहले गवर्नर बेनाइ डूमा के पास थी, लंदन में इंडिया आफिस लाइब्रेरी में दो प्रतियाँ-एक कर्नल मैकेंजी के संग्रह में, दूसरी जान लेडेन के, रोम में एक प्रति (बीबिलयाटेका केसानटेसा, जिसमें वेटिकन कलेक्शन हैं)।

ऐसी संचित सामग्री के विशाल संग्रह के कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भारत एवं दक्षिणपूर्व एशिया की राजनीति, विधि शास्त्र, दर्शन विज्ञान और भारतीय गणित

ज्योतिष की ओर गया। वाल्टेयर, एबे रेनाल, जां सिलवां बैली जैसे यूरोपीय विद्वान लोगों के प्रभाव को ग्रहण कर ब्रिटेन में भी एडम फर्गुसन, विलियम राबर्टसन, जान प्लेफेयर और मैकनोची आदि ने भारतीय राज्य, राजनीति, समाज जीवन, सामाजिक सम्बन्ध आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त करने में गहरी रुचि दिखाई। अपने सुनियोजित प्रयास से वे सब क्रमश: भारतीय राज्य, राजनीति, एवं समाज व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव बढाते जाने में सफल होते गए। अपने प्रयोजन के अनुरूप वे भारत के बारे में जानकारी एकत्र करते रहे। इसी प्रक्रिया में चार्ल्स विलकिन्स, विलियम जोंस, एफ. डब्ल्यू. एलिस, लेफ्टिनेंट विलफोर्ड आदि ने भारतीय साहित्य का भी अध्ययन किया। ऐसा लगता है कि भारतीय ज्ञान, विद्वत्ता और विद्या केन्द्रों के प्रति तीन परस्पर पूरक, किन्तु दिखने में भिन्न, प्रवृत्तियां अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से ब्रिटिश विद्वानों में पनपीं। एक तो ब्रिटिश सत्ता की वृद्धि एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं के आधार पर यह जानकारी आवश्यक लगी, ताकि अंग्रेज अपनी राजनीति एवं अपने राजकीय कानूनों को भारतीय परंपराओं, धर्मग्रंथो आदि के अनुरूप बनाएं, भले ही इसके लिए कितनी भी दूर की कौडी लानी पडे। दूसरी धारा मैकनोची जैसे लोगों की थी। अमेरिका का अपना अनुभव ध्यान में रखकर ये सोचते थे कि पराजित भारत की सभ्यता बिखर जाएगी, प्राचीन ज्ञान परंपरा विनष्ट हो जायेगी इसलिये विशेषत: वाराणसी जैसे केन्द्रों में ज्ञान की जो भी प्रवृत्तियां एवं राशि विद्यमान है, उनका अभिलेख तैयार कर डालना ये लोग आवश्यक मानते थे। तीसरा प्रकार स्वयं ब्रिटन में अपने लोगों को मार-पीटकर, दबाकर, एक संस्थाबद्ध, औपचारिक, कानून को मानने वाली ईसाइयत के अधीन ले आया गया है, वैसा ही भारत में भी किया जाय और इसमें ईसाई मिशनरियों के लक्ष्य और प्रोपेगण्डा की सहायता की जाए, ताकि ईसाई 'प्रकाश' और 'ज्ञान' भारतीयों में फैलाया जा सके। इसके लिए विविध भारतीय भाषाओं का व्याकरण तैयार करना अत्यावश्यक कार्य समझा गया। विलियम विल्बरफोर्स के अनुसार इसका लक्ष्य-'पवित्र बाइबल का प्रचार देशी भाषाओं में करना था ताकि संक्षेप में भारतीय बिना जाने ही ईसाई हो जाएँ।'

ब्रिटिश समाज व्यवस्था

अपने ऐसे लक्ष्यों से साथ विश्व को अपनी सभ्यता के दायरे में ले आने अर्थात् उन्हें अपनी सभ्यता का औजार बनाने, अपनी संपत्ति बनाने के लिए संकल्पित एवं प्रयासरत ब्रिटिश शासकों द्वारा शासित उनका अपना समाज कैसा था, उनकी व्यवस्था क्या थी, संक्षेप में यह जानना भी आवश्यक है।

शताब्दियों तक ब्रिटिश भूमि पर बार बार आक्रमण होते रहे और प्रत्येक आक्रमणकारी समूह पहले के समुदायों को दास बनाता तथा नष्ट करता रहा। इस प्रकार ब्रिटेन को अनेक बार पराजय झेलनी पडी। अंतिम बार ग्यारहवीं शती ईस्वी में नार्मन जाति ने वहां आक्रमण किया और वहां के समाज को पराजित कर अपने अधीन कर लिया। नार्मनों ने अपने ढंग से नयी व्यवस्थाएं रचीं। उन्हीं व्यवस्थाओं का क्रमिक विकास आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्य के रूप में हुआ।

ब्रिटेन ने भारत में जो भी किया, वह उससे अधिक भिन्न नहीं है, जो ग्यारहवीं शती ईस्वी में नोर्मन विजय के बाद से ब्रिटिश राज्य ने अपने यहां करना शुरु किया और १९ वीं शती ईस्वी तक भी बहुत कुछ करना जारी रखा। १९ वीं शती ईस्वी से वही व्यवहार इंग्लैंड द्वारा आयरलैंड के साथ किया गया। १६ वीं, १७ वीं, १८ वीं शती ईस्वी में वही व्यवहार उत्तरी अमेरिका में किया गया। १८ वीं १९ वीं शती ईस्वी में संयुक्त राज्य अमेरिका में भी ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारियों ने वे ही सब तरीके अपनाए। बल्कि, एक अर्थ में कहा जाना चाहिए कि भारत की व्यापकता-विशालता के कारण, यहां निवास करने वालों की जनसंख्या की सघनता के कारण अथवा भारतीय जलवायु एवं परिवेश बडे पैमाने पर औपनिवेशीकरण के उपयुक्त नहीं होने के कारण, ब्रिटेन ने भारत में जो किया, वह अधिक दिनों तक किया गया क्रूर दमन तो था, पर स्वयं ब्रिटेन में की गई तीव्र क्रूरता से अधिक नहीं था, शायद कुछ कम ही था। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में सन् १८१८ ईस्वी तक मृत्युदंड का प्रावधान २०० से अधिक अपराधों में से प्रत्येक प्रकार के अपराध पर विधि-विहित था, इनमें ५ शिलिंग से अधिक मूल्य की कोई भी वस्तु चुराने का अपराधी भी सम्मिलित था। इसी प्रकार लगभग १८३० तक ब्रिटिश सैनिकों को कोई गंभीर मानी जाने वाली गलती करने पर (विशेष रूप से तैयार) ४००-५०० कोडे लगाये जाने की बात सामान्य थी।

नार्मन विजय के बाद इंग्लैंड में जो जो हुआ, उसके विस्तार में जाने का यहां अवसर नहीं है। किन्तु सन् १३८५ के आसपास हुए किसान विद्रोह की याद प्रासंगिक होगी। १३८५ में इंग्लैंड में बहुत बडी मात्रा में किसान विद्रोह हुए। देशभर में किसानों की क्षेत्रीय फ्यूडल लार्डस से तथा अन्य अधिकारियों से लडाई हुई। फिर किसानों ने लंदन को घेर लिया। राजा को सन्धि करनी पडी। फिर बाद में राजा ने छल-घात से किसानों को बातचीत के लिए बुलाया और सेना से घिरवाकर कईयों को मरवा डाला तथा विद्रोह को कुचल दिया। इसी प्रकार सोलहवीं शती ई. के आंरभ में वहां ‘एनक्लोजर मूवमेंट’ चला। हजार-पांच सौ एकड के क्षेत्र के बाडे घेरकर उस दायरे से छोटे किसानों को भगा

दिया जाता था तथा बडे फार्म स्थापित किये जाते। भगाये हुए किसान मुक्त बाजार में सस्ती मजूरी के लिए सुलभ होते और दर-दर भटकते। इन्हीं बडे खेतों में इस प्रकार खेती एवं भेड पालन कर 'सरप्लस' पैदा किया गया व ऊन उद्योग विकसित किया गया। इसे ब्रिटिश पूंजी के निर्माण का महत्त्वपूर्ण अभियान माना जाता है। अनेक कानून बनाकर किसानों से जमीन छीनने को वैधानिक रूप दिया गया। ईसाई मठों आदि की संपत्ति भी छीनी गई और इस प्रकार एक सशक्त राज्य का निर्माण आरंभ हुआ।

आयरलैंड के इंग्लिश एटार्नी जनरल सर जान डेविस ने १६१० ईस्वी में आयरलैंड में अधिक प्रभावी नीति अपनाने का सुझाव देते हुए कहा,

'आयरलैंड की विजय को परिपूर्ण बनाने में दो कमियां सामने आईं। एक तो विद्रोहियों को पर्याप्त कठोरता से नहीं कुचला, दूसरे नागरिक प्रशासन में ढील बरती गई। जमीन मालिक पहले जमीन को तोडता है। तभी वह जमीन अच्छे बीज के लायक बन पाती है। पूरी तरह जमीन तोडकर और आवश्यक खाद आदि देकर, फिर यदि समय पर अच्छे बीज न बोये गये, तो खरपतवार उग आती है। अत: किसी बर्बर देश को पहले युद्ध से तोडा जाना चाहिए। तभी वह अच्छे शासन के योग्य बनता है। जब वह पूरी तरह जीत कर अधीन बना डाला जाय, तब उस पर एक शक्तिशाली सरकार थोपी जानी चाहिए, नहीं तो वह बर्बर दशा में लौट जायेगा।'

इस प्रकार अंग्रेज इंग्लैंड और आयरलैंड में अपनी सभ्यता के आदर्शों के अनुरूप व्यवस्था रचते रहे। किसानों की कृषि भूमि छीन लेना, उन्हें विस्थापित करना, सेवकों को ३-४ सौ तक कोडे बात-बात में फटकारना, छोटी-छोटी चूकों के लिए कठोर दंड देना, मजदूरी की दरें बहुत कम रखना, किसानों से कुल उपज का ५० से ८० प्रतिशत राजस्व के रूप में लेना, शिक्षा को विशिष्ट वर्ग का अधिकार मानना, राजनीति पर और शासन पर कुलीनों भर का अधिकार करना, फौज के पदों की भर्ती सरकारी रेट या बोली के अनुसार धन लेकर करना आदि १९ वीं शती ई. तक ब्रिटिश समाज व्यवस्था के मुख्य लक्षण थे। राष्ट्र के समस्त साधन स्रोत राज्यकर्ता वर्ग की संपत्ति हैं। उस संपत्ति को सभ्यता का औजार बनना है। शासकों के विचार एवं व्यवहार ही सभ्यता है। अपने समाज को सभ्य बनाने के साथ ही विश्व को भी सभ्य बनाना है - यह उनका लक्ष्य था। अपने इसी लक्ष्य के अनुरूप वे भारत आए और यहां योजनानुसार बढे। हमारा नवप्रबुद्ध वर्ग उनकी सभ्यता के इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति का औजार बना। उसी सभ्य बनने की प्रक्रिया में भारतीय स्वाधीनता खो दी गई। बाद में खोई हुई स्वाधीनता की चिंता में नवप्रबुद्ध वर्ग द्वारा यूरोपीय अधीनता को अधिकाधिक चाहा गया तथा स्वीकार किया जाता रहा। यह अधीनता-विस्तार ही सभ्यता-विस्तार कहा गया।

२. यूरोप से टकराव के पूर्व

यह स्पष्ट है कि हमारा शक्तिशाली वर्ग भारतीय समाज को जो दिशा देना चाहता है या देने की बात करता रहा है, उसका तर्क और औचित्य वह एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्याख्या में देखता है जिसके अनुसार इधर शताब्दियों से हम अंधेरे और अज्ञान में गिरे थे, हमारा अपना राज्य नहीं था, परस्पर सम्बन्ध पर्याप्त नहीं था, हमारी सामाजिक इकाइयां अपने अपने में अलग अलग कटी पडी रहती थीं, विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हम बहुत पीछे थे, शिक्षा मुट्ठी भर लोगों तक और विशिष्ट समूहों तक सीमित थी। हम एक असंगठित, गतिहीन समाज थे। इस्लाम की टकराहट से कुछ प्राण आते दिखे, पर उसमें मात्र भक्ति आंदोलन उभरा, विद्रोह हुआ। मुख्य धारा बिखराव, असंगठन, परस्पर भेदभाव, शोषण और गतिहीनता की ही रही। यूरोप की स्थिति इससे उलटी थी। वहां गतिशीलता थी, अपेक्षाकृत समता एवं समृद्धि थी, इसी से संगठन था और इसी से वे जीत गए, हम हार गये।

यह मान्यता सत्ता का हस्तान्तरण सम्हाल रहे जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सक्रिय समूह भर की नहीं रही है। जैसा हम पहले स्मरण कर चुके हैं, यह मान्यता बहुत गहराई तक प्रविष्ट कराई जा चुकी थी और ब्रिटिश राज में जिन लोगों को शक्तिशाली रहने दिया गया या जो किसी भी रूप में शक्तिशाली बन पाए, उनमें ऐसा एक भी संगठित समूह नहीं दिखता, जो सोलहवीं, सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी ईस्वी के भारत को उस समय के यूरोप से अधिक अलोकतांत्रिक, विषमताग्रस्त, पिछडा, गतिहीन, मानवीय गुणों में घटकर और अज्ञानता से त्रस्त न मानता हो। जिन लोगों ने भारतीय शिल्प, उद्योग या शिक्षा की दिशा के विनाश के बारे में लिखा, वे भी इसके निहितार्थों को बहुत स्पष्ट नहीं समझ पाए। माहात्मा गांधी ही इसमें अपवाद दिखते हैं। किन्तु उनके जाने के बाद गांधीवादी संगठित समूहों में वह दृष्टि लगभग अनुपस्थित दिखती है। भारत की हीनता की बात गांधीवादियों में सर्वमान्य ही दिखती है। पुरानी श्रेष्ठता का सबका आग्रह या अभिमान है। परंतु हार के मूल में हमारी हीनता और विषमता ही कारण थी, इस पर नये प्रबुद्ध समूहों में लगभग सर्वानुमति है। कुछ लोगों ने

इसका कारण संगठन के अभाव को माना। पर, उसका अधिक विचार वे भी सामने नहीं रख पाए। किस तरह के संगठन का अभाव था, क्या अब उस अभाव की पूर्ति यूरोपीय संगठन से की जानी है, भारतीय मानस, इतिहास और वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहां तक संभव होगी, इन सब बातों पर कोई संतोषप्रद विचार हुआ नहीं। श्री विनायक दामोदर सावरकर ने भारतीय पराजय का कारण सद्‌गुण विकृति को बताया। परंतु सद्‌गुण संस्कृति क्या होगी, अब उसका राष्ट्रीय रूप क्या बनेगा, इस पर उनका लेखन व भाषण अत्यंत विखंडित और परस्पर विरोधी है। कुछेक यूरोपीय दुर्गुण हम भी अपना लें, तो बात बन जाए, ऐसा उनका प्रतिपादन दिखता है।

ये सब तो विश्लेषण के बिन्दु हैं। इनसे पहले स्थान तथ्यों का है। अत: सर्वप्रथम हमें उन तथ्यों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक भारतीय समाज में शिक्षा, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, व्यापार, श्रम, वेतन, मजूरी, सामाजिक संबंध समेत संपूर्ण सामाजिक संगठन की क्या स्थिति थी, इसे समेटने के कुछ प्रयास मैंने विज्ञान-प्रौद्योगिकी एवं शिक्षा से संबंधित अपनी पुस्तकों 'इंडियन साइन्स एंड टेक्नोलोजी इन दी एटीन्थ सेंचुरी' और 'ब्यूटीफुल ट्री' में तथा कुछेक लंबे आलेखों-निबंधो में एवं व्याख्यानों में किये हैं। यहां संक्षेप में उनका स्मरण उचित दिखता है।

शिक्षा

भारत में शिक्षा की आवश्यक नीति क्या अपनाएं, यह निर्णय करने के पहले अंग्रेजों ने तत्कालीन स्वदेशी शिक्षापद्धति के कुछ सर्वेक्षण कराए। भारत का एक बडा भाग बारहवीं शती ईस्वी से लगातार इस्लाम - अनुयायियों के आक्रमण से टकरा रहा था। युद्धरत समाज की समाज व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था तथा अर्थ व्यवस्था बहुत अस्तव्यस्त होती, बिखरती और अस्वस्थ होती रहती है यह सर्वविदित है। अत: अठारहवीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में हुए सर्वेक्षण उस क्षयशील, बिखर रही, कमजोर दशा के ही सूचक हैं, यह ध्यान रखते हुए ही इनका स्मरण करना चाहिए।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में स्वदेशी शिक्षा की क्या दशा थी, इसका अंग्रेजों द्वारा किया गया सर्वेक्षण सन् १८२० एवं १८३० के दशक में वहां की वास्तविक दशा का संक्षिप्त विवरण है। मुख्यत:१८२२-२५ में यह सर्वेक्षण हुआ। तत्कालीन मद्रास प्रेसीडेन्सी में वर्तमान पूरा तमिलनाडु, वर्तमान आंध्रप्रदेश का अधिकांश भाग और वर्तमान कर्नाटक प्रांत के कुछ जिले व केरल के मलाबार जिला व उडीसा में गंजाम जिला सम्मिलित थे।

इसके पहले सन् १७९० ईस्वी की, बंगाल के नवद्वीप विश्वविद्यालय की एक रिपोर्ट है, जिसके अनुसार वहां ११०० विद्यार्थी और १५० अध्यापक उन दिनों थे। सन् १८३० से १८४० ईस्वी के मध्यबंगाल की शिक्षा की स्थिति के बारे में विलियम एडम की पहली रिपोर्ट १८३५ में आई और दूसरी तथा तीसरी १८३८ ईस्वी में।

एडम का यह सर्वेक्षण इस अनुमान को मानकर चला कि बंगाल और बिहार की उन दिनों कुल जनसंख्या लगभग ४ करोड थी और विद्यमान स्कूलों की संख्या एक लाख थी। अर्थात् हर ४०० व्यक्तियों पर एक स्कूल। इस पर अनुमान लगाते हुए एडम ने लिखा कि औसतन हर ६३ लडकों के लिए एक स्कूल बंगाल-बिहार में है। उसका कहना था कि इन दोनों प्रांतो में सरकारी आंकडों के अनुसार १,५०,७८४ गांव हैं। इनमें से अधिकांश में एक एक स्कूल है। पर अधिक से अधिक लगभग एक तिहाई गांवो को स्कूलों के बिना मान लिया जाय, जो एडम के अनुसार 'अधिकतम कल्पना' है, तो भी एक लाख स्कूल तो अवश्य ही होंगे, ऐसा उनका अनुमान था। एडम ने लिखा कि गरीब से गरीब परिवारों के बच्चे स्कूल जाते हैं और उनके माता-पिता इस ओर ध्यान रखते हैं। इस रिपोर्ट में एडम ने लिखा कि ये स्कूल देशी लोगों की जीवनशैली और सामाजिकता का अंतरंग अंग है। प्राय: गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर में या उसके समीप या स्वयं किसी गुरु के ही घर में स्कूल चलते हैं। ११ वर्ष की वय तक उनकी प्राथमिक पढ़ाई पूरी हो जाती है। एडम ने इस शिक्षा की विधि का विवरण भी दिया कि पहले ८-१० दिन स्लेट पर या भूमि पर अंगुलियों से स्वर-व्यंजन लिखना सिखाया जाता है। फिर पेंसिल या सफेद मिट्टी (खडिया) से। फिर ताड-पत्र पर भरूई की लेखनी से। स्याही बनाने की देशी विधि भी उसने लिखी। व्यंजनों को जोड़ना, शब्द बनाना, वर्णोच्चार सीखना, गिनती सीखना, भार एवं माप की गिनती सीखना, विशिष्ट व्यक्तियों, वस्तुओं एवं स्थलों के नाम लिखना सीखना आदि साल भर में सिखा दिया जाता है। आगे अंकगणित, खेत की नाप-जोख, खेती एवं वाणिज्य सम्बन्धी लेखा व कस्बों-शहरों में व्यापार वाणिज्य तथा आख्यान लेख अधिक सिखाया जाता है। फिर कुछ कवितायें तथा आख्यान लिखना और याद रखना। एडम को इस पर चिंता थी कि वैसी कोई स्पष्ट नैतिक शिक्षा यानी 'रीलिजस' शिक्षा यहां इन स्कूलों में नहीं दी जाती, जैसी इंग्लैंड में उन दिनों दी जा रही थी। इससे उसका अभिप्राय ईसाई मान्यताओं के प्रचार के अभाव से था। वह अभाव एडम को खटक रहा था।

विलियम एडम से वर्षों पहले, मद्रास के गर्वनर सर थामस मुनरो ने मद्रास प्रेसीडेन्सी के बारे में यही कहा कि ऐसा लगता है कि वहां हर गांव में एक स्कूल है। सन्

१८२० ई. के आसपास बम्बई प्रेसिडेन्सी के बारे में वहां के एक वरिष्ठ अफसर जी. एल. प्रेंडरगास्ट ने कहा कि 'हमारे क्षेत्र में शायद ही कोई छोटा-सा भी गांव ऐसा हो जहां एक स्कूल नहीं है। १८८२ ईस्वी में डॉ. जी. डब्ल्यू, लिटनर ने पंजाब की सन् १८५० की स्थिति के बारे में लिखा कि अंग्रेजी आधिपत्य में आने से पहले पंजाब में भी लगभग हर गांव में एक स्कूल था।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में शिक्षा की स्थिति के बारे में जानकारी एकत्र करने हेतु गर्वनर थामस मुनरो ने एक निर्देश राजस्व-कलक्टरों को सन् १८२८ में प्रसारित किया उसके आधार पर राज्य-मुख्य सचिव डी. हील ने बोर्ड आफ रेवन्यू के अध्यक्ष व सदस्यों को एक पत्र लिखा। उस पर से कलेक्टरों की रिपोर्टें आयीं। उनमें विद्यालयों की संख्या, उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति एवं व्यवस्था की रूपरेखा, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की संख्या, उनकी सामाजिक स्थिति, जाति आदि, तथा पढाए जाने वाले विषय, पुस्तकें व अध्यापनविधि और छात्रों-अध्यापकों का योग्यतास्तर आदि विवरण थे। गंजाम और विजगापटनम के कलेक्टरों ने लिखा कि जो तथ्य वे भेज रहे हैं, वे भी अभी पूरे नहीं हैं, अधूरे ही हैं। और तथ्य अभी एकत्र होने हैं। दो कलेक्टरों ने घर पर पढ रहे बच्चों की भी जानकारी दी। मलाबार के कलक्टर ने वहां के १५९४ विद्वानों की विस्तृत सूची भेजी जो धर्मशास्त्र, विधि, गणित, ज्योतिष, तत्त्वज्ञान, नीतिशास्त्र एवं आयुर्वेद मे अपने गुरुओं के घरों में (स्कूलों व कालिजों में नहीं) निजी तौर पर अध्ययनरत थे। फरवरी, १८२६ में मद्रास के कलेक्टर ने रिपोर्ट भेजी की उसके क्षेत्र में २६,९६३ विद्यार्थी अपने घरों में पढ रहे हैं। मद्रास के कलेक्टर की पहली रिपोर्ट में पढ रहे बच्चों की संख्या ५,६९९ दी गई है।

कलेक्टरों की रिपोर्ट मिलने पर मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार ने १० मार्च १८२६ को उनकी समीक्षा की और गवर्नर सर थामस मुनरो ने निष्कर्ष-टिप्पणी की कि '५ से १० वर्ष आयु समूह के प्रेसीडेन्सी के कुल लडकों का लगभग एक चौथाई हिस्सा स्कूलों में शिक्षा पा रहा है। घर पर पढ रहे बच्चे इसके अतिरिक्त हैं। घर पर पढ रहे बच्चो की संख्या मिलाने पर कुल लगभग एक तिहाई के करीब छात्र पढ रहे हैं, ऐसा निष्कर्ष निकलता है।'लडकियों की स्कूली शिक्षा की कमी के बारे में थामस मुनरो ने यह स्पष्टीकरण दिया कि उनकी पढाई मुख्यत: घरों में होती है।

विद्यार्थियों की जातिवार संख्या का विवरण उस बहुप्रचारित एवं प्रतिष्ठित मान्यता को ध्वस्त करता है, जो हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग में विगत १०० वर्षों से अधिक समय से गहरी होती गई है कि भारत में शिक्षा हिन्दुओं में मुख्यत: द्विजों तक सीमित थी

और मुसलमानों में प्रतिष्ठित घरों तक ही। प्रस्तुत आँकडे तो इससे विपरीत तथ्य ही प्रकट करते हैं। तमिल भाषी क्षेत्रों में दक्षिणी अर्काट में वहां पढ रहे कुल बच्चों में १३% द्विज कही जानी वाली जातियों के हैं और मद्रास में २३%। वहीं शूद्र कही जाने वाली जातियों के स्कूल में पढ रहे छात्रों की संख्या क्रमश: ७६.१९ एवं ६८.६२ प्रतिशत है। सेलम में तथाकथित शूद्रों एवं अन्य द्विजेतर या वर्णोत्तर (पंचम वर्ण) जातियों के स्कूली बच्चों की संख्या ६६.७६ प्रतिशत है जबकि तथाकथित द्विजों की लगभग १५%। चिंगलपेट में शूद्र माने जाने वाले जाति समूहों के छात्र ७१.४७% हैं, तंजौर में ६१.१७%। तथाकथित पंचम वर्ण एवं शूद्र मिलाकर गैरद्विज जातियों के बच्चे दोनों स्थानों में क्रमश: ७८ एवं ७५ प्रतिशत से कुछ अधिक हैं। तिन्नेवेल्ली में उन दोनों की संख्या ८१% से अधिक है। मलाबार में तथाकथित द्विज छात्र २०% से भी कम हैं और तथाकथित शूद्र तथा अवर्ण जातियों के ५४ प्रतिशत के लगभग । कन्नड भाषी बेल्लारी में तथाकथित द्विज जाति के छात्रों की संख्या अधिक है -३३% तक, पर वह संख्या भी शूद्रों एवं अवर्ण जातियों के ६३ प्रतिशत से लगभग आधी है। उडिया भाषी गंजाम जिले में प्राय: ऐसी ही स्थिति है। मात्र तेलुगुभाषी क्षेत्र में द्विज छात्रों की संख्या तथाकथित शूद्रों एवं अवर्ण के पढ रहे बच्चों की संख्या से कुछ अधिक है। विजगापट्टनम में ब्राह्मण लडके ४६% हैं, तथा शूद्र एवं अवर्ण छात्र मिलाकर लगभग १% हैं, नेल्लोर में ब्राह्मण लडके ३२.६१% हैं और शूद्र तथा अवर्ण लडके ३७.५४ प्रतिशत। कडप्पा में ब्राह्मण छात्र २४% हैं तथा शूद्र एवं अवर्ण छात्र ४१%।

स्कूल में पढ रही लडकियों की संख्या बहुत कम है। जो लडकियां पढने जाती थीं, उनमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य लडकियों की संख्या कम होती थी, शूद्र एवं अन्य अवर्ण जातियों की लडकियों की संख्या कुछ अधिक। मलाबार क्षेत्र में स्कूल में पढ रही लडकियों की संख्या अपेक्षाकृत अच्छी है। वहां मुसलमान लडकियों की संख्या भी अपेक्षाकृत बहुत ऊंची है।

जबकि मुस्लिम लडकों की संख्या ३१९६ थी, उस समय मुस्लिम लडकियों की संख्या ११२२। इतना ऊंचा अनुपात तो १९२० व १९३० ईस्वी में भी नहीं रहा होगा।

बंगाल के पांच जिलों को लेकर इस विषय में ऐडम की जो रिपोर्ट है, वह अधिक विस्तृत है और उसमें छात्र, शिक्षक, विषय, पुस्तकें एवं विद्याव्यवस्था से संबंधित सामग्री का विस्तार है। उससे बंगाल में शिक्षकों की जातियों का परिचय भी मिलता है और फिर यह स्थापना ध्वस्त होती है कि अध्यापन पर ब्राह्मणों का एकाधिकार है। एडम

की रिपोर्ट से छात्रों की जातीय संरचना के बारे में भी वही तथ्य मिलते हैं, जो मद्रास प्रेसीडेन्सी की रिपोर्ट में हैं, यानी शूद्र और तथाकथित अन्त्यज जातियां डोम, चांडाल, जालिया, ब्याघा, ढांगर के छात्र भी इन विद्यालयों में पढते ही हैं। इनमें ब्राह्मण, राजपूत, क्षैत्री, कायस्थ के साथ साथ कैवर्त, सुवर्णबनिक, ताँती, सुनरी, तैली, मैरा, अगुरी, सद्गोप, गंधबनिक, वैद्य, सुनार, कमार, बरई, स्वर्णकार, नापित, ग्वाला, तमौली, कहार, डोम, कैरी, मागध, कुम्हार, कुर्मी, युगी, दैवज्ञ, चांडाल, जालिया, पासी, धोना, भट्ट, माली, कलवार, लुनियार, खटिक, बढ़ई, माला, अगरदानी, ओसवाल, कांडू, माटिया, धनूका, दुसाध, गरेरी, कलाल, कंसारी, चूडिहार, मुशहर, केवट, पुनरा, केलदार, बहेलिया, भूमिया, कौरी, धूलिया, ब्यौधा, ढांगर, संथाल, तिवाड़, कुन्यार, आदि आदि जातियों के छात्र हैं।

स्पष्ट है कि शिक्षकों में वे जातियां भी सम्मिलित हैं, जिन्हें अस्पृश्य बताया जाता है। कायस्थ शिक्षकों की संख्या ब्राह्मणों से अधिक है। साधारण स्कूलों में पढाई जाने वाली पुस्तकें एडम की रिपोर्ट में वर्णित हैं। इनमें साहित्य में रामजन्म व सुंदरकांड (रामचरितमानस), आदिपर्व (महाभारत), सूर्य पुराण (पुराण अंश), गीत गोविंद, हितोपदेश (संस्कृत), नीतिकथा (बांगला), दान लीला, गुरु वंदना, सरस्वती वंदना, दाता कर्ण, गंगा वंदना, नीति वाक्य आदि; व्याकरण में शब्द सुनंत, अमरकोष, अष्टधातु, अष्टशब्दी आदि गणित में शुभंकर, और उग्र बलराम; ज्योतिष में ज्योतिष विवरण, दिग्दर्शन आदि सम्मलित हैं। इससे आगे के अध्ययन में पाणिनीय अष्टाध्यायी, पतंजलि का महाभाष्य, सिद्धांत कौमुदी, सिद्धांत मंजूषा, लघु कौमुदी, सरस्वती प्रक्रिया आदि व्याकरण ग्रंथ, शाकुंतल, रघुवंश, नैषध, कुमार संभव तथा भट्टि, माघ, दंडी, भारवि आदि की साहित्यिक रचनाएं तथा काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण आदि काव्य विवेचन ग्रंथ, तिथि तत्त्व, प्रायश्चित्त तत्त्व, शुद्धि तत्त्व, श्राद्ध तत्त्व, आह्निक तत्त्व, समयशुद्धि तत्त्व, ज्योतिष तत्त्व, प्रायश्चित्त तत्त्व विवेक, मिताक्षरा, श्राद्धविवेक, विवाह तत्त्व, दाय तत्त्व आदि विधि ग्रंथ एवं वेदांत, सांख्य, मीमांसा, तंत्र, तर्कशास्त्र, गणित, फलित ज्योतिष आदि के ग्रंथ पढाये जाने का विवरण है। फारसी और अरबी स्कूलों में गुलिस्तां शाहनामा, युसुफ और जुलेखा, अल्लामी, सिराजिया, हिदाया, मिसकातुल, मिसाबी, मीजान, मिसवा, काफिन्या, तहजीब, कुरान आदि पढ़ाये जाने का विवरण है। फारसी-अरबी स्कूलों में मुसलमान शिक्षकों के साथ ब्राह्मण, कायस्थ, दैवज्ञ और गंध बनिक जाति के भी शिक्षक हैं और छात्र भी विविध हिन्दू जातियों के तथा मुसलमान हैं। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि बंगाल-बिहार में बांगला, हिन्दी एवं संस्कृत तथा मद्रास

में क्षेत्रानुसार तमिल, तेलुगु, कन्नड एवं उडिया तथा संस्कृत शिक्षा का माध्यम थीं। उस प्रकार लिटनर की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि पंजाब में शिक्षा का माध्यम थीं पंजाबी, हिन्दी एवं संस्कृत। लिटनर ने पंजाब की शिक्षा के विवरण देते हुए लिखा कि यहां भी देश के अन्य हिस्सों की तरह विद्या का सम्मान है। ऐसा एक भी मंदिर, मस्जिद या धर्मशाला नहीं, जहां एक स्कूल न हो। हर ग्रामीण अपने यहां के शिक्षकों को अपने उत्पादन का एक अंश देने में गर्व का अनुभव करता है, यह भी लिटनर ने लिखा है। लिटनर ने पंजाब में पांच तरह के स्कूल-वर्ग गिनाए। १. गुरुमुखी स्कूल २. मकतब-मदरसा और कुरान स्कूल ३. चटसाल, पठशाला एवं सेकुलर हिन्दू स्कूल ४. मिश्रित शिक्षा-संस्थाएं-फारसी, वर्नाकुलर और एंग्लो वर्नाकुलर स्कूल तथा ५. सिखों, मुसलमानों एवं हिन्दुओं की लडकियों के स्कूल। इनमें से हिन्दू लडकियों को घर पर ही पढाया जाता था, यह लिटनर ने लिखा। लिटनर ने हिसाब लगाकर लिखा कि १८५० ईस्वी में पंजाब पर ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व कम से कम ३ लाख ३० हजार छात्र-छात्राएं पंजाब में पढ रहे थे। जबकि १८८२ में एक लाख नब्बे हजार के लगभग ही पढ रहे हैं। पढाये जाने वाले विषयों का जो विवरण उन्होंने दिया, उनमें गणित, व्याकरण, ज्योतिष, तर्क, आयुर्वेद, विधि, दर्शन और संस्कृत साहित्य के प्राय: वे ही ग्रंथ हैं, जो मद्रास या बंगाल में। क्षेत्रीय साहित्य की पुस्तकें, कथा-कहानी, नाटक, नीतिकथा आदि अंशत: प्रत्येक क्षेत्र में प्राय: स्थानीय होती थीं। इस प्रकार शिक्षा का अखिल भारतीय और स्वाभाविक क्षेत्रीय रूप साथ साथ दिखता है।

शिक्षा के ये विवरण स्पष्ट करते हैं कि भारत उन दिनों शिक्षा की दृष्टि से हीन नहीं था और महात्मा गांधी का सन् १९३१ में लंदन की एक विशिष्ट सभा में कहा गया यह कथन पूर्णत: प्रामाणिक था कि अंग्रेजी राज्य में भारत में शिक्षितों की संख्या घटी है क्योंकि अंग्रेजो ने स्वेदशी विद्या के 'सुंदर वृक्ष' की जडों को खोदकर देखा और फिर वे खुदी हुईं जड़ें खुली ही रहने दीं।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

यह एक बहुप्रचारित मान्यता हो गई है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हमारे पिछडेपन और ब्रिटेन के आगे बढे होने के कारण हम ब्रिटेन से हार गए और इस प्रकार ब्रिटेन की जीत दूसरों को नष्ट कर डालने और रूपांतरित कर अपने अनुकूल बनाने को सन्नद्ध राजनीति और दृष्टि की जीत नहीं रह जाती, अपितु अधिकांश नवप्रबुद्ध भारतीयों की दृष्टि में वह सत्य और प्रगति की खोज में समर्पित विज्ञान और प्रौद्योगिकी की

मानवीय विजयगाथा बन जाती है। अत: यथार्थ स्थिति को जानना आधारभूत बात है। आज तो उस दिशा में कुछेक विद्वानों ने प्रयास किया है और तथ्यों की जानकारी बढ रही है।

लोहा और इस्पात भारत में बहुत प्राचीन काल से उत्पादित हो रहा है। विश्व भर में उसकी ख्याति थी और उसकी उत्कृष्टता प्रसिद्ध थी। उत्तर प्रदेश के अतिरंजन खेडा जैसी जगहों में कम से कम १२ वीं शती ईसा से पूर्व से लोहा ढाला जा रहा था, यह अब अनेक लोगों को ज्ञात है। किन्तु अठारहवीं शती ईस्वी में भारत में यह उद्योग कितना फल-फूल रहा था, इसकी तकनीकी कितनी परिष्कृत थी, यह बहुत कम लोगों को आज याद है।

सन् १७९४ में डॉ. एच. स्काट ने ब्रिटिश रायल सोसायटी के अध्यक्ष सर जे. बैंक्स को भारतीय 'वुटज' इस्पात का एक नमूना भेजा। इंग्लैंड के अनेक विशेषज्ञों ने उसका विस्तृत परीक्षण किया। तब पाया गया कि उन दिनों ब्रिटेन में जो सर्वोत्तम इस्पात प्रयोग में आ रहा है, उससे इस भारतीय इस्पात का साम्य है। उसकी मांग हुई और यह मांग बढती रही। उसकी तकनीकी विशेषता पर पहले अंग्रेजों को संशय रहा। वे भारतीय कच्चे लोहे की विशेषता मानते रहे, पर भारतीय तकनीकी को अविकसित बताते रहे। कई वर्षों के बाद उन्हें उस तकनीकी की भी उत्कृष्टता ध्यान में आई। जे. एम. हीथ ने लिखा, 'भारतीय इस्पात-निर्माण की प्रक्रिया में, ऐसा लगता है कि एक बन्द पात्र में पिघले लोहे को कार्बनीकृत हाईड्रोजन गैस से अति उच्च तापमान में गुजारने पर कार्बन संयोग से लोहा इस्पात में बदलने की विधि का प्रयोग किया जाता है। इससे इस्पात बनने में समय कम लगता है, जबकि ब्रिटेन में प्रचारित पुरानी विधि में १४ से २० दिन लगते हैं। ....भारतीय लोग ढाई घंटे में ही लोहे को इस्पात में ढालने में समर्थ हैं और वह भी इंग्लैंड में प्रयुक्त ताप से कम मात्रा में ताप का प्रयोग करते हुए।' यद्यपि हीथ यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारतीयों को रसायन-शास्त्र के उस सिद्धांत का भी ज्ञान हो सकता है, जो कि इंग्लैंड में ताप द्वारा लोहे को इस्पात में ढालने के आधार के रूप में निरूपित किया गया था। पर वे यह बता रहे थे कि व्यवहार में भारतीय यह कठिन कौशल सम्पन्न कर लेते हैं।

भारतीय इस्पात में अंग्रेजों की इस व्यावहारिक रुचि के फलस्वरूप अंग्रेजों द्वारा भारत में इस्पात निर्माण से संबंधित तथ्यों के अनेक वृत्तान्त तैयार किये गये। भारत के विविध हिस्सों में अनेक स्थानों में अठाहरवीं शती के उत्तरार्द्ध व उन्नीसवीं शती के आरंभ तक लोहे व इस्पात के निर्माण के काम से संबंधित वृत्तांत उन्होंने लिखे व प्रकाशित किये।

डॉ. बेंजामिन हेन ने १७९५ में लिखा कि नूजीद क्षेत्र में अनेक स्थानों पर लोहे की भट्ठियाँ हैं, जहां सामान्य प्रयोग हेतु लोहा तैयार किया जाता है। ऐसे ही एक स्थान 'रमन का पेठा' का हेन ने कुछ विस्तार से विवरण दिया। यहां स्मरणीय है कि नूजीद क्षेत्र की जनसंख्या १७८६ ईस्वी में एक लाख से ऊपर थी। १७६०-६२ में वहां अकाल पडा और जनसंख्या लगभग आधी, ५७ हजार के करीब रह गयी। हेन के अनुसार 'रमन का पेठा' में अकाल से पहले ४० लोहे की भट्ठियां थी और अनेक संपन्न सुनार तथा तंबेर भी थे। अकाल के बाद वे दरिद्र हो गये। वे वहां की भट्ठियों की कार्यपद्धति का कुछ ब्यौरा देते हैं और बताते हैं कि यहां कच्चा माल काफी है, ईंधन के लिए बढिया जंगल पास में है तथा कुशल लोग भी उपलब्ध हैं। ठेके पर उन्हें काम दिया जा सकता है। अत: भारत में ब्रिटिश तंत्र को इस ओर ध्यान देना चाहिए। वह यह भी बताते हैं कि इसी क्षेत्र में ऐसे ६ गांव और हैं, जहां बराबर लोहा बनाया जाता है।

ब्रिटिश बंगाल सेना के मेजर जेम्स फ्रेंकलिन ने ई. १८२९ के आसपास मध्य भारत में लोहा बनाने की विधियों के बारे में लिखा। जबलपुर जिले में अगरिया, गटना, लमतरा, मंगैला, जौली, इमलिया और बडागांव में; नर्मदा के दक्षिण में डंगराई गांव में; पन्ना जिले में बृजपुर के पास सिमरिया गांव में; केन और धसान नदियों के मध्य के क्षेत्र में पांडव पहाडियों, अमरौनिया, महगांव और मोतिहा में; मध्य प्रदेश के कोटा जिले में, सैगढ और चन्द्रपुर में; उससे पश्चिम में पिपरिया, रेजकोई और कंजरा में तथा आगे बजाना में लोहे की खानें हैं तथा उससे आगे सेरवा, हीरपुर, तिघोरा, और मंडवरा में। यमुना तट पर सरई और धौरीसागर में तथा खटोला से ग्वालियर के बीच की लगभग सभी पहाडियों में खदानें होने की सूचना फ्रेंकलिन देते हैं। कालिंजर और अजयगढ की पहाडियों का भी ब्यौरा देते हैं। सागर जिले में तेंदूखेडा में कच्चे लोहे के विविध रूपों गुलकू, सुरमा, पीरा और काला तथा देवी साही कच्चे लोहे का वृत्तान्त लिखते हैं। साथ ही, इन इलाकों में लोहे की भट्ठियों की शृंखला होने की भी सूचना देते हैं। भट्ठियों की आकृति, बनावट, कार्यपद्धति, इंधन का स्वरूप, पिघलावभट्ठी और शोधनविधि, उत्पादन का स्तर व मात्रा आदि का विवरण यह लेखक देते हैं। उसके भार, लागत, बिक्री, मुनाफे आदि का भी अंदाजा लगाते हैं तथा इस विधि को समझने की ओर अंग्रेजों द्वारा ध्यान दिया जाना आवश्यक समझते हैं क्योंकि उससे अच्छे लाभ की संभावना उन्हें दिखती है।

मद्रास के असिस्टेंट सर्वेयर जनरल कैप्टेन जे. कैम्पबेल ने दक्षिण भारत में तैयार किये जाने वाले चार तरह के भारतीय लोहे का विवरण इंग्लैंड को भेजा। इसमें कच्चा

माल, भट्ठी ईंधन, निर्माणविधि आदि का विवरण था, ताकि ब्रिटिश लोहानिर्माता एवं लोहाव्यापारी उस ज्ञान का लाभ उठा सकें।

मेरा अनुमान है कि १८०० ईस्वी के आसपास में लगभग १०,००० भट्ठियां थीं जिनमें लोहा और इस्पात बनता था। यदि वर्ष में ३०-४० सप्ताह इन पर कार्य होता होगा, तो इनमें से प्रत्येक की उत्पादन क्षमता २० टन बढिया इस्पात प्रतिवर्ष की थी। ये भट्ठियां वजन में हल्की होती थीं और बैलगाडी में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाई जा सकती थीं। इस प्रकार बढिया लोहा एवं इस्पात बनानें में उस समय भारत के लोहा बनाने वाले ब्रिटेन के लोहा बनाने वालों से आगे दिखते हैं।

१८ वीं शती ईस्वी में भारत में बर्फ बनाने की तकनीक भी विकसित थी। इलाहाबाद जैसे स्थानों पर बर्फ बनाये जाने का विवरण कुछेक तत्कालीन अंग्रेजों ने दिया है। सन पौधे के उपयोग से कागज बनाये जाने का विवरण भी मिलता है। डामर बनाये जाने, गारा बनाये जाने, रंगाई के विविध रसायन बनाने की प्रौद्योगिकी भी १८ वीं शती ई. के भारत में सुविकसित थी।

खेती और सिंचाई की व्यवस्था में भारत अति प्राचीन काल से समुन्नत रहा है तथा १८ वीं शती ई. में फसलचक्र, खादप्रयोग, वपित्र से बुवाई तथा अन्य उन्नत कृषिप्रौद्योगिकी का भारत में प्रचुर उपयोग होता था। हमारे गाय-बैल पर्याप्त हृष्टपुष्ट होते थे। खाद्यान्न, तिलहन, दलहन, फल, सब्जी, वृक्ष, वनोपज, बागवानी आदि की उन्नत प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान भारत में विद्यमान था। प्रत्येक कृषिकर्म की बहुत गहरी समझ, तकनीकी निपुणता, परिष्कृत बोध, सूक्ष्म संवेदना, कुशल प्रबंध एवं सक्षम भंडारण का ज्ञान यहां व्यापक था। अकाल, सुकाल, वर्षागम, शरदागम आदि कालज्ञान, ऋतुज्ञान, वायुप्रवाह का ज्ञान, उसके परिणामों का ज्ञान, फसल के लक्षणों, रोगों, रोग के उपचारों का ज्ञान, फलों और अनाजों की विविध किस्मों और उनके गुण-धर्म प्रभावों का ज्ञान, बीजों की पहचान, पशुओं की नस्ल व क्षमता की पहचान, पशुपालन एवं पशुआहार का ज्ञान, यह सब भी १८ वीं शती ईस्वी के भारत में पर्याप्त समृद्ध था। कृषि और बागवानी के उत्कृष्ट उपकरण विद्यमान थे। रहट, ढेंकुरी, विविध तरह के हल, पवनचक्की, हंसिया, खुरपी, खुरपा, गोदना, ओखल, मूसल, ढेंकर, बरवर, पाटा आदि व्यापक रूप से प्रचलित उपकरण थे। लकडी और लोहे के कारीगरों-बढई और लुहार के यंत्रो की स्थिति भी अच्छी थी। निराई-गुडाई, कटाई-गहाई, उडावनी आदि की तकनीकी का यहां विस्तृत ज्ञान था। सिंचाई के अत्यन्त समुन्नत तरीके थे, जिससे कि भूमिगत जल एवं वर्षाजल का सर्वोत्तम सदुपयोग हो। स्वयं राजस्थान में सरों और सरोवर की

सुव्यवस्था के द्वारा कठोर ऋतुदशा एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समाज को गतिशील रखने के पर्याप्त प्रबंध थे। जल के सदुपयोग की चेतना राजस्थान में अंत्यत विकसित रही है। मद्रास प्रेसीडेन्सी और मैसूर राज्य में करीब एक लाख छोटे-बडे सिंचाई के तालाब १८०० ई. के आसपास थे ऐसा माना जाता है। उनकी ब्रिटिश राज में उपेक्षा होने पर बहुत से तालाब १८५० ई. तक समाप्त हो गये। तालाब तथा अन्य सिंचाई स्रोतों की देखभाल तथा मरम्मत के लिए दक्षिण में कुल कृषिउपज का एक अंश सुरक्षित रखने की परंपरा रही थी। उसी से यह व्यवस्था सुचारु एवं गतिशील रहती थी। शायद राजस्थान एवं अन्य क्षेत्रों में भी ऐसी ही कुछ व्यवस्था रही हो।

सन् १८०० ई. के आसपास भारतीय खेती की उपजदर इंग्लैंड की कृषि उपजदर से दुगुनी व तिगुनी तक थी। भारत में कृषि का अधिकांश काम किसान स्वयं करते थे, जबकि इंग्लैंड में अधिकतर खेती का काम कृषिदासों और मजदूरों से ही लिया जाता था।

जैसा कि हम सब जानते हैं, कपडा बनाने का उद्योग भी भारत में पुरातन काल से है। यह भी सब जानते ही हैं कि १८ वीं शती ई. में भारतीय वस्त्रोद्योग विकसित था और यहां से बहुतसा कपडा, विदेशों, विशेषकर यूरोप में जाता था। भारत के सूती कपडों से जब इंग्लैंड का बाजार भरने लगा, तब वहां भारतीय कपडों के आयात के विरुद्ध आंदोलन हुए। भारतीय बुनकरों का कौशल विश्व प्रसिद्ध था। भारत के गांवों व कस्बों-शहरों में कपास की धुनाई, सूत आदि की कताई, कपडों की बुनाई, छपाई, रंगाई आदि के काम व्यापक स्तर पर होते थे, यह भी सर्वविदित ही है।

सन् १८१० ई. के आसपास के ब्रिटिश भारतीय आंकड़ों से पता चलता है कि दक्षिणी भारत के जिलों में सूती, रेशमी, आदि कपडा बनाने और निवाड आदि तैयार करने के काम आने वाली खड्डियों की संख्या १५ से २० हजार तक प्रति जिले में थी। ऐसा लगता है कि देश भर में प्राय: सर्वत्र हर जिले में लगभग इतनी खड्डियां रही हो सकती हैं। बुनने वाले बुनकरों की संख्या तो खड्डियों की संख्या से अधिक ही होगी। कातने वालों की तो अनगिनत ही होगी। धुनाई, रंगाई, छपाई, आदि का काम करने वाले धुनिया, रंगसाज, छीपी आदि की संख्या भी इसी अनुपात में होगी। भारतीय वस्त्रोद्योग के विनाश से ये सब दरिद्र और कंगाल हुए।

चरक और सुश्रुत के इस देश में १८ वीं शती में भी आयुर्वेद का पर्याप्त प्रभाव शेष था। चेचक का टीका लगाने की देशी प्रथा भारत के कई हिस्सों में व्यापक थी जब कि इंग्लैंड में चेचक का टीका १७२० ई. के बाद ही चला। शल्यचिकित्सा में भी

भारतीय ग्रामीण वैद्य १८ वीं शती में इतने उन्नत बचे रहे थे कि इंग्लैंड की स्थिति की उनसे तुलना ही नहीं हो सकती।

जिस तरह अंग्रेजों ने सुनियोजित ढंग से भारतीय वस्त्रोद्योग एवं कारीगरों को विनष्ट किया, उसी तरह टीका लगाने के एवं चिकित्सा कौशलों का भी हनन किया। १८०२ ई. के आसपास से बंगाल प्रेसीडेन्सी में भारतीय तरीके से चेचक का टीका लगाना प्रतिबंधित कर दिया गया। इससे भयंकर महामारी फैली। भारत में परंपरा से इस रोग के निवारक उपाय भी अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक थे। पर साथ ही टीके की भी तकनीक विकसित थी। किन्तु अंग्रेजों ने उसका दमन किया और स्वयं की विकसित हो रही तकनीक के पक्ष में हवा बनाने के लिए उस काम को रोक दिया। अपनी टीका-तकनीकी भी सबको सुलभ नहीं करा पाए। फलत: उन्नीसवीं शती और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत में चेचक महामारी भंयकर रूप से बार बार फैली।

शल्य चिकित्सा में निपुणता भी भारतीय ग्रामीण वैद्यों में १८ वीं शती तक शेष थी। अंग्रेजों ने उनकी विधि को अवैज्ञानिक मानकर भारत में तो उसे दबाया, लेकिन ब्रिटेन में इसी भारतीय विधि के आधार पर यूरोपीय मानी जाने वाली शल्य चिकित्सा को विकसित किया। ऐसा १७९५ और १८१५ के बीस बरसों में किया गया। गणित एवं ज्योतिष में प्राचीन भारत की श्रेष्ठता विश्वविदित है। किन्तु १८ वीं शती में हमारी इस मामले में क्या स्थिति थी, इस पर प्राय: अस्पष्टता है। भारतीय गणित-ज्योतिष १८ वीं शती में भी पर्याप्त विकसित थी। एडिनबर्ग के गणित विभागाध्यक्ष प्रो. जान प्लेफेयर ने विस्तृत जांच पडताल के बाद माना कि ईसा पूर्व ३१०२ सन् में आकाशीय पिंडों की स्थिति के बारे में भारतीयों का गणित ज्योतिषीय कथन हर प्रकार से सही दिखता है। पर वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि यह भारतीयों ने ३१०२ ईसा पूर्व में स्वयं जो देखा था, उसी का विवरण परंपरा से सुरक्षित है। क्योंकि गणित में तो उतने विकसित वे हो ही कैसे सकते हैं? देश और काल की दूरस्थ गणना का सामर्थ्य भारतीयों में कैसे आ सकता है? अब, यह अलग बात है कि अठाहरवीं शती में भारत में बनारस में दशाश्वमेध घाट के पास मानमंदिर वेधशाला विद्यमान थी, जो कि १६ वीं शती ई. में बनी बताई जाती है। इसी १६ वीं शती में ब्रिटेन में गणित ज्योतिष नितांत अविकसित दशा में था। प्लेफेयर ने कहा कि 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत एवं इण्टीग्रल केलकुलस के गणितीय सिद्धातों के ज्ञान के बिना भारतीय गणितज्ञ इतना अचूक गणित ज्योतिषीय आकलन कर ही नहीं सकते थे। हां, लगता है कि आकाशीय पिंडों के सीधे सूक्ष्मता से निरीक्षण की कला ब्राह्मणों को पांचेक हजार साल पहले आती थी और देखे गये विवरण

ही उन्होंने दर्ज रखे एवं अब याद किये हुए हैं।' गणित और रेखागणित के ज्ञान में भारतीयों के अधिक उन्नत होने का तथ्य स्वीकार करने की मनोदशा में विदेशी विजेता नहीं थे।

इस विवरण से सामने यह आया कि गणित, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, वस्त्रोद्योग, सिंचाई, कृषि आदि के विस्तार में भारत पीछे नहीं था। उस समय के ब्रिटेन ने भारत से तब कुछ सीखा ही। अत: ब्रिटिश जीत का कारण उनकी प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता नहीं, कुछ और था ।

समाज व्यवस्था

भारतीय समाज व्यवस्था में अंग्रेजों को क्या परिवर्तन उद्दिष्ट थे, इसका ध्यान रखने पर ही हमें उनके अनेक कामों और योजनाओं का सही अभिप्राय समझ में आयेगा। पहले कहा ही जा चुका है कि अमरीका, आयरलैंड, अफ्रिका या भारत के समाजों को ब्रिटिश राज्य या अन्य यूरोपीय राज्य के औजार के रूप में विकसित किया गया। इस तथ्य को ही ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है। तभी हम 'बोर्ड आफ कमिश्नर्स आफ इंडिया' के अध्यक्ष हेनरी डंडास द्वारा, ११ फरवरी १८०१ ई. में मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार को भेजे गये इस पत्र का आशय समझ सकते हैं -

(स्थायी बंदोबस्त के विरुद्ध परामर्श देते हुए उन्होंने लिखा) 'कर्नाटक के क्षेत्रों एवं बंगाल में एक ठोस अंतर है। बंगाल में लोग सरकार का आदेश मानने और अधीनता स्वीकार करने की आदतों में बहुत बढे चढे थे। कर्नाटक के लोग उन्हें दिए जाने वाले लाभों और कृपा के स्वागत के लिए परिपक्व नहीं हैं। वहां के लोग जब तक उन लाभों का महत्त्व समझने की बुद्धि से संपन्न न हो जाएं, तब तक वहां कोई वैध आदेश-व्यवस्था लागू करना व्यर्थ होगा। दक्षिण के राजाओं में विद्रोह और अधीनता न मानने की जो प्रवृत्ति प्रबल है, उसका दमन किये बगैरे वहां कोई व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती। ऐसे क्षेत्रों को अधीनता की उस दशा में लाया जाना चाहिए, जिसमें वे इस सिद्धांत के प्रति समर्पित हों और उसे स्वीकार करें। प्रत्येक लाभ के लिये उन्हें हमारे उपकारों और हमारी बुद्धिमत्ता के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। हम उन्हें काम करने देते हैं और खुशी से जीने देते हैं, इस संरक्षण के प्रति उन्हें हमारा हार्दिक कृतज्ञ होना चाहिए। ये हमारी दृष्टि में अनुल्लंघनीय सत्य है।'

हेनरी डंडास के वंशज सन् १९४७ के भारत छोडने तक, ६-८ पीढियों तक भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य से विविध स्तरों पर संबंधित रहे। सन् १७८० से १९४७

तक इसी प्रकार कई हजार ब्रिटिश परिवार भारत में ब्रिटिश राज से ऐसे ही उच्च स्तरों से जुडे रहे।

यहां यह भी याद करना आवश्यक है कि यह मानना नितांत असत्य है कि पहले तो भारत मे ईस्ट इंडिया कंपनी आई थी, ब्रिटिश राज्य नहीं, अत: १८५७ तक जो कुछ भारत में हुआ, वह कुछ ब्रिटिश व्यापारियों का काम था, ब्रिटिश राज्यकर्ता वर्ग का नहीं। प्रारंभ से ही ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को ब्रिटिश राज्य द्वारा संप्रभुता, विजय एवं राज के अधिकार प्रदान कर दिए गए थे।

ऐसी ही कंपनियां यूरोप के अनेक राज्यों ने स्वीकृत की थीं। यूरोपीय विस्तारवाद के तरीके को समजने के लिए यह समझना आवश्यक है कि ऐसी समस्त कंपनियां मुख्यतः विविध यूरोपीय राज्यों का औजार थीं। भले ही किसी कंपनी का राजतंत्र से कुछ झगडा हो, परंतु उसे राज्य का सैनिक एवं राजनैतिक संरक्षण सदा प्राप्त रहता था। और जब कोई कंपनी, विशेषत: ब्रिटिश कंपनी सचमुच किसी क्षेत्र को जीतना और उस पर राज करना शुरू कर देती थी, तो व्यवहारत: वास्तविक नियंत्रण उस विजित क्षेत्र पर ब्रिटिश राज्य ही करने लगता था। भले ही, औपचारिक तौर पर शासन उस विशेष कंपनी का ही जारी रहे, जैसे कि कुछ मामलों में भारत में १८५८ ई. तक था। परंतु, निर्णय लेने वाली शक्ति तथा राजनैतिक एवं सैन्यनियंत्रण करने वाली शक्ति ब्रिटिश राज्य ही था। सभी विषयों से संबद्ध विस्तृत निर्देशों का परीक्षण, संशोधन एवं स्वीकरण राज्य द्वारा ही किया जाता था। भारत के संदर्भ में तो १७८४ ई. से आगे वैधानिक रूप में भी ऐसा था ही, १७५० ई. से भी ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा कोई भी महत्त्वपूर्ण कदम ब्रिटिश राज्य के निर्देश या स्वीकृति के बिना नहीं उठाया गया। उदाहरणार्थ, मराठा नौसेनापति आंग्रे पर १७५० ई. के दशक में ब्रिटिश आक्रमण, ब्रिटिश राज्य की नीति एवं निर्देश के अधीन किया गया था और इस पहल का ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी से नाम मात्र का ही सम्बन्ध था। वैसे भी, कंपनी को आरंभ से ही ब्रितानी नौसेना की पूरी सहायता प्रदान की गई तथा बाद में स्थल सेना की भी।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश राज्य एवं समाज का अपने राज्य-विस्तार के संदर्भ में क्या स्वरूप था और क्या नीति थी। दूसरी ओर भारत में राज्य को समाज की ही तरह सदा विविध मर्यादाओं में रहना होता था। किसी पर अकारण आक्रमण का या किसी को पूर्णत: अधीन बनाकर अपने अनुरूप रूपांतरित करने का कोई भारतीय राज्य विचार तक नहीं कर सकता था। अपने कार्यों का स्पष्टीकरण समाज के समक्ष उसे देना होता था।

ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में जो कर रही थी, वह ब्रिटिश अभिजात वर्ग के आदर्शों एवं निर्देशों के अनुरूप ही था। एडिनबर्ग के प्रोफेसर एडम फर्गूसन ने सन् १७८३ ई. में हेनरी डंडास को लिखा था कि कंपनी चरित्र में (ब्रिटिश अभिजनों से) घटिया है। पर इसी कारण उसमें ऐसे लोगों को भर्ती किया जा सकता है, जो ऊंचे और भव्य कामों के योग्य नहीं हैं। सन् १७७३ में फर्गूसन ने अपने मित्र व शिष्य जान मैकफरसन को, जो बंगाल में काउंसिल के सदस्य व वारेन हेस्टिंग्ज के बाद कुछ समय बंगाल के गर्वनर भी रहे थे, लिखा था, 'मुझे बहुत दु:ख होगा यदि कंपनी के नौकरों को भारत की धरती पर धन बटोरने से रोका गया। आखिरकार भारतीय संपत्ति को इंग्लैंड खींच कर लाने का सबसे आसान तरीका यही तो है।'

यहां मैं उन बातों को अधिक विस्तार से नहीं कह रहा हूं कि ब्रिटिश भारतीय फौज के अधिकांश अफसर किस प्रकार घूस लेते थे, यहां की उनकी सैनिक व नागरिक सेवाओं में क्या क्या प्रलोभन थे और यहां सिविल सर्विस में आये ब्रिटिश अभिजनों से कुछ वर्षो में कितने रूपये बचाकर इंग्लैंड ले जाये जाने की आशा की जाती थी ताकि वहां सभ्य जीवन जी सकें। यहां तक की मैकाले या विलियम जोंस जैसे राजनैतिक सांस्कृतिक व्यक्तित्व वाले लोगों के भारत आने के पीछे मुख्य अभिप्राय यही था कि यहां कुछ वर्ष रहकर वे इतनी बचत कर लेंगे कि ब्रिटेन वापिस जाकर वहां के समाज में अपनी हैसियत के अनुरूप आराम से आजीवन रह सकें। अधिकांश गवर्नर जनरलों एवं बाद में वायसरायों ने इंग्लैंड से भारत आते समय यह हिसाब लगाया था कि अपने कार्यकाल में वे कितनी बचत कर सकेंगे।

अपने मित्र अर्ल मोर्ले को १८२४-२५ में एमहर्स्ट ने बताया कि मैं संभवत: प्रतिवर्ष पच्चीस हजार पौंड के वेतन का आधा बचा पाऊं। एमहर्स्ट गवर्नर जनरल रहे थे। एलफिंस्टोन मुंबई में गवर्नर थे। उनकी महत्वाकांक्षा थी कि जब वे ब्रिटेन लौटें तो ३ लाख रूपये बचाकर ले जाएं ताकि नया पुराना साहित्य पढते हुए आराम से रह सकें। उनके मित्र स्ट्रेची ने सुझाव दिया कि ६० हजार पौंड बचत करने तक गवर्नर बने रहो।

ब्रिटिश फौज में, जिसमें भारत में आये ब्रिटिश फौजी अफसर भी सम्मिलित हैं, अफसर पद की भर्ती कानूनी तौर पर सन् १८६० ई. तक खरीदी जाती थी। क्योंकि इन पदों पर अच्छी आमदनी के साथ ही पद के अनुरूप उस लूट में हिस्सा मिलता था, जो लडाई के समय ब्रिटिश सेना पराजित राज्य में करती थी।

इस प्रकार धन कमाने को न केवल वैधता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त थी, अपितु उसे ब्रिटेन की सेवा का एक माध्यम भी मान लिया गया था। विदेशी लूट, ब्रिटिश देश सेवा

की एक बहुमान्य अवधारणा रही है। राबर्ट क्लाइव और उसके साथियों को जो बडे बडे उपहार आदि दिए गए और डाली का जो व्यापक प्रचलन ब्रिटिश राज में बढाया गया, वह इस लूट के अतिरिक्त है। अंग्रेजों द्वारा भारत में मुनाफा कमाने का एक यही तरीका था कि अपने राज्य में भी किसी इलाके में नमक बनाने का एकाधिकार प्राप्त कर लो, या बुनकरों पर पूर्ण नियंत्रण के अधिकार प्राप्त कर लो, अथवा किसी व्यापार में जुटो और सरकार से कर वगैरह में रियायत या माफी प्राप्त कर लो। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तरीका यह था कि पहले किसी देसी रियासत के राजा को ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने को तैयार किया जाय। फिर उसे अपने राज्य में तैनात ब्रिटिश फौज का खर्च वहन करने को मजबूर किया जाए। इस खर्च को पूरा करने के लिए उस राजा को ब्रिटिश अफसर, सौदागर, कौंसिल सदस्य और गवर्नर तक ३६ से ६० प्रतिशत तक वार्षिक ब्याज पर ऋण दें। इसके एवज में विस्तृत क्षेत्र या पूरा क्षेत्र ब्रिटिश अफसरों के पास रेहन रख लिया जाए। कई बार स्वयं ऋणदाता अपने नाम से ये इलाके रेहन रखता था, कभी अपने एजेण्ट के नाम से या किसी 'डमी' के नाम से। इस प्रकार उस क्षेत्र पर अधिकार भी हो जाता था और धन भी वसूल किया जाता रहता था। अंतत: यह सारा धन ब्रिटेन जाता था। १७५० से १८३० तक यह सब व्यापक रूप में चलता रहा।

किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि मात्र निजी लोभ या संग्रह-लालसा ही ऐसे व्यवहारों का मूल थी। जान लॉक, एडम स्मिथ जैसे ब्रिटिश विचारकों ने इस व्यवहार के पक्ष में वैचारिक आधार निर्धारित एवं निरूपित किये। इसमें अधिक कठिनाई इसलिए भी नहीं आई क्यों कि ये व्यवहार ब्रिटेन में ऐसे क्षेत्रों में प्रचलित प्रतिमानों के अनुरूप ही थे। ब्रिटिश समाज अपने ऊर्जस्वी और उद्यमी बेटों से यही अपेक्षा करता था कि वे विश्व को ब्रिटिश प्रयोजनों का एक नियंत्रित अधीनस्थ औजार बनाएं। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, यही ग्रीक सभ्यता काल से परंपरागत यूरोपीय दृष्टि है।

इसी प्रकार भारत में अंग्रेज अफसर जहां ब्रिटिश समाज द्वारा उन्हें सौंपे गए दायित्वों को चुस्ती से निभा रहे थे, वहीं वे उन व्यवहार प्रतिमानों का भी निष्ठा एवं दृढतापूर्वक निर्वाह कर रहे थे, जो कि स्वयं ब्रिटिश समाज में बनाये गये थे और प्रचलित थे। अपने समाज में वैसे व्यवहारों के अभ्यास के कारण उन्हें विदेश में भी वही व्यवहार करने में किसी आंतरिक कठिनाई का कभी अनुभव नहीं हुआ।

जहां तक भारतीय समाज की तत्कालीन व्यवस्था का प्रश्न है, कुछ तथ्यों का स्मरण उपयोगी होगा। सबसे पहले तत्कालीन भारत के राजनीति तंत्र (पालिटी) के शीर्षस्थ लोगों का आचरण स्मरणीय है। मुगल दरबारों की शाही शानो शौकत की विपुल

गाथा गाई गई है। यूरोपीय यात्रियों ने ऐसे बहुत से किस्से लिखे हैं। किन्तु ब्रिटिश अभिलेख देखने पर अलग ही चित्र उभरता है। उससे भारत के शीर्षस्थ लोगों के जीवन में भी, विशेषकर हिन्दू राज्यों में, सादगी और संयम की ही झलक मिलती है। मुस्लिम शासित हैदराबाद तक में, १७८० ई. में, एक निरीक्षण निपुण ब्रिटिश अधिकारी ने अनुभव किया कि वहां के अभिजनों और उनके सेवकों के बीच देख कर भेद कर पाना बहुत कठिन है। ध्यान से देखने पर ही यह अंतर कर पाना संभव था और वह अंतर यह था कि अभिजनों के वस्त्र, सेवकों की तुलना में अधिक साफ होते थे। उसे इस स्थिति पर गहरा क्षोभ हुआ कि ये लोग ऐसा अंतर बनाये रखना ठीक से नहीं जानते।

एक सशक्त प्रारंभिक ब्रिटिश गवर्नर जनरल का कहना था कि हिन्दू राजा अपने ऊपर निजी खर्च बहुत कम करते हैं। इसी बात की सन् १८०० से पहले और उसके १८-२० वर्षों बाद तक अनेक लोगों ने पुष्टि की या प्रतिध्वनि की। उस गवर्नर जनरल के अनुसार इन राजाओं में दो बडी कमियां हैं, जिनकी क्षति उन्हें उठानी पडती है। एक तो वे ब्राह्मणों को बहुत दान देते हैं, दूसरे मंदिरों को।

संभवत: यहां ब्राह्मण एवं मंदिर शब्दों का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में है। ब्राह्मणों से अभिप्राय उन सभी लोगों से है जिन्हें, किसी प्रकार के विद्याध्ययन एवं विद्याभ्यास (साहित्य, कला, संगीत, शिल्प, वैद्यक, ज्योतिष आदि) हेतु अनुदान दिया जाता है। इसी प्रकार मंदिरों से आशय ऐसी समस्त संस्थाओं से है, जो न केवल धार्मिक उपासना आदि की व्यवस्था करती हैं, अपितु जो विद्या, संस्कृति, उत्सव एवं सामाजिक विनोद, विश्राम आदि की व्यवस्थाएं संचालित करती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में चेचक का स्वदेशी टीका लगाने वालों के बारे में ब्रिटिश अभिलेखों में कहा गया है कि ब्राह्मण लोग ये टीके लगाते थे। स्पष्ट है कि जानकार यूरोपीयों द्वारा उस अवधि में उन सभी लोगों को ब्राह्मण मान लिया जाता था, जो बौद्धिक, चिकित्सा सम्बन्धी या अन्य ऐसी ही क्रियाशीलताओं में संलग्न होते थे।

केदारनाथ से तंजावुर एवं रामेश्वरम् तक देश भर में धार्मिक स्थानों में तीर्थयात्रियों के ठहरने आदि के लिए छत्रम् होते थे। सन् १८००-१८०१ ई. के तंजावुर राजा और अंग्रेज सरकार के पत्रव्यवहार से ज्ञात होता है कि तंजावुर से रामेश्वरम् तक की अनेक बन्दरगाहों का राजस्व भी तंजावुर से रामेश्वरम् तक बने छत्रमों के रखरखाव पर सीधे खर्च कर दिया जाता था। इन छत्रमों की कार्यप्रणाली और देश के चारों कोनों से आकर इनमें ठहरने वाले तीर्थयात्रियों को दी जाने वाली सुविधाओं के बारे में तंजावुर के राजा ने लिखा था,

'समुद्र के किनारे किनारे बने इन छत्रमों में प्रतिवर्ष रामेश्वरम् जाने वाले ४० हजार तीर्थयात्रियों को ठहराने का पूरा प्रबंध है। हर छत्रम् के साथ मंदिर और पाठशालाएं हैं। यहां हर जाति के यात्री को भोजन दिया जाता है। जो खुद पकाना चाहें, उन्हें उचित सामग्री दी जाती है। भोजन आधी रात तक बँटता है। फिर एक घंटी बजा दी जाती है। भोजन से कोई छूट गया हो तो वह भी आ जाए। जो तीर्थयात्री किसी कारण तीर्थ यात्रा पर आगे बढ न पाएं, उन्हें यहां रुकने की सुविधा भी दी जाती है। हर छत्रम् में चार वेदों के ज्ञाता, एक शिक्षक व एक चिकित्सक रहते हैं। अनाथ बच्चों को शिक्षक संभालता है। उन्हें तीन समय भोजन मिलता है और कपडे भी। वे जो विद्या या उद्योग सीखना चाहें वह उन्हें सिखाने की व्यवस्था की जाती है। छत्रम् में यदि किसी की असमय मृत्यु हो जाए तो उसका अंतिम संस्कार भी किया जाता है। बच्चों को दूध, गर्भवती स्त्री की देखभाल, प्रसव होने पर तीन महिने तक उसकी देखभाल की पूरी व्यवस्था होती है।

'छत्रमों के साथ संलग्न भूमि जिसका परंपरागत भूमि कर उन्हें ही मिलता था, अच्छी नहीं है। फसल अच्छी नहीं हो पाती। किन्तु इन छत्रमों का मैं बहुत आदर करता हूं। इसलिए जो घाटा होता है, उसे राज्य की ओर से अन्न व धन भेजकर पूरा किया जाता है।' ऐसे ही कागजात केदारनाथ, बद्रीनाथ से लेकर पंजाब, बंगाल, राजस्थान और दक्षिण के भी सभी भागों के बारे में मिलते हैं।

केदारनाथ के छत्रमों के बारे में यह भी व्यवस्था थी कि कुछ वर्षों तक उनके लिए प्रतिवर्ष निर्धारित धनराशि पूरी न खर्च होने के कारण जो कुछ धनराशि बच जाए, कुंभ पर्व के अवसर पर वह बची संपूर्ण धनराशि व्यय कर दी जाए और फिर नये सिरे से उनके कोष प्रारंभ किये जाएं। अनेक श्रोता मित्रों को यहां शायद सम्राट हर्षवर्धन की ऐसी ही प्रवृत्ति का प्रसंग याद आए।

१८ वीं शती ई. के ब्रिटिश अभिलेखों से यह भलीभातिं अनुमान हो जाता है कि भारतीय समाज, विशेषत: यहां के ग्राम समाज कैसे चलते थे। १७७० ई. के आसपास का चिंगलपेट जिले के गांवो का विवरण मिलता है, जो इसकी पर्याप्त जानकारी दे देता है। १८०० ई. के पहले के बंगाल से संबंधित तथ्य भी इसी से मिलतेजुलते हैं।

चिंगलपेट जिले से संबंधित विवरण १७६०-१७७० ई. के आसपास २,००० गांवो के एक सर्वे से एकत्र किये गये थे। इसमें प्रत्येक गांव की कुल भूमि, विविध प्रयोजनों के लिए इस भूमि का उपयोग, हर गांव की कुल कृषिभूमि (सिंचित और असिंचित) तथा मान्यम के विवरण हैं। मान्यम उस भूमि को कहते हैं, जिसका भूमि

कर, विविध ग्राम संस्थाओं एवं गतिविधियों के लिए सौंपा जाता है। ऐसी भूमि का कर, विधिविहित राज्याधिकारी व व्यवस्था को देय होता था, फिर वह ग्राम स्तरीय अधिकारी हो, क्षेत्रीय हो या राष्ट्रीय स्तर का हो।

ऐसे भूमि कर के प्रदान से किसी संबद्ध व्यक्ति का उस भूमि पर स्वामित्व यथावत् रहता था। बस, संबंधित भूमिस्वामी या किसान को उस भूमि का कर उस व्यक्ति या संस्था को देना होता था, जिसके लिए मान्यम प्रदान किया गया हो। स्थानीय व क्षेत्रीय राज्य के स्थान पर यह कर मान्यम के प्राप्तकर्ता को दिया जाता था।

इस सर्वे का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग वह है, जो १८०० ई. से पहले दक्षिणी भारत के अभिलेखों में उल्लिखित गांवो से संबंधित है। गांवो में से प्रत्येक की कुल कृषि उपज में से गांव की विविध संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं के लिए एक निश्चित अंश निकाला जाता था और अन्य संबद्ध ग्रामों, क्षेत्रों से संबंधित अंतर्ग्रामीण संस्थाओं और पदों के लिए निर्धारित अंश निकाला जाता था। इस व्यवस्था को सामान्यत: 'स्वतंत्रम्' कहा जाता था। स्वतंत्रम् का विवरण इन आंकडों में है। स्पष्ट है कि उत्पादन का अंश विभिन्न कार्यो एवं विभिन्न संस्थाओं को पुरातन काल से चली आ रही प्रथाओं एवं व्यवहारों के अनुरूप ही निर्धारित किया जाता रहा है। स्पष्टत: यह मात्र आर्थिक प्रबंध नहीं था। अपितु ग्राम्य या क्षेत्रीय राजनीतितंत्र (पोलिटी)में ये अंश प्राप्त करने वाले विविध घटकों की भूमिका और महत्त्व का निर्धारण भी इसी प्रक्रिया में होता रहा होगा, ऐसा दिखता है।

हर गांव से कुल कृषिउपज का लगभग २५ से ४० प्रतिशत (एक चौथाई से दो पंचमांश) तक अंश स्वतंत्रम् के रूप में निर्धारित था। यहां प्रसंगवश यह भी स्मरणीय है कि प्रमुख ब्रिटिश सेनापति और बाद में मुंबई प्रेसीडेन्सी के १८२७-३० ई. में गवर्नर रहे जान माल्कम का ऐसा अनुमान रहा कि मालवा के गांवो में भी ऐसे प्रयोजनों (ग्राम खर्च) के लिए कुल कृषि उत्पादन का एक चौथाई के लगभग अंश निकाला जाता था।

चिंगलपेट के दूसरे कई गांवो में ऊपर चर्चित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कई उत्सवों, या कार्यों के लिए भी भिन्न भिन्न तौर पर अंश निकाला जाता था। जैसे कि वर्नाकुलर स्कूल शिक्षक, मठम्, सिद्धम्, उद्घोषक, बनिया, फकीर, तेल बेचने वाले, बेट्टियान, मस्जिद इत्यादि के लिए। इस हिसाब के अनुसार चिंगलपेट जिले की कुल जोती हुई भूमि का लगभग छठा हिस्सा मान्य भूमि था। बंगाल के कई जिलों में (१७७० ई. के करीब) तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुडप्पा, बेल्लारी, अनंतपुर आदि जिलों में (जहां थामस मुनरो ने १८००-१८०७ के मध्य ब्रिटिश सत्ता व अधिकार को सुदृढ किया)

तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में ऐतिहासिक एवं पारंपरिक रूप में, मान्यम के नाम से वर्गीकृत भूमि उस क्षेत्र की कुल भूमि की आधी तक होती रही है। संभवत: भारत के अनेक हिस्सो में पूरे के पूरे जिले भी मान्यम निर्धारित कर दिये जाते थे। प्राय: सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाओं की सहायतार्थ ये मान्यम निश्चित किये जाते थे। किन्तु कुछेक मान्यम स्थानीय एवं क्षेत्रीय सैन्य व्यवस्था के लिए भी निश्चित होते थे। १८३० के आसपास की एक सरकारी ब्रिटिश टिप्पणी में कहा गया है कि बंगाल प्रेसीडेन्सी जिसमें बंगाल, बिहार, व अन्य क्षेत्र आते थे, के जिलों में ऐसे हजारों व्यक्ति एवं संस्थाएं थीं जिनके लिए परंपरा से मान्यम की व्यवस्था थी। १७७० ई. के दशक में बंगाल के एक जिले में मान्यम के दावेदारों की संख्या सत्तर हजार कही गयी है।

विविध व्यक्तियों एवं संस्थाओं को दिये जाने वाले अंश अलग अलग स्थानों व प्रदेशों में भिन्न भिन्न हैं। किन्तु मोटे तौर पर जहां भी सिंचाई थी, वहां कुल कृषिउपज का चार प्रतिशत सिंचाईव्यवस्था के रखरखाव के लिए निर्धारित होता था। आप सब को यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि देवी मंदिर, धर्मराज मंदिर एवं ग्राम देवता मंदिर, जिनमें साधारणतया ब्राह्मण या अन्य द्विज नहीं जाते थे, तथा जिनके पुजारी ब्राह्मण नहीं होते थे, उनको जो कुछ स्वतंत्रम् मिलते थे, वे शिव, विष्णु एवं गणेश मंदिर (जिनकी व्यवस्था मुख्यत: द्विज नागरिक करते थे) को मिलने वाले स्वतंत्रम् से अधिक थे। प्रस्तुत आठ गांवों में ग्राम देवता मंदिर का उदाहरण नहीं है।

यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि १८१८ ई. के एक ब्रिटिश सर्वे के अनुसार दक्षिणी अर्काट जिले में बडे, मझोले और छोटे मिलाकर कुल सात हजार से अधिक मंदिर थे तथा कई सौ मठम एवं छत्रम् थे। मद्रास के जिन अन्य जिलों में यह सर्वेक्षण किया गया, वहां किसी में ३ हजार मंदिर थे, किसी में ४ हजार। एक मोटे अनुमान से, १८०० में मद्रास प्रेसीडेन्सी में लगभग एक लाख मंदिर रहे होंगे। उसी अवधि में पूरे देश में ऐसे स्थानों व संस्थाओं की संख्या ३ लाख के लगभग रही होगी। इनमें से लगभग ५ प्रतिशत संस्थाएं इस्लामी उपासना एवं अध्ययन के स्थल रही होंगी, तथा लगभग एक हजार ईसाई उपासना संस्थाएं रही होंगी, जिन में से अधिकांश दक्षिण भारत के समुद्रतटीय क्षेत्रों में थीं।

कर्णम् या कनक पिल्लई वस्तुत: कोई व्यक्ति नहीं, अपितु गांव के रजिस्ट्रार का कार्यालय होता था, जो एक ग्रामीण सचिवालय जैसा समझना चाहिए। कर्णम् के कार्य के लिए सामान्यत: कुल कृषि उपज का तीन से चार प्रतिशत अंश दिया जाता था। तलियार यानी ग्रामपुलिस (जिसमें अनेक व्यक्ति होते रहे होंगे) के लिए सामान्यत: ३

प्रतिशत अंश निश्चित होता था। यहां प्रसंगवश यह जानना भी उपयोगी होगा की तलियार, अन्न मापने वाला, भूमि सीमाविवाद निपटाने वाला तथा कुछ अन्य ग्रामीण पद सामान्यत: अन्त्यज (परिहा) तथा अन्य वैसी ही जातियों के लोगों को मिलता था। महाराष्ट्र में ग्राम पुलिस (रक्षक दल) में महार लोग होते थे। सैन्य व्यवस्था का प्रमुख पालेगर कहलाता था। पालेगर संभवत: अपने क्षेत्र का आज के फौजी कर्नल या इन्सपेक्टर जनरल पुलिस जैसा पद होता था। यदि कहीं चोरी हो जाती थी, और पुलिस या पालेगर चोरी गई संपत्ति ढूंढ निकालने में विफल रहते थे, तो उनसे यह अपेक्षा की जाती थी की वे अपने पद के लिए निर्धारित आय में से चोरी गई संपत्ति की क्षतिपूर्ति पीडित पक्ष को करें।

इन तथा ऐसे अन्य आँकडों, तथ्यों के अधिक गहरे विश्वलेषण की आवश्यकता है पर इनमें यह तो अर्थ स्पष्ट है कि इस समाज के प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित प्रतिष्ठा थी, तथा उसकी सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की समुचित व्यवस्था की जाती थी। भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों को देखते हुए तथा भारतीय भूमि की उर्वरता के कारण इन प्रतिमानों का निर्वाह सुगम होने के कारण भी प्रत्येक व्यक्ति का यह नैसर्गिक अधिकार मान्य प्रतीत होता है कि उसे भोजन और आश्रयस्थान प्राप्त हो। मध्यकालीन भारत के एक इतिहासकार के अनुसार दिल्ली के शासकों के जिस एकमात्र व्यय का विवरण प्राप्त है, वह उन लोगों को मुफ्त भोजन कराने का व्यय है, जिनके लिए ऐसे भोजन की आवश्यकता पडती थी। संभवत: दिल्ली के मुसलमान राज्य में भी यह राज्य का सबसे बडा व्यय मद रहा होगा। राज्य का यह व्यवहार भारतीय समाज के पुरातन प्रतिमानों की परंपरा के आधार व मान्यताओं के अनुसार ही होगा।

ये अंशनिर्धारण मात्र आंतरिक ग्रामव्यवस्था के लिए नहीं थे। यद्यपि ग्रामव्यवस्था का यह आंतरिक तंत्र भी वैविध्यपूर्ण एवं संश्लिष्ट था तथा उसी के अनुरूप अंश निर्धारित थे। पर साथ ही, अंतरग्रामीण धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, लेखा सम्बन्धी एवं सैन्य प्रयोजनों की व्यवस्था के लिए भी ये अंश निर्धारित थे। यह मानना चाहिए की अन्य तरह के उत्पादनों एवं आय स्रोतों पर आधारित, किन्तु संरचनामें कुछ ऐसी ही व्यवस्थाएं कस्बों-शहरों के लिए भी रही होंगी। इस प्रकार ग्रामसमाज या कोई स्थानीय समाज जहां अपने आंतरिक प्रयोजनों एवं व्यवस्थाओं का प्रबंध करता था, और इस रूप में एक स्वायत्त गणतंत्र या निगम का प्रतीक था, वहीं वह अन्य गांवो या स्थानों से भी संबद्ध होता था। वस्तुत: वह अंतःक्षेत्रीय व्यवस्थाएं एक बडे क्षेत्र से भी संबंधित रहती थीं, जिसे हम राष्ट्रीय क्षेत्र कह सकते हैं। इस प्रकार इन आंकडों, एवं

विवरणों से एक ऐसे राजनीतितंत्र (पालिटी) का रूप उभरता है, जो महात्मा गांधी द्वारा व्याख्यायित उस 'सागरीय वृत्त' वाले बोध से मिलता-जुलता दिखता है, जिसमें गांधीजी के विचार से सबसे भीतरी वृत्त सर्वाधिक आंतरिक स्वायतत्ता प्राप्त किये रहता है तथा बाहरी वृत्तों को वैसे वित्तीय, नैतिक तथा अन्य सहायता व समर्थन प्रदान करता रहता है, जो कि उन अन्य बचे हुए कामों की पूर्ति हेतु इन बाहरी वृत्तों के लिए आवश्यक हैं, जो काम स्थानीय स्तर पर संपन्न नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार स्थानीय सामाजिक तंत्र के सम्यक् संचालन एवं देखरेख के लिए तथा उसकी छोटी-बडी सभी संस्थाओं एवं कार्यो के लिए जहां उत्पादन का अच्छा-खासा अंश निर्धारित होता था, वहीं ऊपर की क्षेत्रीय व राष्ट्रीय संस्थाओ का हिस्सा कम होता था। प्रारंभिक ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार मालाबार में १७४० ई. तक भूमि पर कर बिलकुल नहीं था। १५ वीं शती ई. तक कन्नड प्रांत में ऐसा कोई कर नहीं था। रामनद (जिसमें रामेश्वर है) जैसे क्षेत्रो में १७९० के दशक में भी नाममात्र को भूमिकर था। त्रावणकोर में १९ वीं शती के आरंभ में भी भूमिकर, कुल उत्पादन का ५ से १० प्रतिशत से अधिक नहीं था। ऊपर की संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं के लिए भूमि पर लगने वाला कोई भी कर परंपरागत बहुत कम होता था, यह १८०० ई. तक मान्यम की भूमि पर खेती करने वालों द्वारा मान्यम पाने वालों को दिये जाने वाले कर या कृषिउपज के अंश की मात्रा से भी स्पष्ट होता है। मुसलमानों के समय जहां तहां कर शायद बढा, लेकिन इतना नहीं जितना अंग्रेजों के आने के बाद। थामस मुनरो के अनुसार अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी राजस्व दरों से यह परंपरागत अंश या कर एक चौथाई से अधिक नहीं होता था। मुनरो के अनुसार कई बार तो किसान अपनी इच्छानुसार जितना चाहते थे उतना ही मान्यम प्राप्तकर्ता को दे देते थे। बंगाल के कलेक्टरों ने १७७० के दशक में ऐसी ही स्थिति होने की सूचना दी है और कहा है कि ब्रिटिश भू-राजस्व बहुत भारी पडता है (परंपरागत दर से लगभग चार गुना) और जहां मान्यम भूमि कुल जोती गई भूमि का आधे के लगभग है ऐसे जिलों में बडी संख्या में किसान वह भूमि छोड देते थे, जिसका राजस्व ब्रिटिश अधिकारियों को देना होता था। उसके स्थान पर वे मान्यम भूमि पर जाकर खेती करने लगते थे। यह शायद इसलिये भी संभव हुआ की १७६९-७० के बडे अकाल के बाद, जिससे बंगाल की एक तिहाई जनसंख्या घट गई, काफी सारी खेती की जमीन बगैर जोत के पडी थी। जिस भूमि का राजस्व अंग्रेजों को देना पडे, उसे त्यागकर किसान मान्यम भूमि में खेती करने लगे। यह प्रवृत्ति १८२० में भी मद्रास प्रेसीडेन्सी में विद्यमान थी। तब गवर्नर के रूप में थामस मुनरो ने धमकी दी थी कि

मान्यम के ऐसे स्वामियों का मान्यम रद्द कर दिया जायेगा, जो अपनी भूमि पर ब्रिटिश राजस्व वाली भूमि छोडकर खेती करने आने वाले किसानों को खेती करने देंगे।

ऊपर चर्चित आँकडों के संदर्भ में यह जानने योग्य है कि मुगल शासकों (१५५६-१७०७ ई) के खजाने में धन की आमद उनके राज्य के माने जाने वाले कुल राजस्व के २० प्रतिशत से अधिक की कभी नहीं हुई। जहांगीर के शासन में तो यह आमद कुल राजस्व का ५ प्रतिशत से भी अधिक नहीं होती थी। यह भी उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक रूप से चीन में भूमि कर कुल कृषि उपज का लगभग सोलहवां हिस्सा रहा बताया जाता है। ऐसा मानना स्वाभाविक ही होगा कि पूर्वी एवं दक्षिणपूर्वी एशिया के अन्य स्थानों में भी यही राजस्व कर रहा होगा। भारत में मनु संहिता में अधिकतम कर, उपज का छठा अंश लिये जा सकने की व्यवस्था है, किन्तु वहां भी सामान्यत: कुल कृषि उपज का बारहवा अंश लिये जाने का ही आग्रह है। यहां यह भी स्मरणीय है कि सन् १७८० से आगे अंग्रेजों ने अनेक कारणों से मनु संहिता को विशेष महत्त्व दिया। १८१५ ई. के लगभग, लंदन में विविध भारतीय ग्रंथो एवं पाठों के अनुवाद और प्रकाशन के कार्य को हतोत्साह किया जाने लगा। उस समय जिस एकमात्र पुस्तक के पुनर्मुद्रण को प्रोत्साहन दिया गया, वह कुल्लूक भट्ट की टीका सहित मनुस्मृति का प्रकाशित संस्करण था।

दूसरी ओर यह भी सत्य है कि पश्चिमी यूरोप में १८ वीं शती ई. में वहां के 'लैंड लार्ड' भूमि से जो कर लगान वसूलते थे, वह कुल कृषि उपज का ५० से ८० प्रतिशत था। ऐसा लगता है कि भारतीय इतिहासकारों और बौद्धिकों ने अपने पश्चिमी स्वामियों से जो धारणाएं बिना गवेषणा के अंगीकार कर ली हैं, उनमें से एक यह है कि भारत में स्थिति वही थी, जो १८ वीं शती ई. के पश्चिमी यूरोप में थी।

अपनी स्थानीय सांस्कृतिक-धार्मिक संस्थाओं एवं प्रवृत्तियों, लेखा व्यवस्था, राजनैतिक, एवं सैन्य व्यवस्था या रक्षाव्यवस्था (कानूनगो, देशमुख, पालेगर आदि) इत्यादि का प्रबंध करने वाला गांव या क्षेत्र संभवत: शीर्षस्थ तंत्र के लिए भी लगभग ५ प्रतिशत अंश देता था। लाखों गांवो एवं इकाइयों से मिलने वाली यह ५ प्रतिशत की अल्प राशि भी कुल मिलाकर पर्याप्त से अधिक हो जाती रही होगी। यह गांव द्वारा अपनी शिखर सत्ता को, या कि महात्मा गांधीजी द्वारा निरूपित बाहरी वृत्त को, देय अंश था। शायद यह सत्य हो कि ऐसी व्यवस्था से क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर पर सैनिक दृष्टि से पर्याप्त सक्षम हमारी सैन्य दुर्बलता अथवा अन्य संस्थागत निर्बलताओं के कारण कुछ और ही रहे हों। भारतीय राजनीति-तंत्र (पोलिटी) की विकेन्द्रित सामाजिक एवं वित्तीय व्यवस्था

शायद इसका कारण नहीं रही हो।

देश के विभिन्न भागों एवं क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व एवं अधिकारों सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पद्धतियां रही हैं। एक ही क्षेत्र में भी कई व्यवस्थाएं आसपास चलती रहती हैं। किन्तु प्राय: इन सभी व्यवस्थाओं में भूमि पर ग्राम समुदाय को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। भूमि के क्रय-विक्रय की अनुमति एवं उसके प्रबंध सम्बन्धी सर्वोच्च अधिकारी ग्राम समाज का ही होता था।

ऐसे भी गांव थे, जहां ग्राम समाज समुदायम के रूप में संगठित था। संभवत: समुदायम में गांव के सब परिवार नहीं होते थे, अपितु मात्र किसान परिवार और मान्यम पाने वाले परिवार होते थे। समुदायम के सदस्यों का गांव की भूमि में विशिष्ट हिस्सा होता था। जिस भूमि पर वे खेती करते थे, वह भूमि आपस में समय समय पर बदल भी ली जाती थी। तंजावुर में १८०५ ई. में इस प्रथा का विवरण मिलता है। वहां उस समय लगभग तीस प्रतिशत गांव समुदायम के रूप में संगठित थे। यह परिवर्तन इस आधार पर किया जाता था कि समय समय पर सभी खेतों की उर्वरा शक्ति में कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। जिससे समुदायम सदस्यों में आपस में विषमता की स्थिति हो जाती है। इसीलिए भूमि का नये सिरे से पुनर्वितरण आवश्यक हो जाता है।

१८०५ ई. तंजावुर में मिरासदारों की कुल संख्या ६२,०४८ थी। मिरासदार उन्हें कहते हैं, जिनका भूमि पर स्थायी अधिकार हो। इन मिरासदारों में ४२ हजार से अधिक तथाकथित शूद्र एवं तथाकथित शूद्र से भी निचली जातियों के थे। बड़ामहल (वर्तमान सेलम जिला) में परिहा (अन्त्यज) कहे जाने वाले किसानों की संख्या १८०० ई. में कुल ६ लाख की जनसंख्या में ३२, ४७४ की थी। चिगंलपेट के कलेक्टर द्वारा १७९९ ई. में तैयार सूची में मिरासदारों की संख्या ८३०० दर्ज थी। पर कलेक्टर का मत था कि वास्तविक मिरासदारों की संख्या दस गुनी है। यानी ८० हजार के लगभग। सन् १८१७ में तिरुनेलवेल्ली जिले के १०८० गांवो में मिरासदारों की संख्या ३७,४९४ अनुमानित थी। यह कहना संभवत: यहां आवश्यक नहीं की संपूर्ण भारत में वास्तविक भूमि जोतने वाले के अधिकार स्थायी वंशानुगत रहते हैं। १७९० ई. के बाद अंग्रेजों ने ये अधिकार समाप्त करने का क्रम चलाया। एक तो इसलिए ताकि बहुत बढी हुई मात्रा में वे राजस्व वसूल कर सकें तथा दूसरे इसलिए क्योंकि स्वामित्व की ब्रिटिश अवधारणा में जोतने वालों के ऐसे किसी अधिकार का स्थान स्वयं ब्रिटेन में नहीं था।

भारतीय अर्थव्यवस्था एवं उपभोग या खपत के ढांचे का एक अनुमान बेल्लारी जिले के १८०६ ई. के कुछ तथ्यों से भी होता है, जिसमें जिले भर के हर परिवार की

औसत खपत का कुल आकलन है। पूरी जनसंख्या ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा तीन वर्गों में वर्गीकृत है और उसका खपत ब्यौरा है। ये तीन वर्ग हैं-पहला अधिक समृद्ध लोगों का (कुल जनसंख्या २,५९,५६८), दूसरा मध्यम साधनों वाले परिवार (कुल जनसंख्या ३,७२,८८७) तथा तीसरा निम्न वर्ग (कुल जनसंख्या २,१८,६८४)। इस आकलन के अनुसार इन तीन वर्गो में खपत का यह रूप था-खपत की पहली श्रेणी वालों से दूसरी व तीसरी श्रेणी वालों द्वारा उपभोग्य खाद्यान्न की गुणवत्ता एवं मूल्य में अंतर था। मात्रा तीनों वर्गो में एक ही थी। वह थी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन आधा सेर अनाज। खपत के इस विवरण में २३ अन्य वस्तुएं भी थीं, जिनमें दाल, सुपारी, घी, तेल, सूखा व कच्चा नारियल, दवाएं, वस्त्र, ईंधन, सब्जी आदि हैं। पान भी है। पहली श्रेणी के लोगों में पान की खपत छः व्यक्तियों के एक परिवार में प्रतिवर्ष ९,६०० पान की है। दूसरी श्रेणी में यह संख्या ४,८०० पान प्रतिवर्ष है और तीसरी में इतने ही बडे परिवार में प्रतिवर्ष ३,६०० पान की खपत दर्ज है। घी और तेल की खपत का अनुपात तीनों वर्गो में लगभग ३:१:१ का है और दालों का ८:४:३ का। प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष कुल खपत प्रथम श्रेणी में १७ रु. ३ आने ४ पाई है, दूसरी श्रेणी में ६ रु. २ आने ४ पाई, तीसरी श्रेणी में ७ रूपये ७ आने है।

निश्चय ही ये व्यापक वर्ग हैं। यथार्थ में अनेक लोगों की खपत प्रथम श्रेणी की औसत से पर्याप्त अधिक रही होगी। वास्तविक उच्च और निम्न लोगों के बीच अंतर की मात्रा का ज्ञान १७९९ ई. के एक विवरण से होता है। यह कर्नाटक क्षेत्र का है। पर्याप्त छानबीन के बाद ब्रिटिश अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचे की टीपू सुलतान का सबसे बडा अधिकारी, चित्रदुर्ग के किले का गवर्नर, टीपू के शासन में १०० रूपये प्रतिमाह पाता था। उस क्षेत्र में उन दिनों साधारण श्रमिक की मजदूरी की दर ४ रूपये प्रति माह थी। बाद में ब्रिटिश अधिकारियों ने नये अंतर पैदा किये। उस समय भी ब्रिटिश जिला कलेक्टर को लगभग १५०० रु. प्रतिमाह मिलते थे, ब्रिटिश गवर्नर कौंसिल के सदस्य को ६ से ८ हजार रूपये प्रति माह। जबकि भारतीय मजदूरों का वेतन सन् १७६० से १८५० ई. के बीच लगातार घटाया ही जाता रहा। १७६० में भारतीय श्रमिकों, शिल्पियों आदि को मजदूरी के रूप में जो मिलता था, सन् १८५० के आसपास उसका एक तिहाई ही शायद मिलता था, अधिक से अधिक आधे तक।

नयी विषमताएं मात्र ब्रिटिश अफसरों के वेतन तक सीमित नहीं थी। जहां राजकीय नीति में आवश्यक लगा वहां भारतीय अधिकारियों, राजाओं आदि के भी वेतन भत्ते बहुत बढाये गये। मेवाड के महाराणा का निजी भत्ता बढाया जाना इसका एक

उदाहरण है। मेवाड १८१८ ई. में ब्रिटिश संरक्षण में लिया गया। उससे पूर्व तक महाराणा का भत्ता एक हजार रूपया मासिक था ऐसा टॉड ने लिखा है। संरक्षण में लेने के कुछ ही महिनों में अंग्रेजों ने महाराणा का भत्ता एक हजार रूपये रोज कर दिया। पर राज्य के अन्य अनेक खर्च या तो समाप्त कर दिये या बहुत घटा दिये। कुछ ही वर्षों में महाराणा राजकाज व अपने लोगों से अलग होकर भोगविलास में पड गये।

साधारण लोगों की आमदनी घटायी जाती रही, उनके शिल्प कौशल, अधिकारों एवं आत्मगौरव को नष्ट किया गया, उन्हें लूटा-पीटा, मारा-निचोड़ा और चूसा गया, अत्याचार और अपमान से जर्जर किया गया। अंग्रेजों ने ही भारत में बंधुआ मजदूरी की शुरुआत की। १८५५ ई. में लार्ड ऐलनबरो के लार्ड केनिंग को लिखे एक पत्र में याद किया कि १५ वर्ष पहले ऐलनबरो ने स्वयं देखा था कि किस प्रकार शिमला के पहाडी क्षेत्र में लोगों से जबर्दस्ती सरकारी काम बेगार पर कराया गया। ऐलनबरो के इस पत्र के साथ शिमला में रहे भूतपूर्व पालिटिकल एजेंट लेफ्टिनेंट कर्नल केनेडी का एक स्मरण पत्र था। उसमें ऐलनबरो का ध्यान इस ओर खींचा गया था कि शिमला क्षेत्र में ब्रिटिश अधिकार जमने के बाद जबर्दस्ती बेगार करायी जाती थी और ३००-४०० मील लंबी, चार गज चौडी एक पहाडी सडक सन् १८१८ से १८३२ ई. के बीच वहां बेगार द्वारा बनवायी गयी थी। उसने यह भी लिखा था कि कुमाऊँ गढवाल में यह प्रथा इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि कुमाऊँ गढवाल के तत्कालीन कमिश्नर टी. एच. बैटन ने सोचा कि इसे समाप्त करना बेतुका तो होगा ही, साथ ही शिमला के शीर्षस्थ अधिकारियों द्वारा अपनायी गयी नीतियों के अनुरूप भी नहीं होगा। यूरोप में बेगार प्रथा परंपरागत प्रचलित थी। उसे ही भारत में शुरु किया गया। यह बेगार पूरे देश भर में कराई गई। १७७० ई. से अंग्रेजो द्वारा इसे भारत में फैलाने के आंकडे मिलते हैं। पहले पहल के आंकडे अर्काट के नवाब के क्षेत्र से संबंधित हैं। नवाब ने इस पर शिकायत की थी। बाद में हैदराबाद, मद्रास, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रांत समेत सर्वत्र बडै पैमाने पर बेगार कराई जाती रही।

ब्रिटिश सेना एक स्थान से दूसरे स्थान को निरंतर कूच करती रहती थी। हर टुकडी के साथ आटा दाल विक्रेता, मिठाई वाला, पँसारी, नून्दीवाला, सराफ, तंबाकू बेचने वाला, तमोली, सूची बनाने वाला, नान बाई, भटियारा, कुँजडा, मधुवाला, बिसाती, बारी, ततरा, कसाई, मांस विक्रेता, मोची, तैली, घी वाला, जुलाहा, भडभूँजा, ऊँटवाला, खोजी, खनदोज, प्यादोज, लोहार, बढई, मुर्गेवाला, तोडी वाला, कमरे, हुक्का बनाने वाला, कुली आदि ३४-३५ पेशों के लोग बेगार करते चलते थे। इसके

अलावा ३००-४०० बैलगाडियाँ व घोडे, खच्चर इत्यादि बेगार में लिये जाते थे। यह आवश्यक था। नहीं तो पूरा क्षेत्र लूटकर विनष्ट कर दिया जाता और दंडित किया जाता।

यहां विज्ञान के एक प्रसिद्ध इतिहासकार जार्ज सार्टन के शब्द स्मरणीय हैं - 'पश्चिमी राज्यों ने अपने पूर्वी भाईयों को न केवल लूटा, शोषण किया और दास बनाया अपितु इससे भी बहुत बुरा व्यवहार किया। वे उनकी आध्यात्मिक विरासत तक को समझ पाने में अक्षम रहे, उन्हें उससे भी रहित करने का प्रयास किया। मात्र उनकी भौतिक संपदा एवं वस्तुओं की लूट ही नहीं की, वे उनकी आत्मा पर भी विजय पाना चाहते थे। आज हम अपने पूर्वजों के लोभ और धृष्टता का मूल्य चुका रहे हैं।'

इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा भारतीय व्यक्तित्व, भारतीय मानस, भारतीय गौरव एवं भारतीय आत्मा को अधीनस्थ कर पूरी तरह रूपातंरित कर डालने की सुनियोजित रणनीति की कुछ झलकियों का स्मरण किया। यह अलग बात है कि इस पर भी वे भारत में व्यक्तियों, पशुओं और वनस्पतियों का वैसा व्यापक संहार नहीं कर पाये, जैसा उन्होंने तथा अन्य यूरोपीयों ने अमेरिका व आस्ट्रेलिया इत्यादि में किया। उत्तरी, मध्य व दक्षिण अमरीका में तो यूरोप की इस विनाश लीला की शक्ति के टकराव से वहां की ९९ प्रतिशत जनसंख्या समाप्त हो गई। सन् १५०० ई. में यह जनसंख्या ९ से १२ करोड तक थी, ऐसा माना जाता है। आज कुल अमेरिका के पुराने निवासियों की जनसंख्या २ से ३ करोड तक है। सन् १५०० ई. में पूरे युरोप की जनसंख्या ९ करोड से कम ही थी। आज वह जनसंख्या १२० से १५० करोड तक पहुंच गई है और यूरोप, अमरीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण आफ्रिका व विश्व के अन्य स्थानों तक फैली हुई है। भारत में १५०-२०० वर्षों के ब्रिटिश आधिपत्य के काल में शासन की नीतियों से उत्पन्न व प्रभावित दुर्भिक्षों, महामारियों इत्यादि में ५-१० करोड लोग अवश्य अकाल मृत्यु का ग्रास बने तथा गाय, बैल,भैंस एवं अन्य पशु कई करोडों की संख्या में नष्ट किये गये। अच्छी नस्ल के गाय-बैल व अन्य पशु तभी से बहुत घट गये। बनों का क्षेत्रफल भी घटा तथा भारतीय वृक्षों का स्थान उल्लेखनीय मात्रा में यूरोपीय वृक्षों-वनस्पतियों को दिया गया। तब भी, हमारा उस सीमा तक तथा उस रूप में विनाश नहीं हो पाया, जैसा कि अमरीका इत्यादि में हुआ। संपूर्ण विनाश एवं विश्व विजय की अपनी अपार क्षमता में यूरोपीयों का अडिग विश्वास पिछले कुछ दशकों में हिलने को विवश हुआ तथा किसी न किसी रूप में दूसरों के साथ संवाद का सम्बन्ध रखते हुए उन्हें अपने अनुकूल बनाने का विचार करने को वे बाध्य हुए। यह भारत समेत विश्व के उन सभी समाजों का यूरोपीय बुद्धि एवं आत्मा को विशिष्ट योगदान है, जिन्होंने पराजित एवं हतबुद्ध होने पर भी किसी

न किसी रूप में संघर्ष जारी रखा। महात्मा गांधी ने इस संघर्ष को अधिक व्यापक अर्थ और संदर्भ फिर से देने का प्रयास किया तथा भारतीय आत्मा, मानस एवं व्यक्तित्व को फिर से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। इस बीच इन तथा अनेक अन्य अनुभवों के कारण अंग्रेजों ने भी यही उचित समझा कि भारत को अधमरा अधपिटा ही छोडकर सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाय और आवश्यकतानुसार दूर से ही प्रभावित-नियंत्रित करने के तरीके खोजे जाते रहें तथा उन्हें व्यवहार में उतारा जाता रहे। गांधीजी के नेतृत्व में किये गये भारतीय पुरुषार्थ से आज हम एक राजनैतिक रूप से स्वाधीन समाज हैं और आगे की संभावनाओं तथा मार्गों के बारे में सोचने का कर्तव्य और चुनौती हमारे सामने है।

३. भविष्य और सुपथ की गवेषणा

एक स्वाधीन समाज के रूप में हमें अब भी भविष्य की अपनी संभाव्यताओं का विचार करना होगा। इसके लिए अपने इतिहास, समाज और परंपरा का गहरा बोध एवं प्रशान्त विश्लेषण आवश्यक है। साथ ही विश्व के बारे में भी अधिकाधिक और गहरी जानकारी प्राप्त करनी होगी।

सर्वप्रथम तो हमें अपनी पराजय के त्रास से अब मुक्त होना होगा। पराजय के बार बार स्मरण से मन की हीनता बढती है और बुद्धि तथा चित्त स्वस्थ नहीं रहते। इस हीनता के प्रभाव से भरपूर पराजय का स्मरण करते रहने के कारण ही विगत डेढ-दो सौ वर्षों में हममें इतनी अधिक स्मृतिभ्रंशता आ गई कि विदेशियों द्वारा हमारे बारे में जो अवधारणाएं और गाथा गढी गईं, उन्हें ही, हमने अपना ऐतिहासिक यथार्थ मान लिया। जैसा कि हम स्मरण कर चुके हैं, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा, कृषि, जीवनस्तर, समाजव्यवस्था, मानवीय सम्बन्ध एवं मानवीय सद्‌गुणों में दूसरों से कम न होने पर भी, हार के बाद हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग को अपने समाज के परंपरागत जीवन में सभी प्रकार की कमियां ही कमियां दिखने लगीं। स्मृतिभ्रंशता का यह दारुण रूप है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमें अपनी पराजय के तथ्य को विस्मृत कर देना है। एक श्रेयस्कर समाजव्यवस्था कैसे क्रमश: छिन्नभिन्न होती गई और अभी तक सम्हल नहीं पा रही है, इस पर विवेकपूर्ण चिंतन एवं विमर्श तो हमारे लिए आवश्यक है।

इस्लाम के अनुयायियों के आक्रमण का हमने सतत प्रतिरोध किया। उस प्रतिरोध की शक्ति क्या थी, और कमियां क्या रहीं, इस पर पर्याप्त विचार आवश्यक है। उस आक्रमण के बाद हम पुन: स्वस्थ क्यों नहीं हो पाये, यह विचार करना हमारे राष्ट्रीय मानसिक-बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। हमारे साहस, तितिक्षा, त्याग, संयम और वीरता में कमी नहीं रही। तब भी अपने संपूर्ण भारतीय समाज को आक्रमण की चुनौती के विरुद्ध संगठित कर पाने में हम विफल रहे। इस विफलता के कारणों की गहरी परख की आवश्यकता है। इसके लिए अपने संपूर्ण इतिहास की प्रशान्त भाव से जांच-परख करनी होगी। ऐसा लगता है कि हमारे राजनीति तंत्र (पोलिटी) के शीर्ष स्थानीय

लोगों का अपने व्यापक समाज से कुछ कटाव-विलगाव सात-आठ सौ या और अधिक वर्षो पहले से आरंभ हो गया। यह सही है कि भारतीय समाज अपने राज्यकर्तावर्ग को सदा ही अपने नियंत्रण में और मर्यादा में रखता रहा है। इसका मुख्य आधार भारतीय जीवनदृष्टि में और उससे प्रेरित हमारी व्यवस्थाओं में ही विद्यमान रहा है। किसी एक तरह के काम को या संस्थाओं, प्रवृत्तियों को प्रमुख मानकर अन्यों को उनके ही अनुरूप तथा अधीन बनाने के योग्य मान पाना भारतीय जीवनदृष्टि में मान्य नहीं रहा है। अत: राज्यकर्तावर्ग को अपने स्थान पर, अपनी मर्यादा में ही प्रतिष्ठा देने का भारतीय समाज अभ्यस्त रहा है।

किन्तु दूसरी ओर, सैन्य-आक्रमण की स्थिति में, प्रतिकार का सीधा भार जिस सेना पर आ पडता है, उस सैन्यशक्ति के बारे में शायद भारतीय समाज एक विशेष काल-खंड में पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाया। इसका भी प्रमुख कारण यही दिखता है कि विश्व में ऐसे समूहों, समाजों और संस्थाओं तथा आदर्शों के उदय और विस्तार के बारे में भारतीय मनीषा बहुत कुछ अनजान रही, जो दूसरे मनुष्यों और समाजों का विध्वंस या उन्हें पूर्णत: अधीन बनाकर उनका अपने अनुरूप रूपांतरण करना अपना परम पुरुषार्थ या परम कर्तव्य मानते हैं और इसी में जीवन का वैभव देखते हैं। भारतीय दृष्टि ऐसे लक्ष्यों एवं दृष्टियों में जीवन का तिरस्कार मानती है और उसे अनुचित समझती है।

भारतीय मनीषा में अपनी विश्वदृष्टि के कारण स्वयं को ही परिष्कृत-सुसंस्कृत बनाये रखने की साधना करते रहने का स्वधर्मभाव प्रबल रहा। किन्तु किसी कारणवश परधर्म का, बाहरी विश्व का पर्याप्त ज्ञान शायद आवश्यक नहीं समझा गया। ऐसी जानकारी के विस्तार को शायद व्यर्थ या उपेक्षणीय माना गया। संभवत: इसी कारण अपने सैन्यबल से विश्वविजय एवं विश्वविध्वंस के लिए तत्पर और सक्रिय समाजों या समुदायों का सामना करने योग्य आवश्यक सैन्यशक्ति का संग्रह और संगठन करने की ओर भारतीय समाज ध्यान नहीं दे पाया। मूलत: यह भारतीय मनीषा की एक विफलता है। उस विफलता के लिए ग्लानिभाव या हीनभाव की आवश्यकता नहीं। किन्तु उसे जान-समझ लेना आवश्यक है।

ऐसा लगता है कि अपनी इसी स्थिति के कारण भारतीय समाज आक्रमणकारियों को परास्त कर उन्हें लौटने को विवश कर देना अथवा समाज के एक अंग के रूप में घुलमिलकर रहने देना तो जानता रहा है। किन्तु यदि स्थायी आक्रमणभाव से सम्पन्न शत्रु लंबे समय तक देश के भीतर जमा-टिका रहे और युद्धरत रहे तथा अधिकांश भारतीय समाज को विनष्ट करने और अवशिष्ट समाज को अपने

अनुरूप रूपातंरित करने की दीर्घकालीन वैरनीति पर चल रहा हो, तो ऐसे आक्रमणकारी का सामना करने की क्या-क्या नीतियां, उपाय और व्यवस्थाएं हो सकती हैं, इस पर शायद भारतीय मनीषा ने अभी तक पर्याप्त विमर्श नहीं किया है।

संभवत: इसी कारण हम देखते हैं कि चाहे विजयनगर राज्य हो, या मराठा राज्य, या राजस्थान के राज्य, किसी ने भी इस्लाम के अनुयायियों के आक्रमण के निहितार्थों पर विस्तार और गहराई से समीक्षा की हो, विश्लेषण किया हो, उसके संदर्भ में दीर्घकालीन नीति निश्चित की हो, ऐसा नहीं लगता। इसी प्रकार पुर्तगाली, डच, फ्रैंच, अंग्रेजों के आने पर और भारतभूमि पर स्वयं को स्थापित करने पर इसके निहितार्थों का विचार भारतीय हिन्दू या मुस्लिम राज्यों ने किया हो, ऐसा नहीं दिखता। जहांगीर ने तो पुर्तागालियों के विरुद्ध अंग्रेजों की मदद भी स्वीकार की और विजयनगर के राजाओं और मराठों ने यूरोपीयों से तरह-तरह की सैनिक सहायता अपने लडाई-झगडों के समय प्राप्त की, यह तो हम सब जानते हैं। यह नहीं की हमारे समाज को धर्म और स्वधर्म का बोध नहीं था, या कि अपने पुन: उत्कर्ष, आत्मगौरव और सफलता की इच्छा नहीं थी। पर शायद यह कह सकते हैं कि 'परधर्म' का ठीकठीक ज्ञान नहीं था, उसके रूपों और अभिव्यक्तियों की पर्याप्त जानकारी नहीं थी। आगे कभी फिर वैसी ही नई नई चुनौतियां आ जाएँ और नये आक्रमण होते रहें, तो क्या करना है, इसकी कोई राष्ट्रीय तैयारी कभी नहीं हुई। उसका प्रयास भी हुआ नहीं दिखता।

ऐसा न होने के कारण हमारे अभिजनों और राज्यकर्ताओं का विदेशी आक्रामकों से रिश्ता प्रगाढ होता गया। समय समय पर वे उन पर निर्भर ही रहने लगे और इस प्रक्रिया में स्वयं अपने समाज के प्रति उनका आत्मभाव समाप्त होता गया, परभाव आता गया। इस स्थिति की ओर शायद सचेत रूप में कभी ध्यान ही नहीं जा पाया।

ऐसी विखंडन की स्थिति में अंग्रेज भारतीय समाज को, विशेषत: उत्तर भारत में, पूरी तरह अपने नियंत्रण में लेने में सफल हो गये। जैसा कि हमने विचार किया है, हमारी इस विफलता का कारण आक्रामकों की तुलना में अपने समाज में विषमता की अधिकता, या शिक्षा की कमी या विज्ञान-प्रौद्योगिकी का अभाव या सामाजिकता का अभाव अथवा मानवीय गुणों की विशेष कमी नहीं थी, अपितु एक विशिष्ट राजनैतिक बुद्धि का और आवश्यक बौद्धिक-राजनैतिक निर्णयों का अभाव था।

अंग्रेजी आक्रमण के बाद भारतीय अभिजनों के एक बडे वर्ग में अपने समाज से और अधिक विलगाव आता गया तथा आक्रामकों के प्रति और अधिक दास्यभाव आता गया। अंग्रेजों को सामाजिक विध्वंस तथा बलात् सामाजिक रूपांतरण का, जन-गण को

दास बनाने का बहुत लंबा अनुभव था। और इसमें दक्षता थी। अत: उन्होंने भारतीय विद्या, विज्ञान, संस्कृति, धर्म, शिल्प, कला, साहित्य, कृषि समेत समस्त साधनों एवं जैव-द्रव्यों (बायोमास) तथा बौद्धिक-आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को अपने नियंत्रण में लेकर उन्हें अपने अनुरूप ढाला। जितना विध्वंस और जैसा रूपांतरण आवश्यक समझा, किया। उस हेतु हर क्षेत्र में नई व्यवस्थाएं बनायीं ताकि एक सीमित राज्यकर्ता समूह को बौद्धिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक क्रियाशीलताओं का अधिकार रहे और शेष समाज दासों या भेडों या द्रव्य-राशि (मैस) की तरह रहे। इसमें शायद यह विचार भी निहित रहा होगा कि बृहत् समाज की जनसंख्या इतनी नियंत्रित रखी जाय, ताकि उसे आगे चलकर कभी अच्छी तरह पाला-पोसा जा सके, पशुओं की तरह उनका ठीक से पालन-पोषण हो और अपने प्रयोजनों के लिए उनका उत्तम औजार के रूप में समुचित प्रयोग किया जाता रहे तथा वे सब इसी में अपनी धन्यता, अपनी सार्थकता अनुभव करें। जैसी कि पहले चर्चा हो चुकी है, यूरोप में शताब्दियों से ऐसा ही होता रहा था। भारतीय संस्कृति की भी एक ऐसी व्याख्या और छवि प्रस्तुत की जाय कि आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिका एक 'टूल', एक औजार बनने में ही उसकी प्रासंगिकता और सार्थकता दिखने लगे, यह प्रयास एवं विचार रहा दिखता है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति, आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का एक सक्षम सेवक या परिष्कृत औजार के रूप में रूपातंरित और व्याख्यायित कर दी जाय तथा इसी में उस संस्कृति का गौरव और धन्यता मानी जाय, यह योजना रही है। इसके लिए रची गई संस्थाओं और व्यवस्थाओं का पर्याप्त प्रभाव हुआ। हमारे समर्थ सपूतों और सुपुत्रियों तक में उसके प्रभाव देखे जा सकते हैं।

लेकिन यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि यह कोई भारत की ही अनूठी स्थिति नहीं है । पराजय की दशा में हर समाज में तरह-तरह से बिखराव आता है, टूटन आती है, विकृतियां आती हैं। फिर, साधना और तप से, समझ और पुरुषार्थ से समाज पुन: स्वस्थ हो सकता है तथा उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। पराजय, विकृति या रोगों का ही स्मरण करते रहना स्वास्थ्य-लाभ में बाधक बनता है। उसका निदान कर लेना पर्याप्त है। फिर उसके प्रभावों को दूर करने में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। विगत का शोक और हीनता का भाव समाज को स्वस्थ होने देने के मार्ग में बडी बाधा है।

विश्व के सभी समाज पराजित भी होते रहे हैं। स्वयं ब्रिटेन इतिहास में ग्यारहवीं शताब्दी तक बार बार पराजित हुआ। ग्यारहवीं शती ई. में नोर्मनों ने ब्रिटेन के तत्कालीन समाज को परास्त कर ध्वस्त कर दिया और उस विध्वंस में से ही अपना सशक्त राज्य रचना शुरू किया। मुख्यत: उसी आधार पर ब्रिटेन तब से अब तक टिका हुआ है। रूस

भी बार बार पराजित होता रहा। आज वह विश्व की एक महाशक्ति है। मध्य एशिया के लोगों का तथा नार्मनों का आक्रमण रूस को शताब्दियों तक झेलना पडा, लेकिन उसमें से वह उभर आया। चीन पर भी मध्य एशिया के विविध समुदायों के आक्रमण हुए और सन् १८०० ई. के बाद तो यूरोप ने चीन को घेर ही लिया और सौ - सवा सौ वर्ष तक अपने आधिपत्य में रखा। आज चीन अपनी सभ्यता का पुन: संगठन कर एक बडी शक्ति के रूप में उठा है। दक्षिण यूरोप के अनेक देशों पर एक समय इस्लाम का आधिपत्य रहा और वे उसके द्वारा अधीन रखे गये। बाद में बहुत कुछ इस्लाम की ही तरह, वे स्वयं विश्व में अपना साम्राज्यवादी विस्तार करने लगे। इस अर्थ में शायद ब्रिटेन व यूरोप का उदाहरण भारतीय समाज के स्वास्थ्य लाभ के संदर्भ में अप्रांसगिक है। किन्तु इस तथ्य का तो स्मरण कर ही सकते हैं कि १६ वीं शती ई. के बाद अन्य समाजों को पराजित करने वाले यूरोपीय राज्यकर्ता समुदाय उससे पहले स्वयं शताब्दियों तक पराजित होते रहे थे।

संभवत: जापान का उदाहरण भारत के लिए और अधिक उपयोगी हो। लगभग १५५० ई. से वहां पुर्तगाल और हालैंड के व्यापारी तथा जेसुइट मिशनरी जाने लगे। ऐसा कहा जाता है कि ५० वर्षों के भीतर जापान में पांच लाख लोगों को ईसाई बना डाला गया। तब जापान सजग हुआ। उसने पुर्तगाल से सम्बन्ध तोड लिये। मिशनरियों को बाहर निकाला और आने से रोका। मात्र डचों को १८६० ई. तक कुछ बंदरगाहों वगैरह में आने-जाने दिया। अपने मतलब का संपर्क रखा। ऐसा कहा जाता है कि इस इतने संपर्क के द्वारा ही जापान ने अपने ढंग से यूरोप को, यूरोपीय बुद्धि को समझ लिया। माना जाता है कि जैसे कैमरे का 'एपरचर' पूरी तरह तस्वीर ग्रहण कर लेता है , वैसे ही जापानियों ने इस सीमित संपर्क से यूरोपीय व्यक्तित्व को जान लिया और उसमें से उन्हें जो ग्रहण करने योग्य लगा, वह ग्रहण कर लिया तथा आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार बिखरता व सिकुडता जापान फिर से एक संपन्न सबल देश बनने लगा।

फिर सन् १८८४ ईं. में जापान में तीस खंडों वाली एक दसवर्षीय योजना बनी। इस योजना का नाम था 'कोग्यो आइकेन'। इसमें कहा गया -

'जापान के उद्योगो के निर्माण में किस बात को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। वह न तो पूँजी हो सकती है, न ही नियम-व्यवस्थाएं, क्योंकि ये दोनों मृत वस्तुएं हैं, इनमें स्वयं प्राण नहीं है और ये स्वत: प्रभावशाली नहीं हैं। आत्मशक्ति एवं इच्छा इन दोनों को गतिवान बनाती हैं। .... यदि इनके प्रभाव के सामर्थ्य के अनुरूप हम तीनों को महत्त्व दें, तो आत्मबल और इच्छा को पांच भाग प्राप्त होगा, विधान एवं नियम

व्यवस्थाओं को चार भाग, तथा पूँजी को केवल एक भाग।'

हम आज देखते हैं कि आत्मबल एवं इच्छा तथा तदनुरूप खडी की गई व्यवस्था के बल पर जापान सशक्त बनकर उभरा। वस्तुत: ये नियम सार्वभौम ही हैं। भारत में भी यही मान्यता रही है। 'क्रियासिद्धि सत्त्व से होती है, उपकरण से नहीं' - जैसी अनेक सूक्तियां प्रसिद्ध हैं। 'रघुवंश' और 'मुद्राराक्षस' में भी ऐसे कथन हैं। यूरोप भी जब खडा हुआ होगा और फैला होगा, तो इन्हीं नियमों से। उन नियमों की अभिव्यक्ति उसने अपनी दृष्टि के अनुरूप की। जब यूरोपीय समाजों ने फैलना शुरु किया, तो उनके पास साधन विशेष नहीं थे। न शिक्षा, न विज्ञान, न प्रौद्योगिकी, न कृषि, न शिल्प। दूसरों की तुलना में उनके पास ये कोई विशेष अधिक नहीं थे। उत्पादन और पूंजी भी अन्य समाजों से अधिक नहीं थी। किन्तु उन्होंने संकल्पबल (स्पिरिट) और इच्छाशक्ति के साथ संगठित ढंग से फैलना शुरू किया। वैसी व्यवस्था बनाते गये तथा फिर साधन भी जुटते गये। विश्व के सभी समाजों तथा व्यक्तियों के लिये ये नियम सामान्य हैं।

भारत में गांधीजी ने जब समाज का पुनस्संगठन शुरू किया, तब भी यही प्रक्रिया अपनायी। उन दिनों हम में हीनता गहरी आ गयी थी, साधन छीने जा चुके थे, समाज को दरिद्र-कंगाल बनाया जा चुका था। गांधीजी ने आत्मबल एवं इच्छाशक्ति से समाज को संगठित करना प्रारंभ किया तथा समाज के आत्मबल और इच्छा को जगाया। उसके लिए आवश्यक वैसे संगठन खडे किये, जैसे कि उन दिनों संभव थे। तब साधन भी जुटने लगे और स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढना भी संभव हुआ।

इसीलिए अपनी पराजय को लेकर क्रन्दन या विलाप या शोक करते रहना बंद करना होगा। विश्व के सभी समाज जय-पराजय के अलग-अलग क्रमों से, उतार-चढाव से गुजरते रहे हैं। हम अपने को बहुत अलग, अनोखा या बहुत विशेष हीन न मानें।

हमारी सभ्यता की स्थिति तो कई तरह से बेहतर है। हमारी अपनी विशेषताएं भी हैं। पिछले पांच हजार और उससे भी अधिक समय से हमारा समाज अधिकांशत: उन्हीं जनसमूहों का रहा है, जो तब से अब तक पीढी-दर-पीढी इसी भूमि पर रहते आये हैं। अनेक देशों में तो आक्रान्ता समुदाय ही शासक बन बैठे और पुरातन समाज को आत्मसात् कर लिया। हमारे यहां वैसी स्थिति नहीं आई। आक्रामकों का प्रभाव तो पड़ा, पर इतना नहीं कि हम पूर्णत: रूपातंरित हो उनके औजार हो जाएं। हां, हमारे अभिजातवर्ग या राज्यकर्ता एवं शक्तिशाली वर्ग में अवश्य पिछले ८००-१००० बरस में गठबंधन की प्रवृत्ति प्रबल रही। समाज से वे अधिकाधिक कटते गये। पर अभी भी भारतीय समाज की अपनी परम्परा प्रवाहित है। वह समाज अपनी अभिव्यक्ति विविध

रूपों में करने का प्रयास भी करता रहता है। यह सही है कि अंग्रेजी राज्य के समय हमारे अभिजनों में हीनता बहुत गहरी होती गई और अपने इतिहास तथा वर्तमान तक को ये अभिजन अंग्रेजों की ही दृष्टि से देखने में धन्यता का अनुभव करने लगे। तब भी इनमें से जो सपूत-सुपुत्रियां आगे आये, उनमें देशभक्ति भरपूर थी और अपनी बुद्धि के अनुरूप उन्होंने देश को सुदृढ बनाने की इच्छा रखी और प्रयास किये।

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज जैसे ईसाइयत से अभिभूत प्रयासों के पीछे भी शायद दृष्टि यही रही कि एक सुदृढ भारत का निर्माण करना है। यह अवश्य रहा कि देश की यह कल्पना इन लोगों के भीतर यूरोपीय ही रही। देश के लोगों के प्रति उनमें आत्मभाव नहीं रहा। तरस या दया का अथवा दु:ख-क्षोभ का तथा करुणा का भाव प्रमुख रहा और देशवासियों के कल्याण के लिए उनका रूपांतरण आवश्यक लगता रहा। यह दृष्टि रही कि वे हमारी योजना में सहभागी हों, उसके अंश बने, तभी उनका कल्याण है। देशवासी स्वयं जो सोचते हों, योजना बनाते हों, उसका महत्त्व इन लोगों की दृष्टि में नगण्य ही रहा।

विवेकानन्द जैसी प्रतिभा इनसे भिन्न थी। उनमें भारतीय लोगों के प्रति गहरा ममत्व था, आत्मीयता थी। उनकी दुर्दशा पर गहरी यंत्रणा थी, वेदना थी, विक्षोभ था, पीडा थी। वे इस दुर्दशा का अंत चाहते थे। इस हेतु व्यग्र थे। किन्तु अपने बंगाली परिवेश और बंगाल के नवप्रबुद्ध वर्ग की संस्कृति से भी वे स्वाभाविक ही प्रभावित रहे। राजेन्द्र लाल मित्र जैसे आधुनिक बंगाली विद्वानों की इतिहासदृष्टि को उन्होंने इतिहास तथ्य मान लिया। इस प्रकार इतिहास का भ्रान्त ज्ञान उन्हें व्याप्त किये रहा। भारत को शताब्दियों से दरिद्र, विषमताग्रस्त, विज्ञानविहीन, प्रौद्योगिकी रहित तथा भारत के बृहत् समाज को शिक्षा रहित, असंस्कृत, पिछडे मानने वाली इतिहासदृष्टि का प्रभाव उन्हें बांधे रहा। निश्चय ही आयु भी इसमें एक कारण थी। विवेकानंद में प्रबल प्रतिभा थी और यदि वे तीस-चालीस वर्ष और जीवित रहते तो शायद बहुत कुछ समझ लेते तथा सम्हाल लेते। यूरोपीय इतिहासदृष्टि का ऐसा ही प्रभाव बंकिम इत्यादि पर भी दिखता है। बंकिम के समय से लेकर अब तक शिक्षित वर्ग में यह प्रभाव बढा ही है, यह तो हम आज देखते ही हैं।

स्वामी दयानन्द जैसे लोगों की अलग पृष्ठभूमि रही। दयानन्द अपने सीमित परिवेश के प्रभाव से बहुत दिनों बँधे रहे। भारतीय किसानों एवं ग्रामीणों की जीवनदृष्टि और समाजदृष्टि से उनका अपरिचय रहा। पूजापाठ करने व शास्त्र वगैरह पढने-पढाने वाले समुदाय से ही अधिक परिचय रहा। फलत: प्रगाढ देशप्रेम एवं संस्कृतिप्रेम होने पर

भी वे यूरोपीय मनीषा और भारतीय मनीषा के आधारभूत अन्तरों को पहचान नहीं पाए। किन्तु वे एक परिश्रमी और कुशल संगठक थे। संयम और तप से सम्पन्न इनके जीवन ने अनगिनत लोगों के संस्कृतिप्रेम एवं आत्मगौरव के भाव को प्रेरणा दी। लेकिन उनके जाने के बाद उनके मानने वाले प्रमुख व्यक्ति अधिकांशत: पश्चिमीकृत बने।

इसके पहले जो भक्त सन्त हुए, उन्होंने समाज की कमियों और शक्ति को अपने ढंग से समझा था। समाज को संगठित करने के उन्होंने अनेक प्रयास किये और उन प्रयासों का परिणाम भी हुआ। बसवेश्वर, कबीर, रविदास, दादू, मीरा, तुलसी, सूर, नामदेव, तुकाराम, ज्ञानदेव जैसे सन्तो-सिद्धों ने भारतीय समाज को पुनस्संगठित करने के अनेक उपाय किये। उनका कुछ प्रभाव भी हुआ। परन्तु सामाजिक दृष्टि से उत्तरी भारत में किसी भी सन्त का प्रभाव यहां के शक्तिशाली स्वदेशी अभिजनों में पर्याप्त रहा नहीं दिखता। उत्तरी भारत के अभिजन विदेशी आक्रामकों के प्रति दास्यभाव में अधिक बँध गये दिखते हैं।

अंग्रेजी राज में तो ऐसा अभिजन-समूह अधिकाधिक शक्तिशाली बना, और अपने समाज से अधिकाधिक कटा हुआ भी। इसकी परिणति जवाहरलाल नेहरू जैसे व्यक्ति में हुई। ये पश्चिमीकृत अभिजन, यूरोप के अधिकाधिक सम्पर्क में आते गए। विशेषकर इंग्लैंड के। वहीं पढने व सीखने जाने लगे। इससे पश्चिम के प्रति लगाव और पश्चिम के अनुकरण की प्रवृत्ति बढी। इन लोगों में राष्ट्रवाद था, वे राष्ट्रको सुदृढ देखना चाहते थे। ये अंग्रेजों से भारत को छुटकारा भी दिलाना चाहते थे। यह छुटकारा कैसे मिले, यह प्रश्न था। साथ ही उनके जाने के बाद यहां की जीवनव्यवस्थाएं कैसी हों, यह 'मॉडल' निश्चित करने का प्रश्न था।

अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय सभ्यता से प्रभावित समूह इन प्रश्नों का कोई वास्तविक उत्तर नहीं ढूंढ पाये। अंग्रेजों के अधिक सम्पर्क से इन्हें लगा कि हम भी भारत में इनकी जगह ले सकते हैं। अत: अंग्रेज जाएं, इसके लिए तो इनमें व्यग्रता बढी। किन्तु साथ ही, उनकी जगह स्वयं लेकर भारतीय समाज को वैसे ही चलाने की ललक भी बढी, जैसे कि इनकी समझ से अंग्रेज चला रहे थे। जीवन का, सभ्यता और समाज-व्यवस्था का वही 'मॉडल' इन्हें सार्वभौम लगता था। उससे छुटकारे की वे कल्पना तक नहीं कर पाते थे।

उस 'मॉडल' से छुटकारा पाने की आवश्यकता गांधीजी को लगी। इसीलिए वे एक ऐसी व्यवस्था की भी रूपरेखा प्रस्तुत कर पाए, जो अंग्रेजों के जाने के बाद भारतीय समाज एवं राज्य के संचालन का आधार बनती। गांधीजी पश्चिम को भी ठीक से समझ

पाए और अपनी चिन्तन-परम्परा, जीवन-दृष्टि परम्परा से भी कटे नहीं। यह कैसे हुआ, इसका ठीक ठीक कारण तो ज्ञात नहीं। शायद काठियावाड़ रियासत के परिवेश के कारण और साथ ही किसानों के संस्कार, बुद्धि, आदर्शों, आकांक्षाओं से परिचय के कारण वे ऐसा कर पाए, या अन्य कई कारण रहे होंगे। शायद वे अवतारी प्रतिभा थे। जो भी हो, आधुनिक यूरोप की ठीक ठीक पहचान के साथ ही, वे अपनी भारतीय बुद्धि खो देने से भी बचे रह पाये, यह बडी बात है और इसी कारण उन्होंने जो भी संस्थायें और व्यवस्था बनाई, जैसे अखिल भारतीय कांग्रेस का विधान, उसमें वही पम्रपरागत भारतीय बुद्धि और व्यवस्था ले आये।

गांधीजी के पहले कुछेक सौ वर्षों से भारत में मानो क्षेत्र या अंश विशेष के ही प्रतिनिधि नेता उभरते रहे। गांधीजी सम्पूर्ण समाज के नेता बने। उनमें कई सौ वर्ष बाद पहली बार सम्पूर्ण समाज ने अपनी अभिव्यक्ति पाई। इसी को शायद हमारे यहां अवतार कहा जाता है। गांधीजी ने भारतीय परम्परा की पुनर्प्रतिष्ठा की। ऐसा नहीं है कि उन्हें समाज की कमियां नहीं दिखती थीं या पुरुषार्थ और सृजनशक्ति में आ गई कमी नहीं दिखती थी। वह सब दिखता था। पर साथ ही उन्हें इस समाज की शक्ति, इसका शील, इसकी सृजनात्मकता भी दिखती थी। इसकी अपनी जो बोध परम्परा, पुरुषार्थ परम्परा, जीवन परम्परा थी, उसका महत्त्व भी उन्होंने समझा। गांधीजी ने उसे ही वापस लाने का प्रयास किया। परम्परा को नयी अभिव्यक्ति दी। इससे समाज का भय मिटा, हीनता घटी, आत्मबल जगा और रचना की इच्छा जगी। यही गांधीजी का मुख्य सामाजिक योगदान है कि उन्होंने भारतीय समाज के विश्वास को फिर से प्रतिष्ठा दी, शक्ति दी, प्रत्यावर्तन किया। भारतीय जीवन-दृष्टि, भारतीय सभ्यता के अनुरूप क्या समाज-व्यवस्था, राज्य व्यवस्था एवं अन्य व्यवस्थाएं हो सकती हैं, इस पर सोचने के आत्मविश्वास और इच्छा को गांधीजी ने जागृत किया और इससे भारतीय समाज में शक्ति की अनुभूति होना आरम्भ हुआ। गांधीजी ने परम्परागत 'मॉडल' की पुनर्रचना की कोशिश की। उससे पूरे देश में प्राण का, आत्मगौरव का और सृजनशीलता का पुन: संचार हुआ। यूरोपीय सभ्यता और भारतीय सभ्यता के आधार, लक्ष्यों, कार्यपद्धति के अन्तर को समझकर उसे व्यापक बोध का आधार बनाने का प्रयास गांधीजी ने किया। सभ्यता के इन आधारभूत अन्तरों को समझे बिना हम कुछ भी रच नहीं पायेंगे।

मानव जाति की विविध सभ्यताएं रही हैं और हैं। इनके इतिहास और स्वरूप पर अनुसन्धान का कार्य लगातार चलता रहता है। मुख्यत: तो हर समाज अपनी सभ्यता की स्मृति अपने ढंग से जीवन्त रखता है और यह स्मृति ही संस्कार, संकल्प, प्रेय तथा

श्रेय रूपों में आकांक्षा और सर्जना के विविध पुरुषार्थ का आधार बनती है। इस स्मृति का बने रहना ही किसी विचार और व्यवहार को अधिप्रमाणित करता है। स्मृतिरहित कथन या चिन्तन, अधिप्रमाण्यरहित कथन या चिन्तन हो जाता है। उसका वास्तविक बल नहीं रह जाता।

प्रत्येक समाज में स्मृतिरक्षा या स्मृतिप्रवाह की परम्परा भिन्न भिन्न होती है। स्मृति, संकल्प, बोध और लक्ष्य के विशिष्ट लक्षणों द्वारा ही किसी सभ्यता की विशेष पहचान होती है। मनुष्य मात्र में कतिपय मूलभूत प्रेरणाएं होती हैं। ये प्रेरणाएं सार्वभौम हैं। इस स्तर पर सार्वभौमिकता या 'युनिवर्सेलिटी' आधारभूत तथ्य है। साथ ही, प्रत्येक सभ्यता में ऐसी प्रेरणाएं विशिष्ट पुरुषार्थरूपों का आधार बनती रही हैं। समाज का जीवन समाज के आदर्श, समाज के परस्पर व्यवहार, विद्या सम्बन्धी बोध और विभाग, विद्या की विविध शाखाओं-अध्यात्म, भाषा, व्याकरण, दर्शन, शिल्प, समुदाय, कृषि, आहार, विहार; भूषा, भवन, भोजन, सज्ञा, शिष्टता आदि सम्बन्धी विचार और व्यवस्थाएं; कला, संगीत,नृत्य, साहित्य, काव्य, इतिहास या स्मृतिपरम्परा, गणित, चिकित्सा, जीवनविधि, संयमविधि, स्वास्थ्यविद्या या आयुर्विद्या, विविध संस्कार, अनुष्ठान, घर, घर की सुरक्षा, घर का वैभव, घर का परिवेश, अपने पालतू प्राणियों तथा परिवेश के प्राणियों, पशुपक्षियों आदि जीवों एवं वनस्पतियों के प्रति दृष्टि, भाव तथा व्यहार; उपासना, शिष्टाचार, तथा अन्य पक्षों के अंगभूत कर्मकांड, राज्य, राज व्यवस्था, राजनीति तंत्र, समाज के विविध समुदायों की स्थिति का निरूपण और उनके परस्पर सम्बन्धों के आधारों का निरूपण, सैन्यविद्या एवं सैन्यआदर्श, सैन्य-बल-संगठन, व्यापारवाणिज्य, परिचर्याकर्म, जन्म, विवाह, परिवार, नरनारी में परस्पर आादर या अनादर और समाज में ऐसी मान्यताओं का स्थान, संतति आदि से सम्बन्धित श्रद्धा-परम्पराएँ, वीरता, विनय और साहस तथा शिष्टता, समझौता और सहनशीलता सम्बन्धी विचार और व्यवहार, सौन्दर्य और कुरूपता, सुरुचि और कुरुचि तथा शील और स्वैराचार सम्बन्धी विशिष्ट बोध एवं मान्यताएं, मृत्यु तथा श्राद्ध परम्पराएं, दंड और क्षमा सम्बन्धी विचार और व्यवहार आदि प्रत्येक सभ्यता के विशिष्ट लक्षणों के क्या क्या कारण हुआ करते हैं, यह निरन्तर अध्ययन, अनुसंधान, अवधान और जिज्ञासा के विषय हैं। स्वयं इन लक्षणों की समझ का स्वरूप भी किसी सभ्यता के ही विशिष्ट लक्षण समुच्चय का अंग होता है। अत: ये विशिष्ट लक्षण अधिक से अधिक जानना ही किसी सभ्यता को जानना है। उसके बिना मात्र सार्वभौमता को जानना, वस्तुत: लगभग न जानने जैसा है। मात्र सार्वभौमता को जानना बौद्धिक तमस में प्रसुप्त

रहता है। जगत् गति का ज्ञान उससे नहीं होता। परागति के लिए जो तेजस चाहिए, वह भी इस मूढता की चित्त दशा में सम्भव नहीं होता। इस प्रकार विशिष्ट लक्षण प्रमाण-संयुक्त वस्तुतत्त्वों का विवेक ही धर्म के बोध का माध्यम होता है।

सभ्यताओं के ये वैशिष्ट्य, मात्र देश-काल के भेद से नहीं होते। उन्हें मात्र भिन्नभिन्न देश-काल के प्रति एक ही सार्वभौम और एकरूप मानवीय चेतना की भिन्नभिन्न प्रतिक्रियाएं या 'रेस्पांसेज' मानना जीव की शक्तियों की अवहेलना करना है। रेस्पांसेज स्मृति और संस्कार के आधार पर होते हैं। लेकिन स्मृति विशेष और संस्कार विशेष का एक दीर्घ विस्तृत एवं गहरा व्यापक प्रवाह होता है, जो भिन्नभिन्न समाजों में भिन्नभिन्न होता है। स्वयं भाषा इन्हीं विशिष्ट प्रवाहों की वाहक होती है। अत: मात्र सार्वभौमता का स्तर भाषा के परे का स्तर है। भाषा जिस स्तर से आरम्भ हो जाती है, वहीं से सभ्यता का वैशिष्ट्य भी प्रमुख हो जाता है। घट रही घटना और देख रही बुद्धि-दोनों जीव के स्तर पर साथ साथ हैं। इसीलिए किसी भी घटना, क्रिया या वस्तु का बोध, मात्र बाहरी वस्तुतंत्र का परिणाम नहीं होता, वह आन्तरिक चित्ततंत्र का भी परिणाम होता है। हमारे यहां तो बाहर भी चित्त सत्ता मानी गई है। महाकवि तुलसीदास के शब्दों में 'अंतरजामिहु ते बडा बाहिरजामी हैं राम।' अत: उस दृष्टि से वस्तु और चित्त का आब्जेक्टिव-सब्जेक्टिव वाले अर्थ में विभेद सम्भव नहीं। कह सकते हैं, बाह्य वस्तुतंत्र एवं आन्तरिक वस्तुतंत्र दोनों ही प्रत्येक घटना, क्रिया या भाव रूप के सन्दर्भ में साथ साथ हैं, साथ साथ सक्रिय होते हैं। एक अर्थ में दोनों स्वायत्त व स्वप्रतिष्ठ हैं, पर अधिक गहरे अर्थ में दोनों परस्पर आश्रित हैं एवं अभिन्न भी हैं। अत: इसे ही यों भी कह सकते हैं कि बाह्य चित्तप्रवाह और आंतरिक चित्तप्रवाह साथसाथ हैं, प्रत्येक घटना, क्रिया या भाव रूप के सन्दर्भ में दोनों का समान महत्त्व है।

इसीलिए मात्र देश काल का महत्त्व नहीं, चित्त परम्परा का भी महत्त्व है यानी सभ्यता विशेष का। प्रत्येक सभ्यता की अपनी ज्ञान परम्परा, चित्त परम्परा होती है। विश्व में विविध सभ्यताएं हैं और ये आपस में एक दूसरे को ऊंचा-नीचा, श्रेष्ठ-निष्कृट देखती हैं या समान स्वतंत्र अभिव्यक्तियों के रूप में देखती हैं या कि सागरीय वृत्तों की तरह देखती हैं-आदि भेद भी सम्बन्धित सभ्यता की ही विशेषता होती है। निश्चित ही इस चित्त परम्परा में बहुत सी बातें सामान्य होती हैं। लेकिन बहुतसी विशिष्ट भी होती हैं। और ये विशिष्टताएं ही किसी सभ्यता का विशिष्ट लक्षण या गुणधर्म होती हैं। अत: भारत और यूरोप को जानना दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं को जानना है। इन्हें किसी सार्वभौमता पर आग्रह के साथ जानने की चेष्टा पर बल देने से जान पाना असम्भव हो जायेगा।

यहां यह स्मरण स्वाभाविक है कि हजारों साल से दुनिया में विविध मानव जातियां, विविध सभ्यताएं सक्रिय हैं। उनमें परस्पर आदान प्रदान भी होता रहा है, प्रभाव ग्रहण करना और सम्प्रेषित करना निरन्तर चलता रहता है। पुरानी सभ्यताओं में से चीन और भारत का उल्लेख किया जा सकता है, जो अभी भी सक्रिय हैं। ये भी परस्पर प्रभावित होती रही हैं। यूरोप से भी इनका सम्बन्ध रहा है। आदान प्रदान का रिश्ता भी रहा है। किन्तु साथ ही यूरोप की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। वे विशेषताएं विगत ४००-५०० वर्षों में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचीं और उनसे इस पृथ्वी की सभी मानव जातियाँ प्रभावित हुईं। अनेक सभ्यताएं तो इस यूरोपीय प्रभाव से नष्ट हो गई हैं। अनेक में अन्य तरह के परिणाम उभरे। इसीलिए उन विशेषताओं का स्मरण आवश्यक है। हम इन विशेषताओं को अपने सन्दर्भ के साथ स्मरण करें, तो अधिक सुगमता होगी।

सर्वप्रथम हम अपनी सभ्यता की आधारभूत विशेषताओं का स्मरण कर लें, क्योंकि उन्हें सामान्यत: हम जानते हैं और वे हमारी प्रतिमाएं हैं, हमारी माप हैं। उनके प्रमाण से ही हमें अन्य विषयों की वास्तविक प्रमा यानी बोध सम्भव है। इनका स्मरण इसलिए आवश्यक है, क्योंकि जैसा हम देखेंगे हमारी सभ्यता के इतिहास के उत्कर्ष और अपकर्ष, स्वावलम्बन और अधीनता, वैभव और अभाव सभी में इन प्रतिमानों और प्रतिमाओं की निर्णायक भूमिका है। संक्षेप में इन्हें सात मुख्य आधारों के रूप में समझा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक आधार के कम से कम तीन पक्षों की स्मृति भी साथ साथ होती है। वैसे तो प्रत्येक आधार के अनेक पक्ष हैं -

(१) सत्य, ऋत, सनातन धर्म।
(२) अनन्तता, वैविध्य, विविध धर्म।
(३) अनन्त पथ, अन्नत यज्ञ, अन्नत लीला या माया।
(४) त्रिविध श्रद्धा (सात्त्विक, राजसिक, तामसिक)
(५) विवेक, तर्कणा, आप्तवचन।
(६) कर्मफल, कर्तव्य कर्म, स्वधर्म ।
(७) अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म-वस्तुसत्ता के तीन पक्ष।

इनका विस्तार यहां अप्रासंगिक है। इसके विपरीत यूरोपीय चित्त परम्परा के ये मुख्य आधार दिखते हैं -

(१) सत्यदूत (चिन्तक, मैसंजर, प्रभुपुत्र-विशेष आदि) जिसके माध्यम से ही द ट्रुथ, द गुड, द ब्यूटी की सही समझ सम्भव है।
(२) मैटर यानी यह सब विश्व।

(३) स्पिरिचुअलिटी, जो सत्यदूत की शरण में जाने पर ही प्राप्त होना सम्भव है।

(४) फेथ, जो स्पिरिचुअलिटी का सच्चा लक्षण है।

(५) लॉजिक और रेशनेलिटी। (भारतीय दृष्टि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में विवेक शक्ति होती है जबकि लॉजिक और रेशनेलिटी विशेष प्रशिक्षण से ही सम्भव माने जाते हैं।)

(६) फेट या डेस्टिनी। (भारत में इससे विपरीत भाग्य और कर्मफल की बात है, जो व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ का परिणाम है। फेट या डेस्टिनी पूर्व निर्धारित होते हैं।)

(७) मेटाफिजिक्स, जो इन सबका नियामक है।

ग्रीक काल से ही यूरोपीय सभ्यता इन्हीं आधारों पर टिकी रही है। हर धारा में असहमतियां एवं विद्रोह उभरते हैं। अत: यूरोप में भी उभरते रहे। पर कोई भिन्न प्रवाह वहां ज्ञात इतिहास में उभरा नहीं दिखता। अनन्तता का बोध जहां अनन्त सागरीय वृत्तों के बोध की ओर ले जाता है, वहीं सत्यदूत द्वारा अनुशासित 'मैटाफिजिक्स' एक विशिष्ट उच्चावचक्रम युक्त समाजपद्धति को जन्म देती है। इसीलिए ग्रीक सभ्यता के काल से ही वहां दास प्रथा पर आधारित समाज रहा। यहां समता-विषमता वाली बात नहीं की जा रही है। कुछ न कुछ विषमता, अधिकारों और स्रोतों सम्बन्धी विषम आचार-व्यवहार सम्पूर्ण विश्व में रहे हैं, अत: भारत में भी रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भारत में सम्पन्नों ने विपन्नों के प्रति मात्र करुणा ही की। निश्चय ही मारा-पीटा, लूटा, तभी विपन्नता सम्भव हुई। अपने अधिकार अधिक रखना सत्तारूढ लोगों की प्रकृति है और वह भारत में रही। अपने ही लोगों के दमन-उत्पीडन, अधीनता में रखने, परभाव से देखने और व्यवहार करने के भारतीय इतिहास में भी साक्ष्य मिल जायेंगे। अधर्म और अनौचित्य से पूर्णत: रहित कोई समाज शायद ही रहा हो।

अपनी अनुचित और अधर्ममय अभिव्यक्तियों को धर्मानुकूल बताने की प्रवृत्तियां भारत में भी मिलेंगी। किन्तु बहुत बडे पैमाने पर विशाल जनगण को दास बना रखना और इसी में परम श्रेष्ठता मानना मुख्यत: यूरोपीय परम्परा है। दास बनाने को इतना गरिमामंडित और कहीं नहीं किया गया।

थोडे से लोग, मुख्यत: एक व्यक्ति, चिन्तक, उद्धारक, पैगम्बर या मसीहा और उसके अंगरूप सच्चे सेवक, उन्हें मिलाकर बनी संस्था या निकाय, ये ही सत्य और संस्कृति के वाहक होते हैं। उन्हें सत्य की सेवा में विशाल जनगण को नियोजित रखना

चाहिए। इन जनगण को जहां तक सम्भव हो, सुप्रबन्ध में रखना चाहिए, ताकि उनसे निश्चित प्रयोजन के लिए सक्षम ढंग से काम लिया जा सके। वे एक चुस्त औजार का काम कर सकें। इसी में उन सबका उद्धार है, मुक्ति है, सार्थकता है। इसी उद्धार के लिए विशिष्ट सभ्यजनों को पृथ्वी पर काम करना है । यही उनका स्वाभाविक अधिकार और कर्तव्य है। यह सुनिश्चित एवं प्रतिष्ठित यूरोपीय दृष्टि है। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी इसी लक्ष्य को अपने ढंग से पाने का प्रयास करती है। विश्व का समस्त जैव द्रव्य (बायोमास) अपने नियंत्रण में रखने का दायित्व यूरोपीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी का है। विश्व के समस्त विचार अपने व्यवस्था क्रम के अन्तर्गत रखने का दायित्व यूरोपीय दर्शन और मानविकी विद्याओं का है।

इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न सभ्यतादृष्टियाँ, सभ्यताबोध, सभ्यतानीति तथा सभ्यतालक्ष्य हैं। भारत में दोनों का प्रभाव है। एक सीमित शक्तिशाली वर्ग यूरोपीय दृष्टि को मानता है। बृहत् समाज भारतीय संस्कारों वाला है। इनकी परस्पर टकराहट है और एक दूसरे की अवहेलना की प्रवृत्ति भी बन गई है।

अवेहलना और टकराहट की यह स्थिति दूर करनी होगी। हमारे समाज की एकता और अखण्डता के लिए, उसके जीवित व प्राणवान रहने के लिए तथा विश्व में अपना स्वधर्म निभाने के लिए यह आवश्यक है कि टकराहट और आत्मविरोध की यह स्थिति समाप्त की जाय। अभी की स्थिति चलने वाली नहीं।

भारतीय समाज आज दो भागों में विभक्त है, यह यथार्थ स्थिति है। इसे अस्वीकार करने से लाभ नहीं। अत: इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या हो, यह निश्चित करने की आवश्यकता है। यहां रहना तो दोनों को है। क्योंकि दोनों यहीं के हैं। यह देश दोनों का है। बृहत् भारतीय समाज का तो है ही, पश्चिमीकृत भारतीयों का भी है।

पश्चिमीकृत भारतीयों में हमारी आज की सभी संगठित पार्टियाँ हैं, विशेषत: इनके शीर्षस्थ नेता हैं। उन्होंने पश्चिम का ही 'मॉडल' अपना रखा है कि देश के बारे में सोचने का सामर्थ्य हम थोडे ही लोगों में है। हम राजनीति-वैज्ञानिक हैं। यह समाज हमारे वैज्ञानिक प्रयोगों और वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिए है। इस समाज को रूपान्तरित करना है, तभी वह वैज्ञानिक प्रबन्ध के योग्य बनेगा। पार्टी का कैडर रूपातंरण की इस वैज्ञानिक प्रक्रिया का उत्प्रेरक है, 'कैटलिटिक एजेंट' है। 'मासिज' (masses) का रूपान्तरण होना है।

इस दृष्टि केपोषण हेतु आधुनिक विद्यासंस्थाएं हैं, जो यूरोपीय 'मॉडल' पर रची गई हैं। विविध अकादमियाँ, परिषदें, विद्यासंगठन मिलाकर एक पूरा तन्त्र रचते हैं, जो

रूपान्तरण का बौद्धिक सांस्कृतिक परिवेश रचने एवं प्रशिक्षण देने का दायित्व निभाते हैं। हमारे अधिकांश आधुनिक शिक्षाविद्, अकादमीशियन, आधुनिक विद्वान, लेखक, आदि इस पश्चिमीकृत हिस्से का विद्या अंग है। आधुनिक अशासकीय संस्थाएं भी इसी अंग में आती हैं।

पर्यावरण के लिए आधुनिक ढंग से काम करने वाले , उन्नत कृषि, सामाजिक वानिकी, बंजर भूमि विकास, आदि के लिए कार्यरत अनेक संगठन भी पश्चिमीकृत वर्ग की नैतिक शाखाएं बनते जा रहे हैं।

आधुनिक राज्य तंत्र के दो-ढाई लाख व्यक्ति पश्चिमीकृत वर्ग की प्रशासनिक शाखा है, जिन्हें यूरोप की भाषा में भारत का 'आफिसर क्लास' कहा जा सकता है।

सन् १७५० से १८५० ईस्वी तक तो भारत में व्यवस्थाओं, खेती व शिल्प उद्योग आदि के तंत्र और सामाजिक, शैक्षणिक व सांस्कृतिक संस्थाओं के बिगडने का समय ही रहा। अंग्रेजों ने इन सौ वर्षों में जो स्थापित भी किया, उसका ध्येय केवल भारत पर विजय प्राप्त करना, भारत के जनमानस को दासता में बांधना और भारत से हर तरह से जितना भी धन व पैदावार ले जायी जा सके, उसको सीधे व भिन्न भिन्न रास्तों से यूरोप पहुंचाना था। सन् १८५० ई. तक भारत की व्यवस्थाएं, तंत्र व संस्थाएं उजड ही गयी थीं। जहां कहीं कुछ बची थीं तो वह बचना या तो सिसकने जैसा था या वह एक तरह के अदृश्य (अण्डरग्राउंड) स्तर पर ही रहा।

सन् १८५० के बाद भारत की स्थिति अधिक बिगडी। जिसका परिणाम यह भी होने लगा कि खेती की पैदावार घटने लगी, लोगों की खपत की शक्ति नहीं के बराबर रह गयी और हर जगह भुखमरी, दारिद्य्र व कंगाली दिखने लगी, जिससे लोगों में ब्रिटिश राज्य के प्रति अरुचि और क्रोध बढता ही गया। ऐसी ही स्थिति में अंग्रेजी राज्य ने भारत में यूरोपीय तरीकों के माध्यम से यातायात, उद्योग व खेती में भी नयी व्यवस्थाएं व तंत्र खडे करने के प्रयास प्रारम्भ किये। इन प्रयत्नों में से रेलें निकलीं, डाक-तार व्यवस्था बनने लगी, कुछ पक्की सडकें बनीं और कुछ यूरोपीय ढंग से कपडे व शक्कर इत्यादि बनाने के कारखाने बनने शुरू हुए। यूरोप में १९०० ईस्वी के करीब या उसके बाद से बिजली व पेट्रोल से चलने वाली मोटर, लारी, ट्रक, इत्यादि आरम्भ होने पर इनका भी भारत में प्रसार हुआ। इसी समय कुछ लोहे व इस्पात के यूरोपीय ढंग के कारखाने भी स्थापित हुए, १९४७ ईस्वी तक कपडे व शक्कर बनाने के कारखाने तो भारत में काफी बनाये जा चुके थे। सन् १९३६-१९४५ के यूरोपीय युद्ध के समय कुछ बन्दूक, बारुद, इत्यादि के कारखाने भी बने। इने-गिने ट्रैक्टर व कुछ रासायनिक

उर्वरक भी १९४७ ईस्वी तक भारत में आने शुरु हो गये थे।

१८५० ई. के बाद अंग्रेजी राज्य ने भारत में जो नये दिखने वाले काम किये, उनका उद्देश्य पहिले से बहुत भिन्न नहीं था। उद्देश्य तो यही था कि कैसे भारत की पैदावार का एक बडा हिस्सा भारत में अंग्रेजी साम्राज्य चलाने के लिये बराबर मिलता रहे, कैसे उनका कुछ भाग ब्रिटेन जा सके, और कैसे ब्रिटेन के बढते वस्त्रोद्योग व दूसरे उद्योगों के सामान भारत में बेचे जा सकें। सन् १८५० के बाद नहरों इत्यादि के बनने व मरम्मत का जो काम शुरू हुआ, या दक्षिण के एक लाख से ऊपर सिंचाई के तालाबों पर सौ वर्ष के बाद जो कुछ थोडा बहुत खर्च हुआ, उसका ध्येय ब्रिटिश सामान बेचना व भारत का धान व पैदावार ब्रिटेन में जाते रहने के प्रबन्ध को पक्का करना ही था। भारत में आधे से अधिक फसल को सरकारी भूमिकर में लेने के खिलाफ सन् १८५०-७० के करीब ब्रिटेन में जो चर्चा चली, वह इसी तथ्य को लेकर थी कि अगर भारतीय किसान व नागरिक इतना भारी कर ब्रिटिश सरकार को देता है, तो ब्रिटेन के कारखानों का कपडा इत्यादि भारत में कैसे बिकेगा।

सन् १९४७ ई. से अब तक स्वतंत्र भारत में जो हुआ, वह बडी सीमा तक सन् १८५० ई. के करीब अंग्रेजों ने जो यहां आरम्भ किया था, उसी का विस्तार है। सन् १९४७ ई. तक भी यूरोपीय ढंग के उद्योगों या खेती में जो जो परिवर्तन इत्यादि भारत में किये गये, वे यूरोप में हो रहे कार्यो से २० से ५० वर्ष पीछे ही थे। यहां तक कि भारत के विश्वविद्यालय भी आक्सफर्ड व कैम्ब्रिज के 'मॉडल' पर न बनकर ईस्वी सन् १८२५-३० में लन्दन युनिवर्सिटी का जो 'मॉडल' बना था, उस पर बनाये गये। लन्दन युनिवर्सिटी का 'मॉडल' तो ५०-६० वर्ष बाद बदल दिया गया। लेकिन भारत में अभी तक वही पुराना १८२५-३० ई. का 'मॉडल' ही मुख्यत: चलता है। इस 'मॉडल' के होने से ही भारत के लगभग सभी १००-१५० विश्वविद्यालयों में आधे के करीब विद्यार्थी बी. ए. व बी. एस सी. की परीक्षाओं में हर वर्ष असफल बना दिये जाते हैं। जिस तरह का उत्पादन विश्वविद्यालयों में होता है, वैसा ही अधिकांशत: भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रयोगशालाओं में, उद्योगों में, चिकित्सा में व खेती इत्यादि में होता है। एक विद्वान मित्र की मान्यता है कि बाहर से संकर बीज व उर्वरकों से हम आज जो गेहूँ आदि पैदा करते हैं, वह यूरोप व अमेरिका में तो पशु ही खाते हैं। हमें अगर गेहूँ का विदेशों में निर्यात करना होगा तो उसके लिये तो दूसरे बीज व तरीके बरतने पडेंगे। सन् १९४७ ई. से अब तक पश्चिमी व अन्य देशों से हमारे यहां जो भी सामान आता है, वह बहुत कर के कचरा ही है - ये चाहे लडाकू विमान हों, पनडुब्बियाँ हों, बन्दूकें और

बारुद हो, दवाई व उनके पेटेण्ट हों, बिजलीघरों की मशीनें हों, कम्प्यूटर हों, व अनाज, दूध पावडर, बटर ऑयल, उर्वरक जो भी हों। हमारे बडे नेताओं का, जो कांग्रेस की सन् १९३८ ई. में बनायी हुई राष्ट्रीय योजना समिति के कर्णधार थे, सोचना भी आज जो सब हुआ है या हो रहा है उससे भिन्न नहीं था। उनका मॉडल सन् १९१० व १९२० ई. का यूरोप व अमेरिका व रूस था, वे पश्चिम की चकाचौंध से मोहित थे और पश्चिम का कबाड भी उनकी दृष्टि में मोती और जवाहिरात जैसा था। आज के अनेक युवा वैज्ञानिकों का मानना है कि आज तो हम अमरीका, यूरोप, रूस इत्यादि से सरकारी तंत्र व बडे औद्योगिक तंत्र की मार्फत पैसा देकर व उधार खरीदते हैं उसमें से अधिकांश अमरीका के बाजारों में हमें चौथाई दाम पर मिल सकता है। केवल कुछ मेहनत की और खरीदे जाने वाले समान की पहचान की जरूरत है।

अपनी इस बरबादी के रास्ते पर जो हम चलते रहे हैं, वह किसी एक व्यक्ति विशेष के कारण नहीं। अधिकांशत: तो ऐसा चलना हमे ऐतिहासिक विरासत में अंग्रेजी साम्राज्य से व्यवस्था, तंत्र, शिक्षा और मान्यताओं के रास्ते मिला है। भारत में जो दो लाख के करीब परिवार देश की व्यवस्था, औद्योगिक-वाणिज्य और वित्तीय तंत्र, देश के विज्ञान, प्रौद्योगिकी व शिक्षा संस्थाओं, देश की रक्षाव्यवस्था, देश की संसदीय व्यवस्था व न्याय व्यवस्थाओं इत्यादि को संभाले हुए हैं, वे सब इस बरबादी के काम में भागीदार हैं। इनमें से अधिक तो मानसिक दृष्टि से देश के आधे ही नागरिक हैं, उनका चित्त तो विदेशों में ही भटकता है और वहीं कुछ रस पाता है। उनमें से अधिकांश के परिवारों में से कोई न कोई अधिकांशत: विदेश ही रहता है, और इन दो लाख में से अधिकांश हर वर्ष नहीं, तो दो चार बरस में एक बार विदेशों में अपने दिल व दिमाग की ताजगी के लिये जाते ही हैं।

भारत में १२-१५ करोड परिवारों में से केवल दो लाख परिवार ही भारत की हर तरह की व्यवस्था की देखभाल करते हैं, यह कोई निराली बात नहीं है। पश्चिम के सभी देशों में 'ऑफिसर क्लास' और साधारण प्रजा का ऐसा ही अनुपात शायद प्लेटो के समय से ही मिलेगा। लेकिन फर्क इतना है कि पश्चिम की 'ऑफिसर क्लास' में स्वयं पहल करने का सामर्थ्य है, उसमें शक्ति की समझ है और उसके प्रयोग करने में कोई दुविधा नहीं। शक्ति के इस्तेमाल में स्वंय को भी परेशानी होती है, यह पश्चिमी सभ्यता अर्से से जानती है। इसी समझ में से प्लेटो के 'फिलासफर किंग' की व बीसवीं सदी में बर्नार्ड शॉ के 'सुपरमेन' की बात निकली। किन्तु हमारे इन दो लाख परिवारों का ध्येय तो आलस व तमस ही है, और कहीं भी खतरा दिखने पर या तो विदेश भागने की

सोचना व विदेशी संरक्षण में जाना। पश्चिम से दूसरा बडा भेद भारत में यह है कि हमारी 'ओफिसर क्लास' की जीवन शैली व जीवन का मुहावरा, विचार और व्यवहार के रूप एवं अभिव्यक्ति-विधियां, अभारतीय हो गये हैं। उत्तर भारत में तो यह कई सौ बरसों से होने लगा था। लेकिन पिछले दो सौ वर्षो में और विशेषकर पिछले ४० वर्षो में इन दो लाख परिवारों और बृहद् भारतीय समाज के १२-१५ करोड परिवारों के मध्य परस्पर संवाद के माध्यम और मार्ग ही समाप्त होते जा रहे हैं। क्योंकि आज के समय में यह सम्भव नहीं है कि ये दो लाख, इन १२-१५ करोड को फिर दासता की बेडियों से जकड दें और इसके बाद भारत में समृद्धि व शक्ति ला पायें, इसलिये यह अब आवश्यक हो गया है कि 'ऑफिसर क्लास' और भारत के बृहद् समाज को या तो कीसी तरह एक सूत्र में बाँध दिया जाये या फिर इनके बीच में आवश्यक दूरी स्थापित कर दी जाय।

पिछले चालीस बरसों में भारत में वनों और जल का अकाल बढता जा रहा है। भारत की कृषि भूमि की उर्वरता भी बहुत घटती जा रही है। बरसात की बाढों का रूप भी तीव्रतर हुआ है। अन्न की पैदावार नये बीज, कृत्रिम खाद व बढती सिंचाई के कारण अवश्य बढी है, लेकिन भारत के आधे के करीब लोग आज भी कैलोरी के हिसाब से भी पूरा खाना शायद वर्ष में कभी ही खाते हों। पौष्टिक विटामिन इत्यादि के हिसाब से तो शायद ८०-९० प्रतिशत लोगों का दैनिक भोजन पोषण की किसी भी तरह की तराजू पर नहीं बैठता, इस तराजू पर भी नहीं कि शरीर स्वयं ही किसी भी तरह के भोजन को यानी केवल कार्बोहाईड्रेट वाले भोजन को आवश्यकता के अनुसार प्रोटीन इत्यादि में बदल लेता है। अगर यह 'थियोरी' और खोज ठीक होती तो कोई आवश्यकता नहीं थी की भारत का सब दूध, फल, सब्जी, भारत के गांवों और दूसरे पैदावार वाले स्थलों से खिंचकर भारत के महानगरों व दूसरे बडे नगरों में इकट्ठी हो जाती, जैसा की पिछले २०-३० वर्षो में बडी व्यापकता से होता जा रहा है। आज के भारत के कोई ही ग्राम ऐसे होंगे जिनमें वहां पैदा होने वाला ५ प्रतिशत दूध भी (या उस दूध का बना दही, मक्खन, घी व छाछ) वहां के अपने इस्तेमाल के लिये ग्राम में रह जाता है। ग्राम में पैदा हुए फल व सब्जी भी ग्राम में तो शायद खाने को नहीं मिलते। कहीं ये फल व सब्जी ग्राम में ही न रह जायें, इसी की सम्भावना को दूर रखने की दृष्टि से (जरूरी नहीं कि यह सब सुनियोजित प्रयासों का परिणाम हो, यह आज के केन्द्रीय विचार स्रोत का परिणाम ही शायद हो) इन फलों, सब्जियों की किस्में ही बदल डाली गयी हैं। देसी आम का स्थान कलमी आम ने लिया है, अमरुद का स्थान सेब ने। और इस तरह से दूसरे फलों व

सब्जियों को इस तरह से बदला गया है कि वे ज्यादा दिन टिक सकें और उनका यातायात आसान बने। यह कहने में शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आधा प्रतिशत भारतीय परिवारों ने आज के तर्क में बँधकर एक राक्षसी रूप धारण कर लिया और ९९.५ प्रतिशत भारतीय जनता मानो इस राक्षसी वृत्ति का आहार ही रह गयी है। अगर आज की स्थिति ही चलती रही तो जल और वृक्षों के क्षेत्र में भी शायद वैसा ही हो जाये जो दूध, फल और सब्जियों के क्षेत्र में हुआ है।

भारत के साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, खेलकूद, नटकरतब व नटविद्या वाले कौशल (एक्रोबेटिक्स) इत्यादि के क्षेत्रों में भी ऐसा ही हुआ दिखता है। हो सकता है, भारत के सैकडों व हजारों गांवों में जो आग पर चलने की प्रथा आज भी प्रचलित है- आज से सौ वर्ष पहले तो यह उत्सव कम से कम दक्षिण व मध्य भारत के हर क्षेत्र में मनाया जाता था-वह भी दस बीस वर्ष के बाद भारत के अभिजनों के लिये ही रह जाये। तब ऐसा तो शायद अवश्य हो सकता है कि भारत के इस 'फायर वॉकिंग' का सार्वभौमीकरण हो जाये और वह विश्व के औलम्पिक्स का एक बडा खेल बन जाये। ऐसा होने पर साधारण भारतीयों का जीवन इससे भी वंचित रह जायेगा, जैसा कि वह संगीत, नृत्य, कला, साहित्य से वंचित रह गया है। टेलीविजन की बदौलत दर्शक होने की अनुमति उसे अवश्य है, शायद समय बीतते बीतते दर्शक होना उसका कर्तव्य ही माना जाने लगें। लेकिन साझेदारी से उसका रिश्ता टूट ही गया है और यह टूटना पक्का हो जाये, इसका प्रयत्न हर तरह से जारी है। कला, संगीत, नृत्य इत्यादि से वंचित होने से पहले ये ९९.५ प्रतिशत परिवार अपनी खुली शरीर चिकित्सा, शिक्षा-दीक्षा, जल प्रबन्ध, ग्राम और नगर नियोजन और रूपाकृति-रचना से अधिकांशत: वंचित हो ही चुके थे। जहां कानूनन उनके इन कार्यों की मनाही नहीं हुई, वहां उनके इन क्षेत्रों में कार्यों को अन्धविश्वास माना गया, उनकी बात बात पर खिल्ली उडाई गयी, उन्हें लज्ञित किया गया, और सबसे अधिक उनके पास ऐसे साधन नहीं रहने दिये गये कि वे ऐसे किसी भी काम को कर सकें।

वैसे यह सब जो हुआ, संसार में नया नहीं है। जिसे प्रजातंत्र का गढ माना जाता है, उस ब्रिटेन में तो आक्सफोर्ड व कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों का यह प्रयत्न रहता ही है कि हर क्षेत्र का श्रेष्ठ व्यक्ति (खिलाडी, तैराक, नाविक, गायक इत्यादि सब उसमें शामिल हैं) जहां तक हो सके, उन विश्वविद्यालयों में से ही निकले और ऐसे निपुण लोग कहीं और से निकल भी आयें तो उनको ये विश्वविद्यालय या इनका सहायक तंत्र समायोजित करता चला जाये। यूरोप और अमरीका के देशों में स्थिति इससे मिलती-जुलती ही

होगी। प्राचीन ग्रीस में तो ऐसा होता ही था।

इस पश्चिम के दिये हुए लक्ष्यों के अनुकरण में हमने भारत की सब तरह की स्वदेशी व्यवस्थाओं और प्रतिभाओं को या तो बेकार बना दिया या उन्हें समेटकर संग्रहालयों व अभिलेखागारों में रख दिया या उन्हें भारत केआधा प्रतिशत लोगों के सुपुर्द कर दिया। इसका नतीजा है कि भारत ने एक 'स्लम' का रूप ले लिया है। और हमारे जैसे बुद्धिजीवी इसको कह देते हैं कि यह तो भारत का परम्परागत रूप है। अपनी बात को साबित करने के लिये जहां तहां से विदेशियों के (किन्हीं खोज निकाले गये अथवा प्रसिद्ध प्राचीन भारतीयों के भी) बयान जोड दिये जाते हैं, कि भारत में तो हमेशा दु:ख ही दु:ख रहा है। हम सब जानते हैं कि और तो और कार्ल मार्क्स ने भी भारतीय जीवन व सभ्यता को गयी-बीती दिखलाने की दृष्टि से इसी तरह की बातें लिखीं।

इतने सब धक्कों के बावजूद भी भारत के लोग अपने जीवन में एक सन्तुलन कायम करने के लिये, अपने निरन्तर दु:ख दर्द और दारिद्र्य को भूलने के लिये, उनसे जो कुछ बन पडता है, और जो कानून व उसके एजेण्ट उन्हें करने देते हैं, या जो उनसे छिपा करके किया जा सकता है, करते ही हैं। लोग सब कठिनाइयों और रुकावटों के रहते हुए भी कुछ इधर उधर की यात्रा करते ही हैं, मंदिरो के छोटे-मोटे उत्सव मनाते ही हैं, जहां-तहां, जब-तब यह सुनकर कि कहीं कोई देवी या सन्त प्रकट हुए हैं, उस तरफ भागते ही हैं, कहीं-कहीं समय पर नंगे होकर उत्सवों में आनन्दोल्लासमग्न नृत्य करते ही हैं। एक तरह से ये सब जहां भी हो सकता है, पहल अपने हाथों में लौटाने के उनके तरीके हैं, और अगर उन्हें एक क्षेत्र में पहल का अवसर मिलता है तो वह दूसरे क्षेत्रों में भी मिल ही जायेगा, ऐसी उनकी सोच है। लेकिन हमें तो यह सब अच्छा नहीं लगता। प्लेटो, यूरोपीय ईसाईयत, पश्चिमी रैशनलिज्म, मार्क्सीय समीक्षात्मक विश्लेषण पद्धति सबके बोझ से हम लदे हैं। हमारे प्राचीनतम धर्मग्रन्थों के बोझ से भी हममें से काफी दबे हैं।

ऐसा हम कैसे होने दें। जो भी राजनैतिक सत्ता हमारे पास है, जो भी पुलिस व अस्त्रशस्त्र हमारे अधीन हैं, वह सब हम इन बातों को रोकने के लिए प्रयोग करते हैं। लेकिन बहुत कुछ सफलता कम से कम इन क्षेत्रों में तो नहीं मिलती। नैतिक सत्ता या किसी तरह की अध्यात्मशक्ति तो हमारे पास है नहीं। हमारे संन्यासियों व धर्मगुरुओं के पास तक ऐसी नैतिक व आध्यात्मिक शक्तियों का ह्रास हुआ है। परिणाम यह है कि भारत दो भागों में बँट गया है। एक भाग है उन आधे प्रतिशत लोगों का, जो भारत के तंत्र और साधनस्रोतों को नियंत्रित करते हैं और दूसरा है उन ९९.५ प्रतिशत का (इनमें

से १५-२० प्रतिशत शायद आधे फीसदी के सहायक व नौकर माने जा सकते हैं, और सुरक्षा व अधिकाधिक आमदनी का लोभ इन्हें काफी समय तक बाकी ८०-८५ प्रतिशत से अलग रख सकता है), जो केवल अपने सीमित व अवशिष्ट बल पर जी रहे हैं और जिनका किसी भी तरह का बौद्धिक व सामाजिक सम्पर्क भारत के शासक वर्ग व 'आफिसर क्लास' से नहीं है।

यह स्थिति तो अधिक नहीं चल सकती। दो ढाई हजार वर्ष से पश्चिम में अपनाये जा रहे हल भी (जिनके मार्फत ९९.५ प्रतिशत को पूरी दासता मे बांध दिया जाता, उन्हें मशीन की तरह माना जाता, जैसे अरस्तू ने दासों को माना ही था) हमारे यहां आज तो नहीं चल सकते। ऐसी शक्ति व मानसिकता भी हमारे 'ऑफिसर क्लास' की नहीं है।

अगर आज संसार में और देशों के सम्पर्क में रहने की बात नहीं होती, तो हमारी यह दुविधा कुछ आसानी से हल हो सकती थी। बाहर का इतना घनिष्ट सम्बन्ध और आना जाना नहीं होता, तो हमारे समाज के इन दोनों भागों का एक दूसरे से आदान-प्रदान, क्रिया-प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती। उनमें टकराहटें, झगडे होते, शायद कुछ खूनखराबा भी हो जाता, लेकिन इस सबसे या विवेक के जगने से, ये दो भाग करीब ही आते। इन दोनों की अभिव्यक्ति-पद्धति एक बनती, जीवन की शैली एक आधार पर खडी होती और ये एक दूसरे कि लिये अजनबी न रहते।

लेकिन आज के संसार से सम्पर्क टूटना तो सम्भव नहीं। परन्तु इस संसार की 'थियेरीज', अवधारणाओं और संरक्षण से तो हम निकल ही सकते हैं। इसी सदी में महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता संग्राम के समय हमारे में से अधिकांश को इन 'थियेरीज' अवधारणाओं और संरक्षण से निकाल लिया था। कम से कम इतना करना तो अभी भी असम्भव नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि हम गांधीजी के विचारों पर आधारित राज्य, समाज और अर्थव्यवस्था ही मानें। हम आज भारत के लिये एक नया अवधारणात्मक आधार व रूपरेखा जो भारत के मानस व प्रकृति से मेल खाती हो, बना सकते हैं। भारत के लिये एक नयी 'युनीफाइड थियरी' एक नया 'एकीकृत सिद्धान्त' निकाल सकते हैं, जिसके सहारे भारत, भारतीयता न खोते हुए, आज के संसार से बराबर का रिश्ता रख सके और पश्चिमी (यूरोपीय, अमरीकी और रूसी) सैन्यवाद के इस काल में अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक राजनीतिक व भौतिक ढंग से तैयार रह सके। जापान ने यह सब किया है और एक तरह से चीन भी इस तरह के प्रयत्न में काफी सफल ही रहा।

पिछले चालीस वर्षों में भारत में इतने सब विरोधाभासों के बाबजूद, इतना तो हुआ ही है कि हजारों भारतीय युवक-युवतियों ने न केवल अपने बृहद् समाज के जुडने व एकरूप होने के प्रयत्न किये हैं, किन्तु पश्चिमी सभ्यता के उपकरणों को भी काफी हद तक समझ लिया है। ऐसे व्यक्ति अब पाश्चात्य सभ्यता से ऐसे चकाचौंध नहीं हैं जैसे कि ४०-५० बरस पहले तक के भारतीय शिक्षित होते थे। इनमें से बहुतों ने अपने पुरातन को भी समझने की कोशिश की है और ऐसा लगता है कि काफी बडी संख्या में हमारे यहां ऐसे युवक और युवती तैयार हो रहे हैं जो भारतीयता को छोडे बिना उसमें पश्चिम के जिन उपकरणों को और उनकी विद्या को आज की स्थिति में आत्मसात् करने की आवश्यकता है, उतना शीघ्र ही कर पायेंगे। ऐसे युवक और युवती, भारत के भिन्न भिन्न क्षेत्रों और विशेषज्ञताओं में फैले हैं, और इनमें देश प्रेम, बृहद् समाज से मानसिक आत्मीयता भरपूर है। पाश्चात्य विद्या पर भी इनका अधिकार आज कम नहीं है।

आज की स्थिति में यह विचारणीय है कि भारत में बृहद् समाज को साधन व स्वातंत्र्य मिले, जिससे बृहद् समाज की इकाइयाँ अपनी मान्यताओं, व्यवस्था की अपनी प्रणालियों और तकनीकी ज्ञान के आधार पर चल सकें। भारत में कृषि व प्रौद्योगिकी या ऐसे अन्य क्षेत्रों में ८० प्रतिशत उत्पादन तो आज भी परम्परागत भारतीय प्रतिभा के बल पर ही होता है। साधन व स्वातंत्र्य रहेगा, तो यह प्रतिभा परिष्कृत ही होगी और इनके परिष्कृत होने पर यह भी सम्भव हो पायेगा कि पश्चिम के ज्ञान और भारतीय बृहद् समाज के ज्ञान में कुछ संवाद और लेनदेन कायम हो सके। बृहद् समाज के पास आवश्यक साधन व स्वातंत्र्य आना आज के भारत के पश्चिमीकृत अंग के लिये भी शुभ होगा, इस अंग को भी स्वातंत्र्य मिलेगा, इसका मानसिक व भौतिक बोझ घटेगा और इस बोझ के घटने से इसकी अपनी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति तथा पश्चिमीकृत ज्ञान की समझ व पहचान और इसमें भारत के लिये उपयोगी और आवश्यक है ऐसे ज्ञान को आत्मसात् करने का एक बडा अवसर मिलेगा। अत: यह आवश्यक है कि पश्चिमीकृत वर्ग अपने ऊपर लाद लिये गये बोझ से स्वयं भी मुक्ति पाये और बृहद् समाज के प्रति अवहेलना भाव को भी त्यागे, उससे सद्भाव स्थापित करे। प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र, ग्राम या ग्राम समूह को तथा शहरों के मुहल्ले या वार्ड को आवश्यक स्थानीय स्वायत्तता दी जा सकती है। शिक्षा, आवास, उत्सव, मनोरंजन, आहारविहार, के प्रबंध, सुरक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, चिकित्सा, कृषि, सिंचाई, शिल्प, हुनर, स्थानीय एवं लघु उद्योग, सांस्कृतिक व्यवस्थाएं, धार्मिक क्रियाशीलताएं, संवाद एवं संचार माध्यम, स्थानीय परिवहन, यातायात आदि मामलों में भिन्न भिन्न स्तर पर स्वतंत्रता दी जाए। इसमें

पक्षपात आदि होने का भय त्याग देना चाहिए। वह पक्षपात अभी केन्द्र व प्रदेशों के स्तर पर कम नहीं चलता। स्थानीय इकाइयों में इससे अच्छा ही चलेगा, परस्पर का नैतिक दबाव रहेगा।

भारत के सुरक्षा के संयंत्र व महानगरीय क्षेत्रों की पश्चिमीकृत आवश्यकताएं (जिनकी इन क्षेत्रों की 'जण्न्ट्री' को आदत पड गई है।) पश्चिमीकृत ढंग से भारत के महानगरों व इनसे मिलते जुलते ५०-१०० क्षेत्रों में बनायी जा सकती है। बाकी सब बृहद् समाज के क्षेत्र में बनेगा, बृहद् समाज के अपने तरीकों व रूपाकारों के अनुसार। लेकिन जहां जहां बृहद् समाज को पश्चिमीकृत ज्ञान व संसाधनों की आवश्यकता होगी (जैसे कि ऊर्जा के क्षेत्र में इंधन गैस और प्रकाश विश्लेषण के द्वारा बनी बिजली की) वहां पश्चिमीकृत क्षेत्रों का यह कर्तव्य होगा कि इस तरह के आत्मसातीकरण में बृहद् समाज के कहने पर उसका हाथ बटाएँ।

इस तरह के बँटवारे में यह आवश्यक है कि आज तक पिछले ४० वर्षों में भारत में सरकारी व गैरसरकारी स्तर पर जो नयी योजनाएं, कलकारखाने, सिंचाई व बिजली बनाने के कार्यक्रम, यातायात इन्तजाम, मकान बनाने के रूपाकार आदि के तरीके चले हैं, उनकी पूरी तरह से समीक्षा हो। हो सकता है कि समीक्षा होने पर यह पाया जाये कि इनमें से काफी काम मुख्यत: आवश्यक ही रहे हैं और इनकी व्यवस्था व रूपाकारों में कोई बडी त्रुटियां नहीं रही हैं। लेकिन जब तक ऐसी समीक्षा पूरी नहीं हो जाय, तब तक लगभग सभी क्षेत्रों में नये काम उठाना या पुरानों को बढाना बन्द किया जाय। यह भी मान लिया जाय कि भारत की जल व्यवस्था, वन व्यवस्था, कृषि और पशुपालन, कपडे, शक्कर और भवननिर्माण सामग्री से सम्बन्धित कार्य बृहद् समाज की जिम्मेदारी रहेंगे और पश्चिमीकृत क्षेत्रों को इन बातों में अपनी आवश्यकताओं व प्राथमिकताओं को बृहद् समाज की इस जिम्मेदारी के अन्तर्गत ही रखना होगा।

लेकिन भारत में दो सौ वर्ष के विनाश और उपेक्षा के कारण बहुत से क्षेत्रों में बडे बडे प्रश्न खडे हो गये हैं। भारत को न केवल अपनी जल, वन, कृषि, लघु उद्योग की व्यवस्था का पुनरुद्धार करना है, न केवल नदियों की गहराई बढानी और उनका प्रदूषण घटाना है, किन्तु भारत के विद्या व सांस्कृतिक केन्द्रों की पुर्नस्थापना करनी है। दो सौ वर्ष तक भारत की हर विद्या व हुनर का ह्रास हुआ है। इस पुनर्स्थापना के लिये यह तो आवश्यक है ही कि शिक्षा की विषयवस्तु और व्यवस्था का विश्लेषण होकर एक नयी विषयवस्तु की शिक्षा (शिशु शिक्षा से विश्वविद्यालयों और उच्चस्तरीय शोध संस्थाओं तक) पुन: स्थापित हो। इसमें सबसे पहला काम, जो एक दो वर्ष के अन्दर ही देश भर

में स्थापित किया जा सकता है वह है 'पडोसी स्कूलों' की स्थापना। बीस पच्चीस वर्ष से ऐसा करने की बात चलती रही है। हर क्षेत्र में व शहरों के हर वर्ग किलोमीटर में उस क्षेत्र के सभी घरों के बच्चे एक ही स्कूलों में जाएं। अगर किन्हीं बच्चों को विशेष शिक्षा देनी है, तो वे सब आवासीय स्कूलों में ही रहें, जैसा कि अभी हर जिले में नवोदय स्कूल के मार्फत होने की बात है। इसी तरह हर ग्राम या आवास क्षेत्र व शहरी मुहल्लों में चिक्त्सा के लिये एक ही तरह का प्रबन्ध होना चाहिये। धनी व शक्तिशाली जन भी इन स्कूलों व चिकित्सा केन्द्रों का इस्तेमाल करेंगे तो इनका स्तर सुधरेगा ही। भारत की परम्परागत चिकित्सा प्रणाली इत्यादि भी तब जीवित हो जायेगी।

इसी तरह रहने के घरों इत्यादि के विषय में सोचना होगा और स्थानीय साम्रगी और रूपाकारों के आधार पर ज्यादा से ज्यादा घर बनें, इस पर ध्यान देना होगा। हर घर में पानी, शौच इत्यादि की उचित व्यवस्था हो, यह भी सोचना होगा। नहीं तो भारत के धनी क्षेत्र भी 'स्लम' ही बनेंगे। सरकारी तन्त्र के मार्फत जितने कम मकान भारत में बनें, उतना ही देश के लिये शुभ है। दस बीस बरस में तो सब सरकारी घर (चाहे उसमें मंत्री रहते हों या सरकारी अधिकारी) समाप्त होने ही चाहिये।

भारतीय 'आफिसर क्लास' द्वारा बृहद् भारतीय समाज की बुद्धि, प्रतिभा, विद्या, ज्ञान और सौंदर्य बोध एवं सुरुचि बोध से अपने को काट रखने के कारण उनमें एक आन्तरिक हीनता और दैन्य आया है तथा उनके जीवन में एक आन्तरिक प्रयोजनहीनता आई है। इस प्रयोजनहीनता का सबसे प्रकट रूप है अर्थशास्त्र को प्रधानता दिया जाना। अर्थशास्त्र सदा से राजनीति शास्त्र की एक अधीनस्थ विद्या है। वह सांस्कृतिक-राजनैतिक लक्ष्यों की सिद्धि का एक माध्यम है। राजनीति संस्कृति का अंग है, संस्कृति की सेवा के लिए है। संस्कृति का बोध इतिहास परम्परा, दर्शन-परम्परा समेत समाज जीवन की समग्र परम्परा से होता है, समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र राजनीतितंत्र (पोलिटी) के अंग है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का स्थान संस्कृति में बहुत बाद में है। यह नहीं की वह महत्त्वपूर्ण नहीं। पर वह लक्ष्य नहीं है, अनेक साधनों में से एक है। पूँजी और धन स्वयं में किसी के भी लक्ष्य नहीं होते। वे तो साधन ही होते हैं। प्राकृतिक साधन-स्रोत, उनके उपयोग और व्यवहार का कौशल तथा मानवीय बुद्धि के अन्य कौशल, हुनर और परिश्रम ही मूलभूत पूंजी हैं। उस पूंजी को क्या रूप दिया जाना है, यह किसी सभ्यता और समाज के बोध एवं लक्ष्यों पर निर्भर है। उन लक्ष्यों का सहायक साधन है धन की वृद्धि व धन के व्यवहार, और उनका विचार करने वाला अर्थशास्त्र।

कार्ल मार्क्स ने अर्थशास्त्र को प्रमुखता दी क्योंकि कार्ल मार्क्स में बहुत गहरा और प्रबल यूरोपीय तथा ईसाई संस्कार, संवेग और बोध था। उस बोध और संस्कार के कारण कार्ल मार्क्स का मानना था कि सम्पूर्ण विश्व के लिए राजनैतिक लक्ष्य तो एक ही है और वह यूरोप के शासक वर्ग का राजनैतिक लक्ष्य ही है। शेष विश्व उन्हीं राजनैतिक लक्ष्यों की पूर्ति का औजार है, साधन सम्पत्ति है। इसीलिए इस विश्व को औजार या सम्पत्ति के रूप में रहना है और सम्पत्तिशास्त्र अर्थात् अर्थशास्त्र के नियमों से शासित होना है। वह एक तरह से संसाधनशास्त्र है। यूरोपीय दृष्टि में समस्त मनुष्य तथा अन्य समस्त जीव एवं वनस्पति, वन, भूमि, जल, खनिज इत्यादि साधनस्रोत शासकों के विचार और व्यवहार रूपी सभ्यता के संसाधन हैं। अर्थशास्त्र की प्रमुखता का यही अभिप्राय है। स्वयं मार्क्स के अपने जीवन में या कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के जीवन में अर्थशास्त्र प्रमुख नहीं होता, राजनीति ही प्रमुख होती है।

परन्तु भारत में यूरोप को बिना समझे अनुसरण करने वाले तथाकथित बुद्धि जीवियों का एक बडा ढेर तैयार हो गया है, जो अर्थशास्त्र को ही देश की प्रमुख विद्या मानता है। समस्त देश को अर्थशास्त्र से नियन्त्रित रखना चाहता है इसमें वह दास्य - भाव से भरी बुद्धि ही प्रमुख कारण है। यदि किसी व्यक्तिविशेष की इसमें मुख्य भूमिका है तो वह जवाहरलाल नेहरू की है। जवाहरलाल नेहरू जैसे आदमी इस प्रकार के विचारों में पड गये, यह इसी तथ्य की निशानी है कि हम किस दशा में पहुंच गए थे, हमारी कितनी मानसिक-बौद्धिक गिरावट हुई होगी।

भारत को अब अपनी पुनर्योजना, सांस्कृतिक राजनीति को आगे रखकर, करनी होगी। इस पुनर्योजना में अर्थशास्त्र नियामक सिद्धान्त कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक सभ्यता में विविध अवधारणाओंकी एक क्रमव्यवस्था रहती है। किन्तु अर्थशास्त्र किसी भी सभ्यता में प्रमुख नहीं होता। अपनी सभ्यता से कटे हुए और यूरोपीय सभ्यता के मर्म से अनजान तथा उसके प्रति दास्यभाव से भरे हुए भारतीय शासकवर्ग को ही अर्थशास्त्र प्रमुख दिखता है। यूरोपीय शासक वर्ग तो हमें अपनी सभ्यता का मानवीय संसाधन मानकर हमारे लिए अर्थशास्त्र को प्रमुख मानता रहा है। अब हमें अवधारणाओं को प्रधान-गौण-क्रम का यह उलट गया बोध फिर से व्यवस्थित करना होगा, उसे सही क्रम में समझना और रखना होगा।

इन विपरीतताओं का मुख्य कारण यह रहा कि हमारी विद्या-बुद्धि ही छिन्न-भिन्न हो गई। हमारे अभिजनों और शासक वर्ग को विद्याओं की समझ ही नहीं रही। बृहत् समाज की विद्याएं उसे अविद्या दिखने लगीं। अब इस विपरीत मति को फिर से स्वस्थ,

सहज बनाना होगा।

भारतीय किसान के पास अत्यन्त सम्पन्न विद्यासम्पदा एवं विद्या परम्परा है। मिट्टी के विविध रूप, उनकी क्षमताएं, उनकी आवश्यकताएं, ऊपरी पपड़ी का स्तर, नमी का स्तर, उनकी सम्भावनाएं, भूमि की जुताई की आवश्यकता का स्वरूप व स्तर, मौसम की जानकारी, वर्षा सम्बन्धी भिन्न भिन्न रूपों और सम्भावनाओं की जानकारी, ठंड, पाला, कुहासा, धुंध, ओस, शीतलहर आदि के रूपों और प्रभावों तथा उस सन्दर्भ में आवश्यक व्यवस्थाओं की जानकारी, घास और गर्मी सम्बन्धी जानकारी, हवा के भिन्न भिन्न रूपों, रुखों, वेग और प्रभावों तथा उपयोग की जानकारी, सिंचाई सम्बन्धी विविध रूपों और व्यवस्थाओं की जानकारी, बीज की किस्मों और सामर्थ्य का ज्ञान, फसल के अंकुरण, विकास, वृद्धि और पकने सम्बन्धी विविध दशाओं का ज्ञान, कटाई-गुडाई-उड़ावनी, बीज और फसल के प्रबन्ध तथा भंडारण का ज्ञान, अलग अलग अनाजों के गुणों और प्रभावों का ज्ञान, कृषि के उपकरणों सम्बन्धी ज्ञान, अपने गाय-बैल, भैंस-बकरी की किस्मों, गुणों, सामर्थ्य, जरुरत, पोषण, रक्षण, प्रेम, अनुशासन आदि सम्बन्धी ज्ञान, कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, खरगोश, चिड़िया तथा विविध पशुपक्षियों सम्बन्धी ज्ञान, शिष्टाचार और व्यवहार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ, उनके प्रभावों का ज्ञान आदि विस्तृतगहरा ज्ञान किसान नरनारियों को तथा अन्य ग्रामीण नरनारियों को रहता है। यह हम भी सभी जानते हैं। ये सब विद्या के ही रूप हैं। आज मौसम आदि की जानकारी के लिए आसमान में जाने, बादलों का सूक्ष्म एवं अत्यंत महंगे उपकरणों से निरीक्षण आदि करने का विस्तृत तंत्र है, जिसमें राष्ट्रीय धन का बड़ा व्यय होता है। अत: किसानों की इस विद्यासामर्थ्य का समादर किया जाना चाहिए कि वे बिना ऐसे भारी खर्च के ही यह विद्या सुरक्षित व गतिशील रखे हैं। भारतीय किसान नारियों एवं ग्रामीण नारियों को इन विद्याओं के अतिरिक्त उन अन्य महत्त्वपूर्ण विद्याओं का भी समृद्ध ज्ञान होता है, जो अधिकांश भारतीय नगरों की नारियों को भी होता है, यह भी हम सभी जानते हैं। विविध अन्नों, फलों, शाक, कन्द, मूल आदि तथा दूध, दही, घी, छाछ आदि के गुणों और प्रभावों का, उनके पकाने या बनाने के विविध रूपों और गुणों का ज्ञान, तेल, घी, मसाले आदि सम्बन्धी विस्तृत विद्या, घर, बर्तन तथा घरेलू सामान, घरेलू उद्यान, घर का परिवेश, घर की सुरक्षा और सज्जा आदि की विद्या, परिवार के विविध सदस्यों के साथ विविध प्रकार के व्यवहार की विद्या, लेन-देन, रख-रखाव, मान-उपेक्षा, आदि सम्बन्धी विस्तृत और गहरा ज्ञान, धर्म, उपासना, रीतिरिवाज, व्रत-अनुष्ठान, अल्पना-रंगोली, सिलाई-कढाई, स्वास्थ्य, स्वच्छता, घरेलू चिकित्सा सम्बन्धी अनगिनत जानकारियां,

बच्चों के पालनपोषण की विद्या, समृद्धि में संयम और गरिमा तथा विपदा में धैर्य और गम्भीरता की विद्या तथा तेज, ये सब हमारी नारियों के सम्माननीय विद्यारूप हैं, जिसकी हम सभी को जानकारी है। स्मरणीय है कि प्राय: सभी धर्मग्रन्थों में कुलाचार और लोकाचार के बारे में अन्तिम निर्णय की अधिकारी घर की जानकार स्त्रियां ही मानी गई हैं। इसी प्रकार क्षेत्र के विविध लोकाचारों के बारे में अन्तिम अधिकारी उस क्षेत्र के जानकार शूद्र (साधारण जन) माने गये हैं। ये जानकारियां महत्त्वपूर्ण विद्याएं ही हैं। आधुनिक विद्या संस्थाएं ऐसी जानकारियों के संग्रह, सम्पादन, विश्लेषण आदि में पर्याप्त धन व्यय करतीं और व्यक्तियों का श्रम लगातीं तो ये विद्याएं उभर आतीं।

ग्रामीण व परम्परागत शिल्पियों को लकडी, लोहा, चमड़ा, बाँस, सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा आदि विविध धातु, मणिमाणिक्य, हीरे, जवाहर तथा रत्न, लाख, रेशम, ऊन, सूत और मिट्टी से सम्बन्धित भिन्न भिन्न कौशलों का ज्ञान और सामर्थ्य है ही। किसानों और ग्वालों, चरवाहों आदि को गाय-बैल, भैंस-बकरी, ऊँट, भेड़, घोड़े, आदि से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान है। सूअर, कुत्ते, खरगोश आदि के बारे में विशेषज्ञता से सम्पन्न परिवार भी परम्परागत समाजों में हैं। तैराकी, नौकाचालन, तीरन्दाजी, खेल, व्यायाम, नट-कौशल, बाजीगरी आदि विद्याओं में समर्थ व निपुण व्यक्तियों की समाज में कमी नहीं यह भी हमें विदित ही है। चूस कर तथा अन्य तरीकों से विष उतारना, टूटी हड्डी को हरताल आदि जड़ी बूटियों से जोड़ देना तथा जड़ी बूटियों, औषधियों के विस्तृत प्रयोग की विद्या हमारे यहां रही है। अब इन विद्याओं की पिछले १०-१२ वर्षों से कुछ चर्चा होने लगी है। आग पर चलने की विद्या के प्रति इधर कुतूहल बढा है। ये सभी विद्याएं समादरणीय हैं। इनके लिए बृहत् भारतीय समाज को पर्याप्त साधनस्रोत सुलभ रहने देना चाहिए। ये साधनस्रोत स्थानीय स्वायत्त इकाइयों के नियंत्रण में रहने देना चाहिए। राष्ट्रीय या प्रादेशिक केन्द्र के नाम पर ये स्रोत छीनने नहीं चाहिए, न इन पर मुट्ठी भर लोगों का नियंत्रण होना चाहिए। केन्द्रीकृत नियंत्रण से इन विद्याओं का विनाश ही होता है।

विद्या के इन विस्तृत विराट रूपों के प्रति सम्मान का अभाव और अवहेलना का भाव रखने के कारण हमारे अभिजनों और शासकवर्ग में विद्याबुद्धि का ह्रास हुआ है, अविद्या और भ्रान्ति बढी है। अब इन विद्या रूपों का महत्त्व समझकर इनका समादर करना चाहिए। तथा इनको पर्याप्त साधनस्रोत उपलब्ध रहने देना चाहिए। इनकी उपेक्षा से राष्ट्रीय विद्या शक्ति का ही ह्रास होता है।

हमारी अध्यात्म (परा) विद्या के ग्रंथों तथा धर्मग्रंथों का भी गहराई से व्यापक

अध्ययन आवश्यक है। इन पर फिर से विवेक बुद्धि से विचार कर इनकी व्याख्या करनी होगी। इस विषय में किसी एक या कुछ प्राचीन विद्वानों के मत ही 'अन्तिम वचन' नहीं हैं। उनकी पुनर्व्याख्या आवश्यक है। पश्चिमी लोग तो इस विषय में मुख्य अधिकारी हो ही कैसे सकते हैं। जिस प्रकार हम पश्चिम के बारे में कितना भी जानें, पर पश्चिम के बारे में हमारा मत निर्णायक और अन्तिम कभी नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार कितना भी बड़ा या प्रसिद्ध विदेशी विद्वान हो, वह भारत के बारे में अन्तिम अधिकारी नहीं माना जा सकता।

अपने शास्त्रों, धर्मग्रन्थों, अध्यात्म-साधना-ग्रन्थों एवं पद्धतियों तथा सांस्कृतिक आदर्शों और व्यवस्थाओं का हमें विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर उनके बारे में फिर से सोचना होगा और आवश्यक व्यवस्थाएं करनी होंगी। विद्या के ये सभी रूप हमारे राष्ट्रीय ज्ञान के विविध अंग हैं। ज्ञान विहीन तो संस्कृति हो ही नहीं सकती। इनके ज्ञान को जीवंत एवं व्यवस्थित तथा गतिवान रखना प्रमुख राजनैतिक लक्ष्य और कर्तव्य है। इनसे भिन्न कोई राजनीति वस्तुत: राजनीति नहीं है। सभ्यता के विविध विद्यारूपों तथा कर्म रूपों को व्यवस्थित रखने तथा प्राणवान, प्रवाहमय रखने के अतिरिक्त और कुछ राजनैतिक कार्य हो ही क्या सकता है।

स्पष्ट है, यह राजनीति किसी एक केन्द्रीय 'कैडर' या समूह के द्वारा हो पानी असम्भव है और ऐसा प्रयास अपने ही राजनैतिक आदर्शो के विरुद्ध भी होगा। विविध स्वायत्त इकाइयों वाले, किन्तु परस्पर गहरी एकात्मता से संबद्ध राष्ट्रीय समाज द्वारा ही ऐसी राजनीति सम्भव है। दल तथा अन्य संस्थाएं इस समाज के एक सामान्य अंग के रूप में हो ही सकते हैं। उसमें दलों का स्थान रहे या वह भूमिका अन्य रूप वाली प्रतिनिधि संस्थाओं को सोंपी जाय, यह निर्णय राष्ट्रीय समाजों द्वारा होता रहेगा। संस्थाओं के रूप तो बदलते ही रहते हैं और फिर अनन्तरूपता तो हमारी जीवनदृष्टि का मान्य तत्त्व है।

अपने राजनीतितंत्र (पोलिटी) के पुनर्गठन की प्रक्रिया में हमें समाज की विविध इकाइयों के आज के सम्बन्ध बदलने होंगे तथा अपनी मान्यताएं भी विवेक की कसौटी पर कसते रहनी होंगी। जिस प्रकार अभिजनों में बृहत् समाज से अपने सम्बन्ध की मान्यता विकृत हुई है, वैसी ही कई अन्य मान्यतायें भी विकृत हुई हैं। परम्परागत मान्यताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्तिया बढी हैं तथा समझ गलत हुई है। भ्रान्ति को मिटाना होगा तथा समझ को सही करना होगा।

भारत में नर-नारी के बीच परस्पर आदर का जो सम्बन्ध रहा है, वह भी

पराजय के दौर में बहुत बिगडा है। एक तो नर और नारी का संसार अलग होता गया। पुरुष नये संस्कारों, नयी संस्कृति के प्रभाव में आते गये। स्त्रियाँ परंपरागत संस्कारों को जीवित रखे रहीं। इससे दोनों के मानसिक-बौद्धिक जगत में अन्तर बढता गया। वैसे जब दो भिन्न और बहुत कुछ परस्पर विपरीत सभ्यताओं का मिश्रण होता है, तो यह समस्या प्राय: आती है। विश्व के अनेक समाजों में यह स्थिति आती रही है। फिर जब दोनों का बोधजगत फिर से एक हो जाता है, तो फिर सम्बन्ध स्वस्थ और सांमजस्यपूर्ण हो जाते हैं। पश्चिमीकृत वर्ग में जो आधुनिक शिक्षा और संस्कारों को आत्मसात कर चुके परिवार हैं, उनमें नरनारी का बोध जगत एक सा होने लगा है और इसीलिए उस तरह की तकलीफें वहां नहीं होतीं। व्यापक समाज में नर-नारी के बोध जगत का यह आपसी अन्तर बढता ही गया है। इससे स्त्रियों के कष्ट तो बढे ही हैं, पुरुषों के भी कष्ट बढे हैं। सर्वाधिक चिन्ता की बात यह है कि घरों में भी नरनारी के मध्य बौद्धिक-वैचारिक-भावात्मक संवाद समाप्त हो चला है। बहुत सीमित बातचीत होती है। बौद्धिक-मानसिक साझेदारी, जो सम्बन्ध का वास्तविक आधार है, समाप्त है।

अपने विद्या संस्कारों से कट जाने के कारण पुरानी अनेक मान्यताएं बिलकुल गलत समझी जाने लगी हैं। शास्त्रों में अधिकांशत: जहां पुत्र की प्रशंसा है, वहां सन्तति से ही तात्पर्य है। उसमें पुत्री की प्रशंसा आ जाती है। परम्परा से भारत में पुत्रियों के प्रति भावना कम नहीं रही है, बराबर ही रही है। समाज के बिखराव के दौर में गलतफहमियाँ बढीं और भ्रान्तियां फैलीं। पुत्र का अर्थ केवल 'पुत्र' समझा जाने लगा। इसी अवधि में दहेज भी एक रोग के रूप में फैलने लगा। दहेज का यह विकृत स्वरूप नई चीज है। अंग्रेजी राज के समय में ही फैला है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। १७५० के ब्रिटिश कथनों के अनुसार तो भारतवासी अंग्रजों को कुछ तिरस्कार से ही देखते थे क्योंकि ब्रिटेन के बडे परिवारों में दहेज की प्रथा काफी प्रचलित थी।

अब तो पढेलिखे वर्ग में एक नयी प्रवृत्ति उभरी है। गर्भस्थ शिशु लडका है या लडकी, इसका गर्भपरीक्षण होने लगा है। लडकी होने पर उससे छुट्टी पा ली जाती है। इससे अधिक राक्षसी काम कुछ भी नहीं हो सकता। यह राक्षसी वृत्ति स्वयं समाज को खा जायेगी। इसका प्रचंड प्रतिरोध अत्यावश्यक है।

विविध परम्परा समूहों के मध्य बहुत हीनता आ गई है। उनका आपसी सम्बन्ध बिगडा है। विदेशी विद्वानों की व्याख्याएं ही हमारे शिक्षातंत्र में आप्तवचन मानी जाती हैं जिससे जाति तथा अन्य समुदायों के प्रति बोध विकृत हुआ है।

आधुनिक दास्यभाव वाली मान्यताओं के प्रचार से सामाजिक कलह तीव्रतर

होता जाता है। वास्तविक विद्या और ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञानविस्तार ही इन समस्याओं का समाधान है। जातियों के मध्य आपसी कटुता इतिहास के अज्ञान का फल है। जातियां समाज की स्वाभाविक इकाई रही हैं और यदि अब उस इकाई का स्वरूप भिन्न होता है तो उसका विचारविमर्श और निर्णय सामाजिक बुद्धि, सामाजिक विमर्श एवं सामाजिक संवाद से ही हो सकता है। नवप्रबुद्ध वर्ग के अज्ञान को बृहद् समाज दिव्य ज्ञान के रूप में ग्रहण कर ले और अपनी बुद्धि तथा विवेक को तज दे, यह सम्भव नहीं है।

समाज और राजनीति का रूप और तन्त्र क्या होगा, 'मॉडल' क्या होगा, यह निर्णय व्यापक भारतीय बुद्धि से ही होगा। पश्चिमीकृत समुदाय इसमें चिन्ता न करे, न इससे डरे। बृहत् भारतीय समाज में अधिक आत्मविश्वास आने की आवश्यकता तो है ही । आरम्भ में जो भी बनेगा, उसमें कमियां तो होंगी ही। फिर अनुभव और विचार से वह बदलता जायेगा। किन्तु 'मॉडल' परम्परा का ही होगा। और कोई रास्ता भी नहीं है। न कभी होता ही है।

जब व्यापक समाज अपना अंश प्राप्त कर स्वतंत्र ढंग से काम करेगा तब उसमें अपव्यय आदि भी होगा ही। पश्चिमीकृत वर्ग को अपना अपव्यय दिख नहीं पाता। बृहद् समाज से वह बहुत मितव्ययिता की अपेक्षा करता है।

भारतीय दृष्टि के अनुरूप हर क्षेत्र में संयुक्त संघ का, समुच्चय का, सबके प्रतिनिधित्व का ढांचा ही उभरेगा। मुख्यत: स्वायत्त इकाइयों के महासंघ या महासागर जैसी स्थिति होगी, जिनमें एक अन्तर्निहित एकता का बोध होगा। उसे ही बिखराव या असंगठन मान बैठने का डर छोडना होगा।

हमारे अभिजनों और शक्तिशाली जनों द्वारा पश्चिम का विमूढ अनुकरण एक पीड़ाप्रद दुर्घटना है। अविवेक और विमूढ़ता की यही स्थिति समाप्त करनी होगी तथा अपने भविष्य के लक्ष्य व दिशा के बारे में राष्ट्रीय बुद्धि से निर्णय लेना होगा। अनिर्णय, अज्ञान और आत्मविरोध की स्थिति किसी भी स्वाधीन समाज को शोभा नहीं देती और इस स्थिति में स्वाधीनता अधिक दिन टिक भी नहीं पाया करती।

अत: यह भटकाव त्यागना होगा। प्रमाद एवं अविवेक को विदाई देनी होगी। आन्तरिक हीनता दूर करनी होगी। अपने इतिहास का, अपनी परम्परा का स्मरण करना होगा, बोध प्राप्त करना होगा तथा आत्मबल एवं इच्छा को जगाना होगा। वही सार्वभौम और सनातन उत्कर्षपथ है, संस्कृतिपथ है, ऋजु पथ है। उसी पथ को अपनाना होगा।

विभाग ३

स्वदेशी और भारतीयता

१. स्वदेशी और भारतीयता
२. जारी हैं गांधी पर नेहरू के हमले
३. हिंदुस्तानी तासीर दफनाने के लिए अंग्रेजोंने बनवाई कांग्रेस
४. अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायतत्ता रहेगी न स्वावलम्बन
५. आम आदमी की ताकत पहचानने से ही बनेगा स्वदेशी मॉडेल
६. पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी
७. भारतीय मॉडल संपत्ति जोड़ने का नहीं बंटवारे का है
८. विकास का सवाल
९. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था-१
१०. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था-२
११. भारत का पुनर्निर्माण
१२. हमारे सपनों का भारत ?
१३. अंग्रेजी शासन और तन्त्रव्यवस्था
१४. कहां हैं पश्चिमीकरण की जडें

१. स्वदेशी और भारतीयता

१.

स्वदेशी की पुनर्प्रतिष्ठा के द्वारा भारत वर्ष फिर से सबल-सशक्त तेजस्वी राष्ट्र बन कर समकालीन विश्व में स्वधर्म को निभाये यह आकांक्षा देश के अधिकांश लोगों की है, ऐसा मैं मानता हूँ। यद्यपि पिछले ५२-५४ बरसों में हम जिस रास्ते पर चले, वह तो हमें स्वदेशी से दूर ही ले गया। ऐसी स्थिति में स्वदेशी शील, व्यवहार और स्वधर्म की पुनः प्रतिष्ठा कैसे सम्भव होगी यह विचारणीय है।

स्वदेशी और भारतीयता की प्रतिष्ठा के लिये जहाँ प्रबल भावना का महत्त्व है, वहीं उसकी प्रतिष्ठा आज कैसे सम्भव है, इसकी समझ और उसे प्रतिष्ठित कर सकने की शक्ति की भी साधना आवश्यक है।

२.

स्वदेशी अत्यन्त प्राचीन अवधारणा है। शायद जब से धरती पर जीवन है, तभी से स्वदेशी का भाव और व्यवहार भी है। शायद स्वदेशी ही जीवों के व्यवहार की सहज प्रवृत्ति है। सभी मनुष्य समाज तथा सभी प्राणी समाज सहज ही स्वदेशी व्यवहार करते हैं। क्योंकि, जैसी कि महात्मा गांधी ने १४ फरवरी १९१६ को मद्रास में ईसाई मिशनरियों के एक सम्मेलन में दिए गए अपने भाषण में स्वदेशी की परिभाषा की थी ''स्वदेशी वह भावना है, जिससे कि हम आसपास के परिवेश से ही अपनी अधिकतम आवश्यकतायें पूरी करते हैं और उनसे ही अधिकाधिक व्यवहार सम्बन्ध रखते हैं तथा स्वयं को उनका सहज अभिन्न अंग समझते हैं, न कि दूरस्थ लोगों और वस्तुओं से स्वयं को जोड़ने लगते हैं। स्वदेशी की यह भावना जब होगी तब हम अपने पूर्वजों के धर्म को ही आगे बढ़ायेंगे, न कि किसी अन्य धर्म को अपनाने लगेंगे। अपने धर्म में जो वास्तविक कमी आ जाएगी, उसे सुधारेंगे। राजनीति में हम स्वदेशी संस्थाओं का ही उपयोग करेंगे और उनकी कोई सुस्पष्ट कमियां होंगी तो उन्हें दूर करेंगे। आर्थिक क्षेत्र में हम आसपास

के लोगों तथा स्वदेशी परम्परा और कौशल द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ही उपयोग करेंगे और उन्हें ही सक्षम तथा श्रेष्ठ बनायेंगे।''

महात्मा गांधी द्वारा की गई स्वदेशी की इस परिभाषा को शायद आज और अधिक स्पष्ट करना पड़े या शायद उसे कुछ परिवर्तित या परिमार्जित और परिष्कृत करना पड़े। जो भी हो, इस पर गहरे विचारपूर्वक निश्चय करने की आवश्यकता है।

स्वदेशी की भावना का उपयोग १७ वीं १८ वीं शती ई. में इंग्लैंड में भी किया गया। तब अंग्रेज व्यापारी बड़े व्यापारिक लाभ के लिए भारतीय वस्त्रों को इंग्लैंड तथा यूरोप में ले जा रहे थे और वहाँ के बाजारों में भारतीय वस्त्र छा- से गये थे। इंग्लैंड के बुनकरों और ऊनी तथा सन से बने वस्त्र उद्योग के अन्य शिल्पियों ने इसका विरोध किया और अपने द्वारा स्वदेशी वस्त्रों का ही धंधा किए जाने पर बल दिया और दबाव डाला।

भारत में १९०५ ई. में स्वदेशी का एक सशक्त आन्दोलन उभरा जो बंगाल के विभाजन के विरोध में उठा था। इस स्वदेशी आन्दोलन की प्रमुख प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द थे और इसके सर्वाधिक सक्रिय नेताओं में थे श्री अरविन्द घोष।

फिर कर्मवीर महात्मा गांधी जब जनवरी १९१५ से भारतीय सार्वजनिक जीवन में आये तब से स्वदेशी के भाव और विचार में पुनः वेग आया। लगभग तीस पैंतीस बरस तक स्वदेशी भारतीयों का मन्त्र बना रहा और स्वदेशी, स्वराज तथा स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारत के राष्ट्रीय जीवन का लक्ष्य - सा दिखने लगा।

आज यदि उस स्वदेशी के भाव और विचार को फिर जाग्रत करना, संगठित करना और प्रबल बना कर राष्ट्रीय जीवन व्यवहार का उसे स्वभाव बनाना है तो स्वदेशी की परिभाषा और स्वरूप पर फिर से और अधिक विचार विमर्श तथा गहराई से मनन करना होगा। समकालीन विश्व सन्दर्भों को जानते तथा स्मरण रखते हुए उसकी सम्भावनायें देखनी समझनी तथा जाँचनी परखनी होंगी और उन शक्तियों को भी पहचानना होगा जो कि स्वदेशी और भारतीयता की पुनर्प्रतिष्ठा कर सकेंगी या उसका माध्यम और वाहन बनेंगी।

३.

बाहर से कहाँ से क्या क्या और कहाँ तक सीखना और लेना है यह विचार भी स्वदेशी का अभिन्न अंग है।

यों तो संसार भर में लोग एक दूसरे से सीखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यूरोप

ने छपाई की कला और प्रयोग विधि, नाविकों का कम्पास और उसकी प्रयोगविधि, बारुद बनाने का शास्त्र और विधि तथा कागज बनाने की विधि १३ वीं, १४ वीं शताब्दी में चीन से सीखी। इसी तरह चेचक का टीका ब्रिटेन में पहली बार १७२० में तुर्की से सीख कर लाया गया। बाद में भारत से उन्होंने चेचक के टीके की अधिक परिष्कृत और उन्नत विधि सीखी। आधुनिक शल्य चिकित्सा का उद्गम भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान से जुड़ा है। १७९०-१८१० के बीच, विशेषतः पुणे क्षेत्र से, अंग्रेजों व यूरोपीयों ने यह विज्ञान सीखा।

बढ़िया लोहा और इस्पात बनाने की तकनीक भारत में प्रचलित थी। सम्भवतः उससे ब्रिटेन के लोहे और इस्पात उद्योग ने १९ वीं शताब्दी में बहुत कुछ सीखा।

जापान ने २० वीं शती ई. के आरम्भ में पश्चिमी व्यवस्थाओं, तकनीकों और उत्पादनों का अपने ढंग से गहराई से निरीक्षण किया। ऐसा कहा जाता है कि १९१० के लगभग जापान ने अमेरिका से बीस रेलवे इंजन खरीदे। इसमें से शायद एक का ही उपयोग कर जापान ने उसकी विधि को सीख समझ लिया। बताते हैं कि जब ये २० इंजन जापान पहुँचे तो जापानियों ने उसमें से एक इंजन को पूरी तरह से खोल डाला और उसके सब कलपुर्जे भलीभांति देख-समझ तथा जाँच लिये और फिर उसी रूप में उन्हें जोड़ दिया।

अतः एक बार हम यदि किसी तकनीक को, जो हमें अपने अनुकूल लगती है, आत्मसात् कर लेते हैं और उसे अपने अनुकूल ढाल लेते हैं तो फिर कोई भी बाहरी तकनीक शायद स्वदेशी - सी ही बन जाती है। क्या स्वदेशी की धारणा में ऐसा कुछ समायोजन करने योग्य है? जो भी हो, इस विषय में बहुत गहराई से और बड़ी सावधानी से छानबीन कर ही किसी निश्चय पर पहुँचना होगा।

परन्तु हमारी समकालीन प्रवृत्तियाँ तो स्वदेशी और भारतीयताकी दिशा से विपरीत दिशा में ही चलती दिख रही हैं। यह तो है कि दिल्ली में बाबा खड़कसिंह मार्ग में हमें देश में बनी कलाकृतियाँ व देसी शिल्प वाली वस्तुयें मिल सकती हैं। बम्बई, मद्रास, कोलकता जैसे शहरों में भी ऐसी जगहें हैं।

लेकिन भारत के ५ लाख से भी अधिक गांवों, कस्बों और जिला केन्द्रों के बाजारों में तो सामान्य देसी वस्तुएँ भी दुर्लभ ही हो चली हैं। भारतीय सामग्री से बनीं, भारतीय शिल्पियों द्वारा, भारतीय शिल्प परम्परा और भारतीय रूपाकृतियों में बनी वस्तुएँ तो हमें प्रायः अपने बाजारों में नहीं दिखतीं।

आटे की हाथ चक्की, तेल पिराई की घानी, गन्ना पिराई की हाथ वाली मशीनें,

मिट्टी के घड़े और पत्तल-दोने आदि तो अब हमारे सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा की चीजें नहीं रहे और उनका धीरे धीरे लोप ही हो चला है। १९२० से चली खादी भी अब कम ही हो रही है। उसके लिए कपास मिलना ही कठिन हो गया है। वैसे ही जैसे कि पिछले १००-१५० वर्षों में लोहा बनाने वालों के लिए लोहा बनाने के पत्थर (आग जलाने वाला कोयला) का मिलना असम्भव कर दिया गया था। गोवंश के प्रति श्रद्धा भाव तो अब भी है, परन्तु गोवंश निरन्तर घट रहा है और उस पर हमारे सभ्य समाज में कोई बेचैनी या चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती। हमारे भोजन की सामग्री भी आज अधिकतर तो गैर भारतीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और उत्पादन प्रक्रिया के द्वारा ही तैयार की जाती है। यहाँ तक कि छाछ तक खातेपीते घरों में भी दुर्लभ हो चली है।

तब ऐसी स्थिति में स्वदेशी की भावना का प्रसार किन शक्तियों के बल पर होगा, यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह विचार भी अपेक्षित है कि क्या स्वदेशी में यह ह्रास अथवा स्वदेशी की यह उपेक्षा अंग्रेजी काल से शुरू हुई या पहले से ?

दिखता तो यह है कि अंग्रेजों से पराजय से पहले से भी हमारे शासक समूहों और सम्पन्न जनों में स्वदेशी का महत्त्व स्थान स्थान पर घटने लगा था। दिल्ली और बहमनी के इस्लामी शासकों के आधिपत्य वाले भारतीय क्षेत्रों के असर से सन् १६०० के आसपास, मराठा शासकों और मराठा कुलीनतंत्र में फारसी भाषा और वेशभूषा तथा तौर-तरीकों का प्रभाव छा गया - सा दिखता है। परन्तु फिर शिवाजी के समय मराठा क्षेत्र में स्वदेशी का उभार आ गया था, ऐसा कहा जाता है। उस समय वहाँ फारसी मुहावरों आदि का प्रयोग भी घटा। लगता है कि १५५० से १७५० के बीच देश के विभिन्न हिस्सों में भी इसी तरह स्वदेशी में गिराव व उभार आता रहा।

१८०० तक हम ब्रिटेन से हार चुके थे और ब्रिटेन का कब्जा पूरे भारत पर होता चला गया। इस हार से ब्रिटेन और युरोप के प्रति अधीनता का भाव भी बढ़ा। १८३० में ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक इस पर संतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ''सम्पन्न और प्रतिष्ठित भारतीय अब पश्चिमी शिष्टाचार तथा व्यवहार की विधियाँ अपनाने लगे हैं और भिक्षुकों, संन्यासियों और ब्राह्मणों को दान देना छोड़ रहे हैं। अब उसकी जगह वह धन यूरोपीयों का आडम्बरपूर्ण ढंग से मनोरंजन करने में लगाया जाने लगा है।''

सम्भवतः बेंटिक का निरीक्षण ठीक ही था। सम्पन्न भारतीय जन तब तक स्वदेशी तौर-तरीके छोड़ने लगे थे। यह सब क्रमशः बढ़ता गया।

उदाहरण के लिये कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार के किसी पंडे की पुरानी बही पलट रहा था। मैंने देखा कि उसमें अच्छी सुस्पष्ट अंग्रेजी में चार-पाँच पंक्तियाँ लिखी हैं

और १८९५ की वह प्रविष्टि मेरे ही कस्बे के किसी निवासी की थी। बाकी बही हिन्दी में थी।

१८९१ से १९३१ के बीच के, भारतीय जनगणना के अंग्रेजों द्वारा तैयार आँकड़े उपलब्ध हैं। उनमें शिक्षा के बारे में चार मुख्य श्रेणियाँ हैं -

१) कुल निरक्षर, २) कुल साक्षर, ३) देसी भाषा में साक्षर और ४) अंग्रेजी में साक्षर। जनगणना के ये आँकड़े दिखाते हैं कि तब भारत के बहुत से नगरों व क्षेत्रों में देसी भाषाओं में साक्षरता का जो प्रतिशत है, वह अंग्रेजी में साक्षरता के प्रतिशत से केवल चार गुना है। बाकी क्षेत्रों में यह प्रतिशत आठ गुना के लगभग है। यह तो होगा कि देसी भाषाओं में किसी को साक्षर, इन जनगणनाओं में, तभी लिखा गया हो, जब वह स्कूली प्रमाणपत्र दिखाए, इसीलिए शायद देसी भाषाओं में साक्षरता का प्रतिशत अंग्रेजी साक्षरता से केवल चौगुना या आठ गुना दिखता है। भारतीय भाषाओं की पढ़ाई में कमी का मुख्य कारण पूरे देश में चलाई जा रही ब्रिटिश नीति ही होगी।

प्रत्येक भाषा एक विशद अर्थपरम्परा, दर्शनपरम्परा और विचार परम्परा की अभिव्यक्ति होती है। जब हम विदेशी भाषा को अपनाते हैं तो प्रायः स्वयं को और विश्व को, व्यक्ति, समाज, संस्थाओं, मान्यताओं तथा लक्ष्यों, रुचियों, आदर्शों आदि को भी हम उसी भाषा परम्परा और संस्कृति परम्परा से देखने लगते हैं।

इसलिए न केवल उत्पादन और वस्तु निर्माण के क्षेत्र में स्वदेशी का ह्रास हमारे यहाँ हुआ है वरन, दर्शन, समाज चिन्तन, विधिविधान, राजनीतिशास्त्र, आत्मचिन्तन, शिक्षा, आर्थिकचिन्तन आदि सभी क्षेत्रों में हम यूरोपीय बुद्धि से शासित हो चले हैं। हमारी जो आत्मछवि है, वह भी यूरोपीय 'इंडोलॉजी' के विद्वानों द्वारा गढ़ी गई छवि है, जो उन्होंने अपने ही प्रयोजन से रची थी। हमारे जैसे पढ़े लिखे आज अपने स्वभाव, धर्म, धर्मशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि को भी यूरोप द्वारा सिखाई गई आत्मछवि के माध्यम से ही देखने लगे हैं।

४.

तो क्या स्वदेशी के संस्कार बचे ही नहीं हैं ? ऐसा नहीं है। निजी जीवन में और अपनों के प्रति व्यवहार में हमारे साधारण जन की स्वदेशी भावना झलकती है। सम्भवतः इसे ही भारतीयता कहा जा सकता है।

भारतीयता हमारे निजी जीवन व्यवहार और हमारी धार्मिक व्यवस्थाओं में अभी भी, चाहे कुछ प्राणहीन रूप में ही सही, जीवित है। व्रतउपवास आदि में क्या खाएँ क्या

न खाएँ, पूजाअर्चना में किन वस्तुओं का, किस तरह के पेड़ोंपत्तियों और फूलों का प्रयोग करें, किनका न करें, विवाह आदि में कैसी व्यवस्था तथा व्यवहार करें, इन सबका विचार करते समय हमारे जो संस्कार उभर आते हैं और व्यवहार में व्यक्त होते हैं, वे हमारे भीतर भारतीयता के संस्कारों की गहराई के सूचक हैं। भोजन, वस्त्र, औषधि आदि में ऐसे भारतीय संस्कार अभी पचास वर्ष पूर्व तक व्यापक और प्रबल दिखते थे। आज वे बहुत कम हो चले हैं। तो इससे शायद यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि सुव्यवस्थित प्रयास से वे संस्कार फिर से प्रबल बनाए जा सकते हैं।

भारतीयता पर अधिक कुछ कहने का अधिकारी तो मैं नहीं हूँ किन्तु दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों में कुछ विशेष लक्षण और प्रवृत्तियाँ हैं। उन्हें हम भारतीयता के रूप में पहचान सकते हैं। पश्चिम से उनका स्पष्ट भेद भी हम भलीभांति देख सकते हैं। पश्चिम से मेरा आशय यूरोप, रूस और अमरीकी महाद्वीप तथा अरब क्षेत्रों से है।

भारतीयता के तथा भारत से जुड़े क्षेत्रों के मुख्य लक्षण समान हैं। एक तो चराचर की पवित्रता का सिद्धांत है। सत्य और ऋत का अंग है। इसमें यह दृष्टि है कि जीवमात्र पवित्र है और आदरयोग्य है। इनमें व्यावहारिक स्तर पर कुछ घट-बढ़ या तारतम्य तो रहता है। पर जीवन का कोई भी रूप, जीवन के दूसरे रूपों से इस अर्थ में श्रेष्ठ नहीं है कि एक रूप की रक्षा के लिए दूसरे रूपों को समाप्त कर दिया जाय या पूर्ण अधीनता की दशा में ले आया जाय।

इसके साथ ही हमारे यहाँ जीवन को केवल मनुष्य में या कि कुछ प्राणियों में ही सीमित कर के नहीं देखा गया। बल्कि उसे सर्वत्र देखा गया है। समग्र सत्ता ही जीवन है। नदी, पर्वत, सागर, वृक्षवनस्पति सभी समग्र सत्ता के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मनुष्य की अपनी सत्ता इसी समग्र सत्ता का अभिन्न अंश है। मनुष्य अन्य जीवसत्ताओं से कुछ नितान्त भिन्न या विरोधी या श्रेष्ठतम जीव नहीं है।

मनुष्य की श्रेष्ठता का जहाँ कहीं महाभारत आदि में बखान है भी, तो वह इसी अर्थ में कि मनुष्य को इस समग्र सत्ता का सम्मान करना है, इसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना है, उनका संरक्षण नहीं बल्कि उनके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह, उनसे मनुष्य जो लेता है उसे लौटाना, ऋणशोधन करना है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य श्रेष्ठ है, इसलिए शेष सब उसके भोगसाधन हैं और वह उन सबके चाहे जैसे उपयोग का अधिकारी है। मनुष्य का गौरव सबके प्रति मैत्री, प्रेम तथा करुणा की अभिव्यक्ति और अनुभूति में ही है, हमारी चाक्रवर्त्य की धारणा तक में दूसरों के समक्ष वीरता के प्रदर्शन का भाव ही प्रधान है, उनके गौरव को समाप्त करने का नहीं। दूसरों के अपने

संस्कृतिरूपों को समाप्त करना तो चाक्रवर्त्य में भी निहित नहीं है। हमारी जीवन दृष्टि और हमारी सामाजिक सांस्कृतिक राजनैतिक संस्थायें, सभी का मुख्य आधार परस्परता, स्वभाव में प्रतिष्ठित स्वधर्म, स्वाधीनता तथा अभय रहा है। इसलिए हमारे यहाँ पूरे सामाजिक संगठन में ऐसी ही व्यवस्थायें थीं।

भारत में भूमि हो, जल हो, या वन, उस पर वहाँ के निवासियों का ही स्वामित्व रहा है। वनों पर वन के जानवरों, घूमन्तू जातियों तथा वनवासियों का अधिकार भारत में परम्परा से मान्य रहा है। हमारे सामाजिक संगठन में यह व्यवस्था रही कि एक कुल-समूह या जाति समूह के एक ही तरह के प्राकृतिक साधन स्रोतों से विशेष सम्बन्ध रहे। किसी का भूमि से, किसी का पशुओं से, किसी का पक्षियों से, किसी का वनों से, किसी का जल से। फिर इनमें भी व्यवस्थित वर्गीकरण रहे। व्यापक सामाजिक विधि निषेध थे, जो सर्वमान्य थे। हर समूह की सामाजिक उपभोग की मर्यादायें निश्चित थीं। वनों के बारे में भी यह बात लागू होती है। चराई का समय, शिकार का समय, वनस्पतियों, जड़ीबूटियों को तोड़ने या प्राप्त करने का समय सदा प्राकृतिक व्यवस्था, ऋतुचक्र और प्रकृति के अपने नियमों की समझ द्वारा निर्धारित मर्यादायें थीं । पवित्र माने जाने वाले पेड़ों और प्राणियों का शिकार भी निषिद्ध था। उनके जलाशय पवित्र घोषित होते थे। उनमें न शिकार सम्भव था, न ही उनका कोई निजी उपयोग। हर गांव के पास अपना सार्वजनिक चारागाह और अपना सामुदायिक वनक्षेत्र या वृक्षक्षेत्र होता था। इन सामाजिक विधि निषेधों का उल्लंघन राज्यतंत्र के लिए असम्भव था। ऐसा राज्यतंत्र अधम मानकर बहिष्कृत और समाप्त कर दिया जाता था। मर्यादा का महत्त्व और व्यापक धर्म से अनुशासित स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारतीय जीवन दृष्टि का केन्द्रीय भाव है। राजधर्म लोकधर्म का एक अंग है। लोक और लोकधर्म व्यापक है। राज्य लोक से अनुशासित होता है। मनुष्य समेत सभी जीव सत्तायें लोक से ही अनुशासित रहती हैं। लोक का अर्थ मानव समाज मात्र नहीं है। वस्तुतः 'मैनकाइंड' के अर्थ में मानव समाज भारतीय जीवन दृष्टि की कभी धारणा ही नहीं रहा। क्योंकि प्रत्येक मानव समूह अपने जनपद और अपने परिवेश का ही सहज तथा अभिन्न अंग है। इसलिए किसी भी जनपद के मनुष्य का उस जनपद के अन्य जीवों, पशुपक्षियों, जलचर-थलचर-नभचर सभी जीव जन्तुओं, वृक्षवनस्पतियों, आकाश, नदी, पर्वत, तालाब-झरने, कुएं-बावड़ी, फल-फूल, अनाज आदि से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध और आत्मीयता है, बनिस्बत बहुत दूरवर्ती किसी अन्य मानव समूह से। इस प्रकार मध्य देश के निवासी मनुष्यों के सहज आत्मीय तो मध्य देश के ही जीवजन्तु तथा चराचर जगत हैं न कि संयुक्त राज्य

अमरीका या और किसी अतिदूरवर्ती देश के मनुष्य। कुछ अंश तक तो यह रिश्ता आज के संसार के दूसरे देशों में भी व्यावहारिक रूप में चलता ही है। चराचर जीवों और जीवन से आत्मीयता के ये संस्कार अभी भी व्यवहार में प्रकट होते हैं। चीटियों, कौवों, कुत्तों के लिए अंश निकालने, बन्दरों को चने आदि खिलाने, गायों की सेवा करने, सांड़ आदि को मुक्त छोड़ने, मछलियों को खिलाने, नदियों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव, तालाब, कुएं, बावड़ियाँ बनवाने को पुण्य कर्म मानना, चिड़ियों तथा विविध पक्षियों को चुगने के लिए दाने डालना; शेर, मगर जैसे भयंकर माने जाने वाले जीवों के लिए भी गहरी आत्मीयता तथा परस्परता का भाव रखना और उनसे किसी अतिरंजित भय को न पालना, सांप को दूध पिलाना, शादीविवाह में नदियों-बावड़ियों-कुओं आदि को पूजना और न्यौतना-ये सब इसी भारतीय जीवन दृष्टि के अभिन्न अवयव हैं।

इस भारतीयता में मनुष्य कोई सृष्टि का केन्द्र नहीं है, सहज अंश है। समस्त जीवनरूप पूज्य हैं, पवित्र हैं और जीवन रूपों की विविधता सहज है, रक्षणीय है तथा सम्मान योग्य है। मानवीय स्वभाव का वैविध्य जीवों की ही तरह सहज और अनिवार्य है। जनपदों और कुलों के आधार पर मनुष्यों की समाजिक पहचान ही स्वाभाविक है और अपने परिवेश से अभिन्नता की अनुभूति भी उतनी ही स्वाभाविक है। इसी कारण हमारे यहाँ ऐसी कोई परम्परा कभी नहीं रही कि मनुष्य किसी एक मानव-जाति के केन्द्रीय संगठन से अनुशासित और संचालित होने योग्य है, और मानव का संगठन हमारे यहाँ इस दृष्टि से तो कभी सोचा ही नहीं गया कि प्रकृति और प्राणिमात्र उसके शत्रु हैं और उनसे उसे अपनी रक्षा करनी है।

५.

इसके विपरीत यूरोप की, ईसाईयत की विश्वदृष्टि में मनुष्य ही केन्द्रीय सत्ता है। इस्लाम की दृष्टि भी ऐसी ही है। वही समस्त सृष्टि का केन्द्र है। यह सम्पूर्ण जगत, जीवजन्तु और वृक्ष वनस्पतियाँ उसी के भोग के लिये और उसी की सेवा में हैं। और मनुष्य सम्पूर्ण प्रकृति का तथा समस्त जीवों का स्वामी और नियन्त्रक है तथा वह नियन्त्रक बने, यही वहाँ स्वाभाविक माना गया है। यूरोपीय सम्पर्क जब विश्व के भिन्न-भिन्न देशों से बढ़ा और जब वह धीरे धीरे स्वयं को प्रकृति का स्वामी मानने लगा, तब से ही आधुनिक पश्चिमी मनुष्य ने मानव जाति की धारणा रची है। मानव जाति की यह धारणा मनुष्य को प्रकृति के विरूद्ध तथा अन्य सभी जीवों के विरूद्ध रखकर देखती है। इस धारणा को मान लेने के बाद यही स्वाभाविक है कि भिन्न भिन्न कसौटियों के आधार

पर मानवजाति की विविध श्रेणियाँ बनाई जायें और इस श्रेणीक्रम में जो लोग ऊँचे सोपान पर हैं, उन्हें शेष सबके जीवन को नियन्त्रित करने का स्वाभाविक अधिकार मान्य किया जाये। इसे ही साकार करने के लिये दर्शन, साहित्य, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ऐसी दिशाएँ और ऐसे संस्थान विकसित किये गये और उन्हें ऐसी दिशाओं में नियोजित किया गया तथा उनकी ऐसी व्याख्याएँ की गईं, जिससे कि इस मानव-केन्द्रित दृष्टि की निर्विवाद प्रतिष्ठा हो और अन्ततः विकसित उच्च श्रेणी के यूरोपीय या पश्चिमी मनुष्य के लक्ष्यों की रक्षा और पोषण हो सके।

यूरोपीय सफलता के चकाचौंध के कारण भारतीय शासकसमूहों, भारतीय राज्य की सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धी समूहों तथा सम्पन्न लोगों में भी यूरोपीय मानवकेन्द्रित मान्यताएँ आज एक सीमा तक पैठ चुकी हैं। हम इस रास्ते पर कहाँ तक, कितना और कैसे चल पायेंगे, यह पूरी तरह सोचने समझने का समय निकाले बिना ये मान्यताएँ अपना ली गई हैं। इसी के प्रभाव से भय की और दूसरे को शत्रुभाव से देखने की मनोवृत्तियाँ भी इन समूहों में बढ़ती जा रही हैं। हमारा पुलिसबल भी समाज को भयभीत रखकर ही व्यवस्था की रक्षा कर पाना सम्भव समझने लगा है। इसलिए अपने संस्कारों के कारण वह अपने समाज का प्रत्यक्ष दमनउत्पीड़न शायद उतना अधिक नहीं भी कर पाता हो, परन्तु उसके किस्से हवा में फैलें और समाज के सर्वसाधारण लोग उससे आतंकित भयभीत रहें, उसका यह प्रयास प्रायः दिखता है। राज्यसंस्था की दंडशक्ति का लक्ष्य केवल दुष्टता को त्रास देना होता है जिससे समाज में स्वधर्मपालन के लिए अभय और आत्मीयता का परिवेश सुदृढ़ बने। समाज में भय का संचार करने वाला या उसमें फूट और भेदभाव बढ़ाने वाला राज्य तो हमारे यहाँ कुराज ही कहा गया है। आततायी राज्य को तो समाज आत्मीय भाव से देख नहीं पायेगा। इसलिए भारतीय राज्य के सेवकों तथा सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धियों को भी राज्य और समाज के रिश्तों में परस्पर भय, अलगाव, अविश्वास तथा विरोध भाव को बढ़ावा देना त्यागना चाहिए।

हमें कौन सी दिशा अपनानी है, यह निश्चित तो हमें ही करना पड़ेगा। प्रमाद और संवेदनशून्यता की अभी की स्थिति तो हमें आत्मक्षय और आत्मविलोप की ओर ही ले जाएगी।

दुविधाग्रस्त मनोदशा में रहकर तो हम कहीं भी नहीं पहुंच पायेंगे। गहराई से आत्मस्मरण और मनन करना होगा और स्पष्ट निर्णय लेना होगा। अगर स्वयं को यूरोपीय सांचे में ही ढालने का हमारा मन बन चुका है, तो उसी दिशा में सुनियोजत प्रयास करें। हो सकता है, हम उसमें सफल होकर सशक्त और उन्नत समाज तथा राष्ट्र

बना सकें।

लेकिन यह अधिक सम्भव है कि इस दिशा में बढ़ने पर पश्चिम और शेष विश्व पर हमारी निर्भरता आज जैसी ही बनी रहे या बढ़ती जाये तथा हम पश्चिमी जीवन शैली के एक तीसरे दर्जे के अनुयायी ही बने रहें। अपने देश के ८० से ९० प्रतिशत लोगों के प्रति हम अभी की तरह उदासीन बने रहें और उन सब लोगों को घुटघुटकर जीने के लिये विवश करने वाली अपनी वर्तमान जीवनशैली जारी रखें। इससे उनकी घुटन और बढ़ती चली जायेगी तथा हम अपनी लालसाओं में एवं अपने अपेक्षाकृत छोटे पड़ोसियों के साथ अन्तहीन झगड़ों में और भी अधिक उलझते चले जायेंगे।

परन्तु मुझे तो आशा यही है कि भारत के करोड़ों युवा जन ऐसी हीनता, अधीनता तथा उस पर निर्भरता को उचित नहीं मानते और यह जीवन शैली उन्हें प्रिय नहीं है। और इसलिए मेरा विश्वास है कि, वे भारत की पुनर्रचना के बारे में विचार, मन्थन तथा मनन प्रारम्भ करेंगे जिससे कि भारतीय जीवन की समृद्धि, विशेषता और समस्त जीवन जगत के प्रति आत्मीयता तथा सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों वाली जीवनशैली फिर से साकार हो सके और नये नये रूपों में अभिव्यक्त हो सके।

६.

भारत की प्राचीनता और विविधता भारत के लिये एक बड़ा वरदान ही रही। काल के बहाव में यह अवश्य हुआ होगा कि इस विविधता से भारत में कुछ उलझनें भी पैदा हुई होंगी। कुछ विविधताएँ तो काल के प्रभाव से मृतप्राय ही रह गयी होंगी, अवशेषों जैसी।

भारतीय साहित्य मात्रा में तो विराट है ही, इसकी रचना की कालावधि भी सुदीर्घ है। विश्व के और साहित्यों की तरह इसमें भी नयी नयी कृतियाँ, विचार, व्यवस्थाएँ जुड़ती रहीं और समय समय पर पहले कही गयी बातें नये नये ढंगों से कही जाती रहीं। इस प्रकार के बदलाव सभी क्षेत्रों में मिलेंगे, चाहे वह ज्योतिषशास्त्र हो, या आयुर्वेद या राज्य और अर्थनीति या रामायण ही। महर्षि वाल्मीकि के रामायण के बाद अनेकों रामायण रचे गये और उन सबमें अलग अलग तरह से पुराना कुछ कुछ बदलता गया और नया कुछ कुछ जुड़ता गया। भारत की सनातनता एक तरह से भारतीय प्रवाह में रही, उसके ग्रन्थों व स्थिरता में नहीं।

इस्लाम के शासकों ने, जहाँ जहाँ उनका कुछ प्रभुत्व रहा, वहाँ भारतीय सनातनता को बांधकर देखने की कोशिश की, जैसा कि विदेशियों को अपरिचित

स्थानों, विचारों व सामग्रियों के साथ, अपनी समझ के लिये करना पड़ता है। उन्होंने भारतीयता को जहां तहां बांधना चाहा, उसमें स्थिरता और शिथिलता लानी चाही। लेकिन उनसे यह अधिक नहीं हो सका।

यूरोप और विशेषतः अंग्रेज, इस दिशा में और कार्य में, अधिक तीव्रता से आगे बढ़े। अंग्रेज पूरे भारत को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर अपने अधीनस्थ भी कर पाये। अपने राज्य को पक्का करने के लिये उन्होंने भारतीय ग्रन्थों में से वह सब छांट छांटकर इकट्ठा किया, जो उनके काम का था और उसे ही ऊपर उछाला। उसी में से एक तरह का भारतीय इतिहास रचा गया और भारत की व्याख्याएं बनाई गईं। ऐसे इतिहासों और व्याख्याओं में सब असत्य या काल्पनिक ही हो, ऐसी बात नहीं है। लेकिन यह सब जो चित्रण किया गया, यह सन्दर्भ रहित हो गया। इसमें भारतीय चित, आत्मा और मानसिकता एकदम किनारे रख दी गई। यह चित्रण जो अंग्रेजों द्वारा किया गया, इससे १८६०-१८७० के बाद भारत में एक बड़ी टूटन हुई। धीरे धीरे सन्दर्भ अदृश्य जैसे हो गया और टूटा एवं बिखरा भारत हमारे पास रह गया।

स्वराज आने का लक्ष्य यह था कि हम भारत के अपने सन्दर्भ को फिर से पायें तथा बिखरे और रौंदे हुए भारतीयता के लाखों टुकड़ों को भारत के सन्दर्भ से, फिर से जोड़ें। यह काम हम अभी तक नहीं कर पाये हैं। शायद अभी तक हमें यह सूझा भी नहीं है कि इस तरह का सन्दर्भ खोजना और बिखरे टुकड़ों को इससे जोड़ना भी हमारा काम है।

पुराने अवशेषों के अलावा, अब हमारे यहाँ बहुत ही अधिक, पिछले २००-४०० बरस में बनीं व्यवस्थाओं, कानूनों, तन्त्रों, बीमार मानसिकताओं का ढेर का ढेर कबाड़ इकट्ठा हो गया है। हमें जीवित रहना है तो इन सब को हटाकर कहीं जलाना व दफनाना ही पड़ेगा। तब ही ठीक तरह से सन्दर्भ मिलेगा और जैसा भी जुड़ाव हम आज चाहते हैं, वह बन सकेगा।

२. जारी हैं गांधी पर नेहरू के हमले

क्या अंग्रजों ने भारत के बौद्धिक वर्ग के पश्चिमीकरण को अपने सुरक्षा कवच की तरह इस्तेमाल किया और जब सत्ता देने की बारी भी आई तो सत्ता उन हाथों में सौंपी गई जो पश्चिमपरस्त थे और जिनको अपने देश के विकास के लिए स्वदेशी मॉडल बनाने में कोई रुचि नहीं थी ? क्या सत्ता हस्तान्तरण को भी औजार के रूप में इस्तेमाल किया गया और नेहरू इस काम में अंग्रेजों के नजदीकी मददगार बने, पर सत्ता और सत्ता को संभाल सकने की जो बुनिदायी चतुराई उनमें थी, उसने उनको बेनकाब नहीं होने दिया ?

अंग्रेजों ने भारत के बौद्धिक वर्ग का राजनैतिक इस्तेमाल किया। १९२० में 'सेक्रेटरी आफ स्टेट्स'ने वाइसराय को लिखा कि जमींदार वर्ग पर बचाव का भरोसा मत रखो। इस काम में बौद्धिक वर्ग को लगाओ। बौद्धिक वर्ग से यह काम १८ वीं सदी के उत्तरार्ध से ही लिया गया होगा। इस देश की आम जनता का जो रुख था, उसे देखते हुए अंग्रेज इस देश में अपने निजाम की सुरक्षा के बारे में कभी आश्वस्त नहीं थे। मेटकाफ भारत में इंग्लैंड से अंग्रेजों को बड़ी संख्या में लाने की सिफारिश करते हुए यह कहता है कि 'यह ठीक है कि यहां के लोग स्वामिभक्त हैं। पर भरोसे में मत रहिए। हवा का रुख बदला तो स्वामिभक्ति का चोला उतर जाएगा और हमारी खैर नहीं'' । १९२० के बाद तो ऐसा हुआ कि जितने राजनैतिक वर्ग और धाराएं थीं, अंग्रेजों की कोशिश उन सबमें अंग्रेजियत माननेवाले लोगों को दाखिल कराने और जमाने की रही, जिनको जरूरत पड़ने पर पीटा भी जा सके, पर जिनके साथ बैठकर चाय भी पी जा सके। आखिर मोतीलाल नेहरू गवर्नर के साथ टेनिस खेलते थे न। कुछ उसी तरह का मामला। जरा १९४२ में भी देख लीजिए। अगस्त १९४२ में ब्रिटेन सराकर के एक मंत्री को रुझवेल्ट समझाते हैं कि सत्ता हस्तांतरण का वक्त तो ब्रिटेन को ही तय करना है। पर उसे यह भी तय करना चाहिए कि आझादी के बाद भारत पश्चिम के असर में रहे। चीन के विदेश मंत्री ने भारत को एशियाई राष्ट्र कहा है। रुझवेल्ट उसे चुनौती देते हैं कि नहीं, भारत के लोग यूरोपीय समुदाय के हैं। हमारे कजिन (चचेरे भाई) हैं। यह

रिश्तेदारी हमारे पढ़ेलिखे लोगों के मन में बहुत दिनों से समाई थी। जिनकी संख्या लगातार बढ़ी थी। नीरद चौधरी वगैरह यही चचेरे भाई हैं न।

लेकिन स्वदेशी और भारतीयता को प्रतिष्ठित करने में महात्मा गांधी कहां मात खा गए ? उनसे चूक कहां हुई ? इसके बारे में मुझे लगता है कि १८ वीं शती के उत्तरार्ध में देश के अंग्रेजीदां पांच फीसदी लोगों ने जो राजनीति शुरू की, उसके केन्द्र में सत्ता में भागीदारी की मांग तो थी ही, साथ ही अंग्रेज और अंग्रेजियत को अपने से बड़ा माना गया था। मान लिया गया था कि हम लोग तो हजार साल से ज्यादा समय से गुलाम ही हैं। दूसरों पर निर्भर ही रहे हैं। भागीदारी की मांग में कमतर होने की स्वीकृति भी थी। इस वर्ग को महात्मा गांधी ने १९२० में राजनीति की मुख्यधारा से बाहर कर दिया। कुछ अंडरग्राउंड हो गए। कुछ सार्वजनिक जीवन से हट गए। कुछ उदारतावादी हो गए। पर ज्यादातर लोग कांग्रेस में ही बने रहे। गांधी की शक्ति और चमक से वे डरे। कुछ ने यह भी सोचा होगा कि चलो, कुछ देर तक चलने दो यह चमक। कुछ में भक्तिभाव भी पैदा हुआ होगा कि शायद गांधी ही सही सोच रहे हों। १९४० तक वे किनारे पर रहे। पर उसके बाद उन्होंने गांधी को अलग ठेल दिया। इन तबकों के सामने गांधी की मजबूरी का जरा अंदाज लगाइए। सुशीला नायर की डायरी में है। १९४३ में गांधी जी जेल गए तो कहते थे कि जल्दी ही छूट कर बाहर जाऊंगा। फिर वे कहने लगे कि नहीं, अब सात साल जेल में ही रहूंगा। १९४४ में तो वे बाहर जाने के लिए तैयार नहीं थे। आगे का फैसला लेने में उन्हें दो तीन महीने लग गए। गांधी की ऐसी प्रोग्रामिंग भी थी। वे ऐसा करते थे। और अहमदनगर जेल में नेहरू उनके लिये क्या सोच रहे थे। यही कि अब एक और उपवास हो जायेगा। नेहरू के दिमाग में पिछले को देख देख कर यही बना था गांधी का मॉडल। १९४३-४४ में अपने अलग थलग पड़ जाने का आभास केवल गांधी को ही नहीं रहा, दूसरों को भी हो गया। अंग्रेजीदाँ लोग गांधी को उनकी महानता से तो बेदखल नहीं कर सके, पर वास्तविक अर्थों में गांधी की बेदखली हो गई।

इसी के साथ स्वदेशी की कड़ी भी शक्तिहीन हो गई। पर क्यों ? महात्मा गांधी का अपना खड़ा किया कांग्रेस का ढांचा भी इस काम के लिए माकूल नहीं था। १९२० में कांग्रेस के ढांचे का ड्राफ्ट गांधीजी ने खुद बनाया। ढांचा यह है कि नीचे मेंबरशिप है। फिर जिला, फिर प्रदेश, फिर अखिल भारतीय समिति है। फिर अध्यक्ष है। अन्तिम फैसले की ताकत ऊपर है। उसी में नीचे वालों की राय भी मान ली जाती है। देश नीचे है और उसकी लीडरशिप ऊपर। सरकार का मॉडल ही कांग्रेस का भी मॉडल हो गया। वही कलेक्टर, कमिश्नर, गवर्नर मॉडल। गांधीजी को शायद लगा कि अंग्रेजों से लड़ाई

उनके जैसा केंद्रित मॉडल बनाकर ही लड़ी जा सकती है। तो वैसा ही मॉडल बना तो उसे चलाने के लिए वैसे ही लोग भी आगे रखने थे।

इस युद्ध में नेहरू पश्चिमी मॉडल के प्रतीक हैं। गांधी भी उन्हें ऐसा ही मानते हैं। पर यह भी मानते हैं कि नेहरू को मोड़ा जा सकता है। वे सोचते हैं कि पश्चिमी मॉडल को हराने के लिए इस नेहरू को जीतना है। इसे जीत लिया तो फिर सबको जीत लिया। उन्हें अपनी जीत का भरोसा भी होता है। पर यह जीत वे हासिल नहीं कर पाते। गांधी अंतरराष्ट्रीय ताकतों के दखल को भी ठीक से समझ नहीं पाए। यह मान कर चलते रहे कि उनकी कोई दखलंदाजी नहीं होगी और सब कुछ आपस में सुलटने के लिए जस का तस स्थिर रहेगा। पर १९४४ के बाद तो इन ताकतों ने गांधीजी को हाशिए पर ठेल दिया।

नेहरू ? १९४५ में तो नेहरू ने साफ कहा कि गांधी के स्वदेशी राग को उन्होंने कभी विचार के लायक भी नहीं माना। कांग्रेस ने भी स्वदेशी की बातचीत १९३७ में ही छोड़ दी थी। नेहरू तब तक बड़े नेता बन चुके थे। गांधी मूल में सभ्यता का संघर्ष तो लड़ रहे थे, पर उनका मूल प्रश्न पहले आजादी हासिल करने का था। उन्हें समझौते करके चलना पड़ता था। उनकी मजबूरी उस सेनापति की मजबूरी थी, जो अपनी सेना की टूट नहीं चाहता। वे सोचते थे कि युद्ध में सबको साथ लेकर चलो। आजादी मिली तो फिर सब कुछ संभल जाएगा। उन्होंने पश्चिमपरस्त लोगों और उनके नेता नेहरू को सन्तुलित करने के लिए कोशिशें कम नहीं की। गांधी सेवा संघ बनाया गया। संघ पश्चिमपरस्त तबके के खिलाफ दबाव बनाने का साधन ता। १९३८ में नेहरू जब विदेश जा रहे थे तो उन्होंने संघ के खिलाफ हमले का बिगुल बजाया कि संघ राजनीति कर रहा है। फिर सुभाष चंद्र बोस लाबी मजबूत बनी तो महात्मा गांधी को १९४० में संघ को सस्पेंड करना पड़ा। विसर्जित उन्होंने नहीं किया। कहा कि फिर जिंदा करने की जरूरत पड़ सकती है। गांधी पर सबसे बड़ा दबाव तो टैगोर का पड़ता था। सुभाष नेशनल प्लानिंग कमेटी गठित करना और नेहरू को उसका अध्यक्ष बनाना चाहते थे। तो मेघनाद साहा जुटे। टैगोर से बात हुई। टैगोर ने गांधी को मनाया। नेहरू अध्यक्ष बने। नतीजतन विकास का पश्चिमी मॉडल कांग्रेस के नीति मॉडल में हावी हो गया। और गांधीजी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी ही घोषित किया। १९४० की कांग्रेस कार्यसमिति में गांधी बोस बगैरह के खिलाफ अपने लोगों की एकतरफा जीत चाहते हैं। नेहरू समर्थक एक तिहाई हैं। तो समर्थन लेने के लिए बातचीत में कह देते हैं कि मेरा उत्तराधिकार तो नेहरू को ही मिलेगा। असली खेल बाद में हुआ। कुछ दिनों बाद

अखबारवाले गांधी के पास पहुंचते हैं। और उनसे सवाल पूछ पूछ कर मुंह से निकली बात को कबूलवाया जाता है। बात रिकार्ड में ला दी जाती है। नेहरू इसे गांठ में बांध लेते हैं। और जब वक्त पड़ता है तब यह बात १९४४ में उछालकर सामने ला दी जाती है।

महात्मा गांधी जब ताकत में रहते हैं, उनके सामने सब कुछ दबा रहता है। पर ताकत कम होते ही मामला उलट जाता है। १९२७ में नेहरू विदेश प्रवास से लौटकर आते हैं तो उनको आगे कर आजादी का प्रस्ताव पास किया जाता है। आजाद रूप से। इसमें गांधीजी के स्वदेशी, स्वराज आदि के सन्दर्भों में उन्होंने १९२० से जो कुछ किया, उसको चुनौती है। गांधी चौंकते हैं। और फिर जरवरी १९२८ में एक-दूसरे को चिट्ठियां लिखी जाती हैं। गांधी आर पार लड़ाई की चुनौती दे डालते हैं। आजादी बनाम स्वराज का लेख लिखते हैं। जानते हैं कि आज कौन लड़ेगा। सबक सिखा रहे हैं। और मामला वहीं खत्म कर देते हैं। पर दूसरे? दो टूक शब्दों में कहूं तो नेहरू और उनके लोगों ने पिछले ५० साल में गांधी के साथ चौतरफा बदला लिया है। उन पर गिन गिन कर अनगिनत हमले किए हैं। उन्हें अपमानित करने की कोई चेष्टा नहीं छोड़ी है। गांधी से उनका युद्ध अभी भी जारी है।

३. हिंदुस्तानी तासीर दफनाने के लिए अंग्रेजों ने बनवाई कांग्रेस

स्वदेशी और स्वदेश को जानने-समझने के लिए क्या पिछली दो-तीन सदियों के इतिहास को उघाड़ने की फौरी जरूरत है कि जिस आपरेशन के बिना असलियत का पता नहीं लग पाएगा? लेकिन अगर इस काम से एक से एक मूर्धन्य महापुरूषों का मानभंजन हो गया तो?

मुझे इस काम से कोई एतराज नही हैं। बल्कि देश में बेहतर मानवीय, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध कायम करने के लिए मै इसे जरूरी मानता हूं। कहाँ थी कुचाल? लॉर्ड विलियम १८३० में कहता है कि हमारे प्रयासों का भारतीयों पर असर तो पड़ा है। लोगों ने अंग्रेजियत अपनाई है। उनकी परम्पराएं टूटी हैं। अंग्रेजीदाँ वर्ग में पैसा यूरोपीय तर्ज के मनोरंजनों पर बहाया जा रहा है। १८७० आते-आते यह अंग्रेजीदाँ वर्ग इस बात के लिए अकुलाने लगा कि जब हम अंग्रेजों की तरह रहना जानते हैं, उन्हीं की तरह अंग्रेजी बोल लेते हैं, राजनीति और दर्शन वगैरह पर भी बात कर लेते हैं, तो फिर वे हमें थोड़ा बराबरी का दर्जा क्यों नहीं देते? रिचर्ड टेंपुल १८८०-८२ में कहता है कि इन लोगों को कानून वगैरह पढ़ा देने से ऐसा हुआ है। थोडे होशियार हुए हैं तो होशियारी दिखा रहे हैं और बराबरी की मांग करते हैं। अब इन्हें जरा विज्ञान की झलक दिखानी चाहिये, जिससे ये लोग हमारी बौद्धिक दासता स्वीकार करें।

भारतीय तासीर का अंग्रेजी शासन और अंग्रेजियत के खिलाफ मौलिक विरोध के रूप में १८७० के आसपास उत्तर प्रदेश और बिहार में गोहत्या के खिलाफ जबरदस्त जन आंदोलन उठ खड़ा हुआ। तत्कालीन वाइसराय के मुताबिक इसकी ताकत १८५७ के स्वाधीनता संग्राम जैसी ही थी। रानी उसे चिट्ठी भेज कर सावधान रहने को कहती हैं कि आन्दोलन हमारे ही खिलाफ है, मुसलमानों के खिलाफ नहीं। गोमांस हम अंग्रेज ही ज्यादा खाते हैं। देश के दूसरे हिस्सों में भी इस तरह के दूसरे देशी विरोध उठ रहे थे। इसे मोड़ कर नष्ट करने और अंग्रेजीदाँ वर्ग में उठी बराबरी की मांग को संतोष देने के लिए ही कांग्रेस का जन्म हुआ। स्वदेशी को खत्म करना तो कांग्रेस के गर्भनाल में है।

अंग्रेजों की श्रेष्ठता मान लेने से बौद्धिक वर्ग ने अंग्रेजों का काम ही आसान किया। अंग्रेजों ने अपने राज्य को वैधता देने के सिलसिले में भारत के हजार साल से गुलाम रहने का रट्टा खड़ा कर दिया। कब था भारत हजार साल से गुलाम? गजनवी वगैरह तो लूट के लिए आए। मुसलमानों का कब्जा तो १२०० से शुरू हुआ। लेकिन कितनी दूर? उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में। वह भी पाकेट्स में। ऐसा नहीं था कि साग-बथुए की तरह यहां के लोग दब गए थे और मुस्लिम निजाम चारों ओर पसर गया था। मुसलमानों को अंग्रेजों की तरह जिला-जिला पहुँच कर प्रशासन की सीढ़ी बनाना नहीं आता था। इसे अन्त तक देखें। हिन्दुस्तान कोई मुसलमानों के हाथ से अंग्रेजों के हाथ में नहीं गया। हिन्दुओं के हाथ से गया। मराठों ने दिया। बंगाल के राजाओं ने दिया। सिराजुद्दौला वगैरह की तो नाम मात्र की सत्ता थी।

फिर अंग्रेजों ने हमें अपने नजदीकी समयबोध से भी काट दिया। जैसे हिन्दुस्तान में २०००-३००० साल की अवधि में सामाजिक संरचनाओं का समय के मुताबिक कोई विकास ही नहीं हुआ। पुराणों, उपनिषदों और संहिताओं से उदाहरण ढूंढ़ कर हमारी अठारहवीं सदी का फैसला होने लगा। भारतीय धर्मशास्त्रों के कमाल कमाल के विशेषज्ञ निकल आये। यह साबित किया जाने लगा कि मनुस्मृति में वर्णित वर्णाश्रम धर्म ही समाज का मानक है। मनु उभार कर सामने लाए गए तो दलित आशंकाए भी उभरीं। अठारहवीं सदी के हिन्दुस्तानी समाज की क्या कोई तस्वीर नहीं थी ? थी। शोध साबित करते हैं कि उन बुरे दिनों में भी हिन्दुस्तानी मजदूर की मजदूरी इंग्लैंड में दी जा रही मजदूरी से ज्यादा थी। बंगाल पर पूरे कब्जे के बाद १७६५ में सवाल उठा कि किसानों से मालगुजारी क्या ली जाए? ये किसान तब छठा-आठवां हिस्सा ही देते थे। जबकि इंग्लैड में तब के बंटाईदार जमींदार को आधा हिस्सा देते थे। अब अंग्रेजों को वसूलना आधा है तो फिर उसके लिए चलो पुराने टैक्स्ट (Text) ढूंढ़ो। तो अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में पहुंचते हैं। वहां सवाल-जवाब में सलाहकार खिलजी को बता रहे हैं कि गैरमुसलमान से राजा उत्पादन का ५० फीसदी हिस्सा भी कर में ले ले तो गलत नहीं है। खिलजी का यह सवाल-जवाब प्रमाण बना दिया गया। यह कह कर के कि जब अच्छा प्रशासन होता है तो लोग ५० फीसदी कर देते हैं। अब तक छठा-आठवां हिस्सा इसलिए देते थे कि अब तक अच्छा प्रशासन नहीं था। १७८०-८५ में बनारस में एक ब्राह्मण पर हत्या का इलजाम लगा। यह कुछ धरने वगैरह में हुई मौत थी। काफी पहले से हमारे यहाँ इस प्रकार के दण्डों के लिये काला टीका करके देश निकाला देने का रिवाज था। मामला कोलकता जाता है। विलियम जोन्स के पास। वे भारतीय धर्मशास्त्र

के विशेषज्ञ हैं न ! वे वह सब जानते हैं जो इस देश के धर्मशास्त्र नहीं जानते ! तो वे बताते हैं कि नहीं, इनके यहां तो ऐसे मामले में तप्त लोहे से दागे जाने का रिवाज है। काले टीके की बात उन्हें इसलिए नहीं जमती कि उस समय इंग्लैंड में गरम लोहे से दाग कर सजा देने का आम रिवाज था। वे उसकी बराबरी की सजा ढूंढ़ रहे हैं। तो अपने हिसाब से करने के लिए पीछे, और पीछे, और पीछे चलने का मॉडल बना दिया गया। बहुत मजबूत था यह मॉडल। जे पी और लोहिया से मेरी कई बार इस सिलसिले में बातें हुईं। अंग्रेजों के इस खेल को भांपते थे वे। पर जब मंच पर चढ़ जाते थे तो फिर पहले ही वाक्य से वहीं शुरू हो जाते थे-हजारों साल पुरानी सभ्यता है हमारी। और फिर वहीं हजारों साल पहले ठहर कर रह जाते थे हम।

क्या था अंग्रेजों के जमाने के अठारहवीं सदी के भारत का नक्शा ? यह दलित (डिप्रेस्ड) समाज तो अंग्रेजों का किया वर्गीकरण है। हमारे यहां तो अलग अलग जातियां थीं और उनके अलग अलग रीति रिवाज थे। दलित वर्ग कहां से निकला, इस बारे में आम्बेडकर लिखते हैं कि मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमंडल अंग्रेजों से मिला था। उसने कहा कि हिन्दू अछूत, दलित और सवर्ण-तीन खाने में है। इसलिये मुसलमान को आबादी के गणित में हिन्दुओं के बराबर ही माना जाना चाहिए। १९७१ की जनगणना में अंग्रेजों ने इस वर्गीकरण को ठूंस दिया। १९१६-१७ में शिक्षा पर हुए किसी सम्मेलन में सामाजिक-शैक्षणिक पिछड़ेपन की चर्चा उठी। तो बाद की जनगणना में अछूतों और कुछ दलितों को मिलाकर अनुसूचित जाति का एक वर्ग बना दिया गया। जबकि १८ वीं सदी के भारत में ५-७ से ज्यादा जातियां अछूत नहीं थीं। चमार तो अछूत नहीं ही थे। १९३१ की जनगणना में उनकी आबादी ब्राह्मणों के बराबर है। और जातिवार यही दोनों सबसे बड़े आबादी समूह हैं। कुछ चांडाल, भंगी, मेहतर ही अछूत थे। फिर १८०० तक जातियों में परस्पर पिछड़ापन कोई ज्यादा नहीं था। शादी ब्याह के दायरे सबके अपने अपने थे। पर समाज में सबकी स्थिति तकरीबन बराबर की थी और व्यवस्था में हरेक की हिस्सेदारी थी। दक्षिण भारत में तो गांव के झगड़े तय करने का काम पेरियार का ही था। उसके न्याय को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। गांव की सुरक्षा का जिम्मा महारों का था। १८ वीं सदी में इनके घरों का घेरा देखिए तो वह किसी और हिन्दू के घर से कम नहीं है। बल्कि कहीं कहीं ज्यादा भी है। खेती भी है उनके पास। इसे कहिए तो लोगों को बड़ा झटका लगता है। मैंने जाँचा कि दक्षिण में १८ वीं सदी में कुल शिक्षितों में ८० फीसदी गैरब्राह्मण हैं। इस पर नानाजी देशमुख को यकीन नहीं हुआ। वे कहने लगे कि ऐसा कैसे हो सकता है ? और दलित नेता भी इसे कैसे मानेंगे ? उन्हें किसी ने यह बताया ही नहीं।

४. अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायतत्ता रहेगी न स्वावलम्बन

क्या राजनीति और सबको साथ लेकर चलने की मजबूरियों के अलावा भी गांधी किसी ऐसे कारण से मजबूर थे कि स्वदेशी वृक्ष के लिए कोई ऐसा थाला नहीं बन सका, जिसे नेहरू जैसे लोग मिटा न पाते, और वृक्ष पनपता-बढ़ता चला जाता ? जिसे उनके बाद सर्वोदयी, गांधीवादी, समतावादी, समाजवादी, मानवतावादी, राष्ट्रवादी आदि आदि सब मिलकर संभाल लेते, और आज भारत की एक नई तसवीर बनी होती ?

गांधी की गांव की कल्पना उधार की है और किताबी है। मेटकाफ जैसे का लिख पढ़ कर ही उन्होंने भारत के गांव जाने हैं। और यह जो पढ़ा लिखा है, वह बहुत महत्त्व का नहीं है। पर उनकी अन्तर्दृष्टि विलक्षण है और हर पढ़े-लिखे-देखे को जोड़-जाड़कर चमका देती है। १८७१ में वे लन्दन की एक गोष्ठी में जाते हैं तो हिन्दुस्तान के लिए नमक के महत्त्व का मुद्दा उठाते हैं। फिर बताते हैं कि गाय की वहां पूजा होती है। उसका मारा जाना ठीक नहीं। यह बात अन्तर्दृष्टि से ही उठ रही है। बाद में वे इन्हीं बातों का विस्तार करते हैं। नाताल कांग्रेस की ओर से दिए गए ज्ञापन में वे दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों की बाबत कहते हैं कि ये महान लोग हैं। हजारों साल पुरानी सभ्यता के हिस्से। वही हजारों साल पुरानी सभ्यता। तो तुरन्त का बीता तो यहाँ भी लोप हो जाता है। लिहाजा स्वदेशी की जो अवधारणा या कार्यरेखा बनती है, ढेर सारी चीजों को बटोर कर अंग्रेजों के सामने, तो वह एक बड़ी ताकतवर चीज के रूप में रख दी जाती है, उसका एक ढाँचा भी खड़ा कर दिया जाता है, पर मामला ऊपर ही ऊपर है, जड़ें नदारद हैं। ताश के पत्तों का एक ऐसा महल बनता है, जिसे तो गिरना ही था।

नतीजा-स्वदेशी की अवधारणा को 'गांधी के अनुयायी भी नहीं चला पाए,' जिनके पास सतही लिबास भी था और गांधी का बनाया ढाँचा भी। बस रूटीन में मंत्र की तरह स्वदेशी का जाप होता रहा। स्वदेशी की चेतना भूत, भविष्य और वर्तमान से ठीक से जोड़ी नहीं गई। विनोबा ने समुदाय की, ग्रामदान की बात की। तो पहले क्या होता था ? अपने यहाँ तो समुदाय के कुछ गांव होते ही थे। १९६४ में तंजोर में लोगों ने बताया कि उनके यहाँ १०० समुदाय गांव तो आज भी हैं। स्वदेशी की अभिव्यक्ति तो

राजनीति में होनी थी। हम लोग तो उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति करने में ही लग गए और मारे गए। स्वदेशी यानी वही कुछ कपड़ा-बपड़ा। कुछ तेल-वेल, खाने-वाने की बातें। इसमें तंत्र, व्यवस्था, मर्यादा पर, प्राथमिकताओं पर बात नहीं थी। स्वदेशी तो प्राथमिकताएं होती हैं। वे तय होंगी, तो उन्हें कैसे पूरा करना है, इसका रास्ता बनेगा। इस काम के लिए कुछ उधार भी लेना होता तो लेकर उसे अपने में मिला लेते। उसका स्वदेशीकरण हो जाता। १९०५ की स्वदेशी की बंगाल वाली विचारधारा सतह पर ही थी। नीचे धंसती तो बहस होती। अरविन्द जैसे लोग कुछ सैद्धांतिक व्याख्या कर गए। बस।

स्वदेशी क्या हो, इसे तय करने के लिए राज्य और समाज कैसे व्यवस्थित हो, इस सवाल पर जाना होगा। इनके आपसी रिश्ते क्या हों, और इनके मूलाधार क्या हों, यह तय करना होगा। अपने यहाँ जातियां ही नहीं रही, उनमें अंदरूनी विभाजन भी जोर का रहा है। १९११ की जनगणना में पंजाब में १७०० खानों में जाट बंटे हैं। ये शायद १७०० कुल रहे होंगे। यह कुल प्राथमिक इकाई रही है। परिवार नहीं, कुल। फैसले इसी इकाई में होते हैं। ये कुल इकट्ठा होते हैं तो कुछ संघीय-सा संयोजक ढांचा बनता है। इस ढांचे में फैसलों की प्रक्रिया कई स्तरों में रही होगी। १००-२००-५०० साल पहले के कुलों की रक्षा, विदेशी नीति आदि की जरूरत दूसरी थी। आज हमारी जरूरतें दूसरी हैं। पर इस बात की सोच नहीं बढ़ी। यह मानने की आदत से कि भारत ऐसा रहा है और ऐसा ही रहेगा। फिर छोटे समूह में रहने की आदत थी। ढेर सारे कुल थे। गुरु की चेलहाई के आधार पर। पंथ के आधार पर। पर यह नहीं कि इन कुलों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। आपस में शादी, ब्याह और खानपान नहीं हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे एकदूसरे को छोटा मानते हैं। भिन्नता वहीं तक है। बाकी सब बातों के लिए लोग इकट्ठे होते होंगे और व्यवस्था का संचालन होता होगा।

फिर यह विभाजन कि लड़ने का काम केवल क्षत्रिय का है, आदि-आदि, तो यह बात मूल में नहीं रही होगी। मूल में तो लड़ाई के तंत्र में तमाम लोग लगे थे। इस बात को समझकर ही ढांचा बनाया जाना था। १८०० का भारत ऐसा ही था और वही अपने हिसाब की संरचनाएं बनाई गई होतीं तो दो-चार पीढ़ियों में स्वदेशीकरण हो जाता। यह आज भी हो सकता है। पर यह समझकर कि ज्यादातर लोगों का वास्ता भौतिक उन्नति से ही है। उन्हें वह चाहिए। और यह दिया जा सकता है। दूसरे यह कि दुश्मन तो कभी खत्म होते नहीं। इनसे बचाव तो करना ही होगा। इस खाके में भौतिक ढांचे (उत्पादन

वगैरह) की बात चलती तो कहीं पहुंचा जा सकता था। स्वदेशी का वह जो ठेठ अर्थ है कि इलाके में बना सामान ही खरीदना चाहिए आदि-आदि, वह गिर जाता है। राजनीति और व्यवस्था उससे नहीं मिलती तो उसे सहारा नहीं मिलता। १९१५-१६ में महात्मा गांधी ने यह जो चरखे की बात पकड़ी तो गुजरात में उस वक्त चर्खों का चलन नहीं रहा होगा। पर पंजाब वगैरह में तो १८५०-६० तक चर्खा खूब चलता ही था। भारतीय कपड़ा उद्योग पर जो शोध हुए हैं, वे यह नहीं कहते कि आर्थिक चुनौती से कपड़ा उद्योग हारा। हारा वह राजनैतिक पराजय से। उसकी वजह से लगे शुल्क (कर) से।

आज का उदारीकरण यदि देश के विकास की सुविचारित रणनीति के तौर पर हो रहा हो, पूरे मन से हो रहा हो तो इससे भी बेहतरी हो सकती है। १९५०-६० में जापान इस रास्ते चला तो ५-१० साल बड़ी खलबली रही। पर उन्होंने सैन्यीकरण भी किया। आज उसने कई मायनों में अमेरिका को पछाड़ रखा है। विश्व बाजार की प्रक्रिया पर उसने महारत हासिल कर ली। यह महारत हमारा इरादा हो तो इस नई आर्थिक नीति के भी फल निकल सकते हैं। पर हम लोगों ने अपने लोगों को रद्दी मान लिया है, उसकी वजह से यह मानसिकता होगी, इसका भरोसा नहीं होता।

नई आर्थिक नीति के खिलाफ उठने वाली आवाजें बज नहीं रहीं। कारण विरोधियों के पास मुकम्मिल सोच नहीं है। अपना मॉडल नहीं है। लोग बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विरोध कर रहे हैं ! जैसे आजादी बचाओ आन्दोलन है। जार्ज फर्नांडीझ हैं, चंद्रशेखर हैं। तो ईस्ट इंडिया कंपनी क्या थी? बहुराष्ट्रीय ही थी न ! यूरोप और पश्चिम तो ऐसी कंपनियों से ही चलता है। यही वहां का चलन है। क्या इसे नहीं समझना चाहिए? यदि चंद्रशेखर, जार्ज आदि-आदि के पास स्वदेशी की परिभाषा होती, उसका मॉडल होता तो बहस हो जाती और लोग सोचते। पर वह नहीं होगा। इसलिए कि व्यवस्था और तंत्र के स्वदेशीकरण की नहीं सोची गयी है। तय तो पहले प्राथमिकताएं की जानी चाहिए। फिर कुछ उधार भी लेना होता तो लेकर ढाला जाता। स्विच अपने हाथ में होगा तो उधार का भी स्वदेशीकरण हो जाएगा। अभी तो पश्चिम से हम सब कुछ पैकेज में ले रहे हैं।

इस बात की अनदेखी किए हुए कि उधार में लाई जा रही तकनीक और सिद्धांत की अपनी भी स्वायत्तता होती है। हमें तो अपनी जरूरत की चीजों से ही सरोकार रखना था। चौथे दशक की नेशनल प्लानिंग की उपसमिति की वर्धा बैठक में गांधी जी ने कहा

कि पहले उत्पादन का लक्ष्य तय किया जाए। फिर यह आपस में तय हो जाएगा कि कितना उत्पादन देशी तरीके से होना है और कितना औद्योगिक तरीके से। मामला बस इतना होगा कि संसाधन बाहर से नहीं आएंगे। दोनों क्षेत्र भीतर के ही संसाधन बरतेंगे। तो व्यवहार को मानक बनाएं तो कहीं कोई दिक्कत नहीं है। पर नियंत्रण अपना होना चाहिए। अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायत्तता रहेगी न स्वावलम्बन।

५. आम आदमी की ताकत पहचानने से ही बनेगा स्वदेशी मॉडेल

गांधीजी खुद स्वदेशी का एक कच्चा सा मॉडल बना पाये थे। पश्चिमी रंग में रंगे नेहरू के लिए तो इस कच्चे मॉडल को आगे बढ़ाने का सवाल नहीं था। इसलिए कांग्रेस में नेहरू के शक्तिशाली होते ही गांधीजी का यह कच्चा मॉडल भी धराशायी हो गया।

देश न स्वदेशी मॉडल पर दृढ रह सका और न विदेशी मॉडल अपना सका। और उसके हाथ में भीख का कटोरा ही है। इसके पीछे क्या कोई और कारण हैं? आजादी के बाद जवाहलाल नेहरू और उन जैसे लोगों ने देश की आम जनता को फिर से उसी आत्महीनता की ओर ठेल दिया, जिस ओर विदेशी शासन उन्हें पहले ही ठेल चुका था। लोगों को बार बार इस बात का अहसास कराया गया कि आप तो २०० साल पिछड़े हो। दरिद्र हो। कमजोर हो। बेकार हो। जो अच्छा है, और अच्छा हुआ है, वह तो पश्चिम में है। विदेशी शासन के दौरान देश को बचाए रखने के लिए अपने लोगों की तारीफ करने का तो सवाल ही नहीं रहा। नेहरू और उन जैसे लोग कभी इस बात के शुक्रगुजार नहीं रहे कि इन्हीं भूखे और दरिद्र लोगों ने अपनी हड्डियों को निचोड़ निचोड़ कर इस देश को बचाया है। इन्हीं की कुर्बानी के कारण गुलामी की जंजीरों के बीच भी यह देश बचा रहा है।

इतना ही नहीं, आजादी की लड़ाई में उमड़े जनसमुदाय को भी यह कह दिया गया कि जाइए, आपका काम पूरा हुआ। जाकर अपनी खेती-किसानी करिए। देश हमारे ऊपर छोड़ दीजिए। देश हम संभाल लेंगे। इस बात की कोई भावना नहीं रही कि आप सबने मिल कर बड़ा काम किया। कुछ विकृतियाँ आई हैं। आइए, उन्हें हम और आप मिल कर दूर कर लें। लोगों को एहसास कराया गया कि न्याय तो दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई, लखनऊ, पटना, भोपाल से ही हो सकता है। देश सेंट स्टीफेंस में पढ़े लोग ही चला सकते हैं। आम हिन्दुस्तानी में वह माद्दा कहाँ। वह तो ड्राइंग रूम में ठीक से फर्नीचर रखना भी नहीं जानता। देश बनाने में उसकी चली तो वह तो देश को बरबाद करके ही रख देगा। १९२० तक तो इस देश के आम आदमी को हीन कहा ही जा रहा था। नेहरू ने लोगों में वह हीनता फिर से भर दी। उनका यह सबसे बड़ा

योगदान है कि उन्होंने लोगों के मन में यह बिठा दिया कि तुम दरिद्र हो। बेकार हो। नतीजा? गाँव में पंचायत भी बनेगी तो उसे वह सुपरवाइजर चाहिए जो सब कुछ सरकारी जुबान में बदल कर रख दे।

जब तक हम इस खोए हुए आत्मविश्वास को फिर से वापस नहीं लाते तब तक न देश स्वदेशी चल सकता है और न विदेशी। चीजों को देखने का पूरा नजरिया ही बदल गया है। आज बहुत से लोग यह कहने में संकोच नहीं करते कि हिन्दुस्तानी तो फेंकी हुई पालीथीन की थैली से भी नई थैली बना लेता है। यह कहने वालों की भी कमी नहीं है कि इसमें लगे लोग अच्छी तरह कमाई भी कर लेते हैं। पर वे यह नहीं देखते कि यह तो कंगाली का ही आलम है। ऐसा काम कोई प्रेम से नहीं किया जा रहा है। ये भंगार (कूड़ा-करकट) बीनने-बटोरने वाले कैसी जिंदगी जी रहे हैं, यह भी आंखों से ओझल कर दिया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि इससे जो चीज साबित होती है, वह यह है कि हमारो लोगों में जीवट अदम्य है। आम लोगों को हिकारत से देखने का नजरिया कलेक्टरों, ऊँचे वर्गों और राजनीतिकों में ही नहीं है, सेवाग्राम और पवनार जैसी ऊंची जगहों में भी आए नवयुवकों को यही सिखाया जाता है कि गांव वालों से ज्यादा सम्पर्क न करो। ये अच्छे लोग नहीं हैं। जरूरी नहीं कि यह मानसिकता अंग्रेजों की ही दी हुई हो। यह मानसिकता हमारी वर्णव्यवस्था और मनुवाद से भी निकली हुई हो सकती है। पर जब तक यह मानसिकता बरकरार है, तब तक देश का आम आदमी खड़ा नहीं हो सकता। और जब तक वह नहीं खड़ा होता, तब तक न तो स्वदेशी चल सकता है न विदेशी।

अपने को हीन देखने और अपनेपन को छोड़ने की यह बुराई क्रमशः विकसित हुई है। दरअसल यह ५००-६०० साल पुरानी ही है। कमजोरी पहले भी रही होगी। पर जब तक अपने तरीके से काम चलता रहा, आक्रमणकारी आते रहे और इसी व्यवस्था में जातियों आदि के खाने में खपते रहे, मूल्यों पर कोई बड़ा आक्रमण नहीं हुआ, तब तक शिथिलता सामने नहीं आई। मुसलमानों का प्रभावी राज्य तो १७०० के आसपास ही खत्म हो गया। इसके बाद तो राजे रजवाड़े जगह जगह खड़े हो गए। देश को पुनर्जीवित करने की कोशिशें भी हुईं। इस प्रकार की कोशिशें विजयनगर साम्राज्य ने कीं। मराठों ने भी कीं। चैतन्य जैसे लोगों ने कीं। पर समय नहीं मिला। १७४८ में तो यूरोप का बड़ा हमला ही देश पर हो गया। इस बीच १०० साल भी मिल गया होता तो भारत पश्चिम को उसी तरह समझ लेता जैसे जापान ने समझा। लोग बिलकुल ही सो नहीं रहे थे। १७५४-५५ में बंगाल के नवाब अलीवर्दी खां कहते हैं कि ये यूरोपियन कहते तो यह हैं

कि वे आपस में लड़ रहे हैं। पर कब्जा हमारी जमीन पर करते जा रहे हैं। और अंग्रेज तो इनमें सबसे खतरनाक हैं। तो हमारे लोगों में समझनेवालों की कमी नहीं थी पर उन्हें कुछ करने का वक्त नहीं मिल पाया।

अंग्रेजों ने राज्य मुसलमानों से नहीं छीना। राज उन्होंने इन हिन्दू राजे-रजवाड़ों से ही छीना। पर उन्हें मुसलमानों से राज छीना दिखा कर अपने शासन के लिए वैधता कायम करनी थी। राजनीति में मुसलमान कोण घुसाना था। इसलिए बार बार दिल्ली से राज लेने की बात कही गई। १७५६ के पहले फारसी बंगाल की भाषा नहीं थी। कर वसूली में फारसी लिपि अंग्रेज लाए। मुस्लिम प्रतीकों को दक्षिण में मुसलमान भी नहीं ले जा सके थे। अंग्रेजों ने इन प्रतीकों को दक्षिण में भी कायम कर दिया। सर थामस रो जहांगीर के दरबार में आता है। और जहांगीर उससे कहता है कि सूरत वगैरह से पश्चिम में व्यापार के लिए जाने वाले हमारे जहाजों की आप रक्षा कीजिए। तो दिल्ली की बादशाहत तो उसी दिन खत्म हो गई। ऐसा इसलिए किया गया कि जहांगीर का भारत से लगाव नहीं था। तुम भी विदेशी और हम भी विदेशी। अकेले जहांगीर ही नहीं, ऐसे लोग और भी रहे हो सकते हैं। हमें समय मिलता तो हम भी सुधर जाते। १८५५ में जापान को समर्पण करने का अमेरिकी अल्टीमेटम मिलता है। समर्पण करना पड़ता है। १०-१५ साल वहां भी समाज में तूफान चलता है पर जापान पश्चिम के तरीके से सैन्यीकरण के रास्ते पर चलने का फैसला करता है। अपने लोगों को सीखने के लिए बाहर भेजता है। थोड़े समय के लिए प्रशिक्षण देने को बाहर के लोग बुलाए जाते हैं। और आज कई मामलों में वह अमरीका से आगे है। जापान की जीत पर गांधीजी बहुत खुश होते हैं। हिंसा अहिंसा का सवाल नहीं उठाते। उसांस भरकर यही कहते हैं कि पर हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं हो सकता।

अंग्रेजों ने हमारी मानसिकता को पश्चिमीकरण की ओर सायास मोड़ा। मानसिकता बदलने का काम उन्होंने १००-१५० साल में किया। इसके लिए आधार भी हमारी पोथियों में ही जुटाए गए। हर पुराने समाज में हर तरह के विचार पड़े रहते हैं। जो हित के होते हैं, वे उभर कर रहते हैं। बाकी कोने में पड़े रहते हैं। उन कोने में पड़े विचारों की पोथियां भी बनी हो सकती हैं। विदेशी शासन अपनी वैधता ढूंढ़ने के सिलसिले में उस समाज के भीतर से ही अपने हित के मूल्य इस तरह से ढूंढ़ता है कि वे विदेशी और थोपे हुए न लगें। इस कोशिश में उन्होंने मनु को हमारे समाज के मानक के तौर पर उठा कर सामने रख दिया। १७५० के पहले मनुस्मृति हमारे लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। १७८४ में मनुस्मृति का पहली बार अंग्रेजी अनुवाद हुआ। १०-१२ और

भी ग्रंथ छापे गए। १८१२ में सवाल उठा कि इस काम को आगे जारी रखना है क्या? तो लन्दन से हुक्म आया कि इसे ज्यादा करने की जरूरत नहीं है पर मनुस्मृति को रीप्रिंट किया जा सकता है। भारतीय समाज की परिभाषा के लिए मनुस्मृति उनके माकूल बैठती थी। जबकि अपना ढांचा दूसरा था। भारतीय समाज की वर्णव्यवस्था मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था नहीं थी। पर अंग्रेजों ने १८ वीं सदी के अपने समाज की अवधारणाओं को हमारे समाज पर लाद दिया। हमारे गांवों में आमदनी की विषमता एक और तीन के अनुपात से अधिक नहीं थी। अंग्रेजों ने जो समाज बनाया उसमें १८४०-५० के बाद कारीगरों आदि के रहने की गुंजाइश गांवों में बची ही नहीं। उनके अधिकारों में कटौती कर दी गई। आमदनी में एक और दस का फर्क हो गया। जमीनें छीन ली गईं। लोगों को दास बनाने की कोशिश हुई तो वे गांवों से भागे। अब हमारे सर्वोदयी रोते हैं कि गांवों से तेल की घानी गायब हो गई। जुलाहे गायब हो गए। चमड़े का काम करने वाले गायब हो गए। तो १०० साल से जब हमारी मानसिकता लोगों को गुलाम बनाने वाली हो गई और उसमें मनुस्मृति भिड़ा दी गई तो कारीगर गायब क्यों नहीं होंगे? स्वदेशी मॉडल तो तभी बन सकता है जब आर्थिक और सामाजिक बराबरी बने। इसके बगैर इस बात की कल्पना करना बेमानी है।

६. पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी

स्वदेशी और पश्चिम की पूरी अवधारणा को समझने के लिए १८ वीं सदी के अंग्रेजी समाज को समझना जरूरी है ! पश्चिम का विकास का मॉडल केन्द्रीकृत रहा है। अधिकार और धन के केन्द्रीकरण का। जिनके पास इनका केन्द्रीकरण रहा, उन्हीं के पास ज्ञान और व्यापार का भी केन्द्रीकरण हुआ। उनके सामन्ती समाज के उन्हीं १०-१२ प्रतिशत बड़े लोगों की वहां के व्यापार में भी हिस्सेदारी रही। दुनिया भर से दौलत निचुड़ कर आई तो १७५० के आसपास वहां व्यापारी वर्ग का विस्तार हुआ। पर हुकूमत सामन्तशाही के हाथ में ही रही। १८३० तक तो इंग्लैंड में दसियों चुनाव क्षेत्र ऐसे थे जिनमें मतदाता १०-१२ से ज्यादा नहीं थे। ५००० से ज्यादा मतदाता तो किसी भी क्षेत्र में नहीं थे। चुनाव स्थानीय लार्ड्स की जेब में ही रहते। कुल मिलाकर पूरी राजनीति, समाज और व्यापार उन अभिजात परिवारों के ही हाथ में था, जो ५०० साल से स्थापित थे। अपने यहां ३०-४० साल के सर्वोदय के काम पर हरिवल्लभ पारीख जिस तरह कई चुनाव क्षेत्रों में अपने लोगों को जिताकर लाते थे, इसी तरह से अंग्रेजों के ये सामन्ती परिवार करते थे। तो इसी तरह जब ज्ञान का भी केन्द्रीकरण हो जाता है तो उसमें से लाइब्रेरी बनती होगी, रिफरेंस कार्ड बनता होगा। ज्ञान का और इजाफा होता होगा। एक व्यवस्था बनती है। और उसमें से प्रयोगशालाएं निकलती हैं।

इसी मानस ने मनु को हमारे समाज पर थोपा। पश्चिमीकरण की अवधारणा सिलसिलेवार उतारी गई। शुरू में हजार में एक ने माना होगा। विद्वत्ता और सत्ता से जुड़े समाज ने इसे अंगीकार करना शुरू किया। शुरू में सोचा होगा मानसिकता ले लें, जीवन पद्धति छोड़ दें। पर मानसिकता के साथ जीवनपद्धति तो अपने आप उतरने लगती है। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा आज जीन्स और स्कर्ट पर जीने लगा है। इस प्रक्रिया में तो अभेद्य किले भी टूट जाते हैं। मारवाड़ियों की, जैनियों की, दक्षिण के ब्राह्मणों के वे तबके जिनके बारे में माना जाता था कि वे नहीं टूटेंगे, उनकी भी जीवनपद्धति बदली है।

पर आज भी पश्चिमीकरण को मानने वालों की संख्या हमारे समाज में दो

फीसदी से ज्यादा नहीं है। ऊपरी तबके के कुछ लोगों के अलावा ये सरकारी और गैरसरकारी संगठित क्षेत्र में केन्द्रीकृत व्यवस्था में जी रहे जो तीन करोड़ लोग हैं, जिनकी तनख्वाह दूसरों से तिगुनी है, पश्चिमीकरण का व्यामोह उनमें ही है। उनमें निचले स्तर पर तो देखादेखी का ही मामला है। फिर विदेशों में गए हमारे कुछ व्यावसायिक क्षेत्रों से जुड़े लोग हैं। और उनके यहाँ के नातेरिश्तेदार हैं, जो उनकी उपलब्धियां बखानते जी रहे हैं। हमारे यहां विदेश रिटर्न होना भी उपलब्धि माना जाता है न इसलिए ! गांधीवादी आश्रमों में भी विदेश आते जाते हिन्दुस्तानी को सफल हिन्दुस्तानी कहा जाता है न ! बीच में १९५४ में यह होने लगा था कि विनोबा के बारे में पश्चिम क्या सोचता है? इस विसंगति पर पूछने पर अन्दरखाने बताया जाता था कि पश्चिम में आदर मिल जाता है तो यहां दिल्ली में भी सुनवाई होने लगती है। अपनी बात के समर्थन में किसी पश्चिम के व्यक्ति की बात न आए तो फिर क्या। आजकल तो भाजपा वालों के भी भाषण विदेशियों के दो दर्जन उद्धरणों के बगैर पूरे नहीं होते। लेकिन इन सबमें से कुल मिलाकर पश्चिमीकरण के असली हिमायतियों की संख्या दो फीसदी के भीतर ही है।

पर पश्चिमी मॉडल हमारी व्यवस्था में बैठ गया है। यह व्यवस्था तो ऊपर के स्तर पर अफसरों से बात करने के लिए बनी थी। पर वही चली आ रही है। कांग्रेस ने ही नहीं, समाजवादियों, भाजपा आदि सबने वही मॉडल लिया। वकीलों, डॉक्टरों आदि की भी संस्थाएं उसी मॉडल पर बनीं। ७०-८० साल में जिन लोगों ने मॉडल बनाया वे हिन्दुस्तानी मॉडल को समझ ही नहीं सके। बनाने वाले लोग थे तो वही विद्वान लोग। सेंट स्टीफेंस वाले। पर इनका नाता अपने समाज से टूट गया था। हमारे यहाँ यह जो अति पर न जाने की बात है, चीजों को जो नाशवान देखा जाता है, जो संयम बरतने की बात है, वह तुलसीदास का बरसात की रात में ससुराल पहुंच जाना जो उनकी पत्नी को भी नहीं भाया न, उसे देखते हुए यह परखने की कोशिश ही नहीं हुई कि इस व्यवस्था में भी शक्ति और सत्य का शिखर बनाया जा सकता है? कोशिश होती तो शायद कोई सम्भावना उसके भीतर से भी निकलती। पर बात तो ऐसी बैठी है कि अब सहकारी संस्थाओं का जो साल फसलों से जुड़ा था, ३० जून को पूरा होता था, वह भी अब ३१ मार्च को पूरा होने लगा है। तमिलनाडु सरकार लोगों को पानी पीने के लिए जो मटके बांटती है, वे भी प्लास्टिक के ही होते हैं। देहातों तक में आज ९० फीसदी माल हिन्दुस्तानी नहीं रहा है।

यह स्वदेशी वाले अब रोते हैं कि गाँव उजड़ गए। दस्तकार उजड गए। ३०-४०

साल पहले कोई बहुत बड़ी गलती हो गई। लेकिन सबसे बड़ी गलती वह हुई कि गांधीजी को उनके ही लोगों ने जकड़ लिया। गांधी को बहते व्यक्ति के बदले एक बन्द व्यक्ति में तब्दील कर दिया गया। गांधी समय के हिसाब से चीजों को ढालते हैं, यह भुला दिया गया।

लड़ाई के दौरान कांग्रेस का ढाँचा ब्रिटिश साम्राज्य के ढांचे पर बना। जिससे लड़ना था, उससे लड़ने के लिए समानता ढूंढ़ी गई। पश्चिमी तरीके के लोग उसमें रखे गए। माना गया होगा कि समय इन्हें बदल देगा। जो गांधी खादी को आन्दोलन का प्रतीक बनाते हैं, वे ही १९४४ में खादी के सम्मेलन में कहते हैं कि मैं तो कृषि को प्रतीक चाहता था पर दिक्कत देखते हुए खादी को प्रतीक बनाया। खादी जो बनाए, वही पहनें। बाकी न पहनें। फिर कहते हैं कि गांव में एक ऐसा आदमी होना चाहिए जिसके पूछे बगैर बाहरी व्यक्ति वहां हस्तक्षेप न कर सके। फिर नई तालीम में १९४६ में वे हिन्दुस्तान की व्यवस्था के लिए ओसियानिक सर्कल्स (Oceanic Circels) की बात करते हैं जिसमें सबसे महत्वपूर्ण समूह इलाका होगा। फिर १९४७ में वे कांग्रेस को खत्म करने की बात करते हैं। इसलिए नहीं कि उसमें बहुत दोष आ गया था। दोष तो १९२४ की बेलगांव कांग्रेस के जमाने में भी था। कांग्रेस को खत्म करने की बात इसलिए करते हैं कि जिस काम के लिए उसका ढांचा बना था, वह काम पूरा हुआ। अब आजादी के बाद के काम के लिए दूसरे ढाँचे की जरूरत है। उनके करीबी लोगों ने लोक सेवक संघ आदि बनाकर यह काम करने की कोशिश भी की। गांधी १९४६ में जब नोआखली जाते हैं तो निर्मल बोस उनके साथ रहते हैं। तब गांधीजी का रोज का कहा या तो रिकार्ड किया जाता है या फिर गांधी जी उसे खुद लिखते हैं। उस समय के कहे को देखें तो जैसा दुखी उस समय उन्हें हम लोग मानते हैं, वैसे दुखी वे दिखते नहीं। हिन्दू-मुसलमान की कोई बात नहीं। वे तो इस बात की चर्चा में लगे हैं कि आने वाले भारत को किस तरह का बनाया जाना चाहिए। फिर ४७ में विदेशियों से मिलते हैं। वहां भी यही पुनर्रचना की बात। वे जो पाकिस्तान जाने की बात करते हैं वह भी वही पुनर्रचना की ही बात है। कोई मरे हुए लोगों को जिन्दा करने नहीं जा रहे हैं वे। जरूरी नहीं कि उससे कुछ निकलता। पर क्रिया थी। लेकिन उनकी उन्हीं हिन्दू-मुसलमान की बातों को उभार दिया गया और उनकी पुनर्रचना की बात पीछे छोड़ दी गई। इन सबको समझने की कोशिश होती तो गांधीवादियों की समझ में भी यह आ सकता था कि पिछले २०-२५ सालों में गांधी ने एक कच्चा मॉडल ही बनाया था। और इसके कच्चेपन को वे बखूबी जानते थे। पर गांधी को तो 'सीज' कर दिया गया। यह भी भुला दिया गया कि

हिंदुस्तानी समाज जमा हुआ समाज नहीं है। उसकी गति अलग किस्म की है पर गति है। लेकिन चूंकि गति की परिभाषा बदल गई, आधुनिकीरण ही उसका पैमाना हो गया, इसलिए अपने समाज के ऐडवेंचर्स, उसके खूंटे, उसका बहाव नहीं दिखाई पड़ा। तो इसमें तो फिर दरिद्रता ही दिखाई देती है।

गांधीजी खुद जानते थे कि जो ढांचा लड़ाई के दौरान वे बना रहे हैं वह कच्चा है। और इसे बदलना है। लोगों ने जब कहा कि अंत्यज शब्द खराब है, इसे बदल देना चाहिए। तो गांधीजी ने कहा कि पहले तो ठीक ही रहा होगा। फिर लोगों के सुझाव पर हरिजन शब्द लाते हैं। इसलिए नहीं कि यह शब्द हजारों साल चलने वाला है। इस शब्द से उन्हें कोई विशेष लगाव नहीं है। वे तो समय के हिसाब से व्यवस्थाएं बना रहे हैं। और हरिजन शब्द समय के मुताबिक सही लगता है, तो मान लेते हैं।

७. भारतीय मॉडल संपत्ति जोड़ने का नहीं बंटवारे का है

विकास के स्वदेशी और पश्चिमी मॉडल के बीच का असली फर्क क्या है ? यह फर्क केन्द्रीकृत और विकेन्द्रीकृत मॉडल का है। फर्क सम्पन्नता का नहीं है। केदारनाथ मन्दिर की संपत्ति के कागजात लन्दन में पड़े हैं। नेपाल के राजा ने कुछ जमीन मन्दिर के नाम की थी। मन्दिर का मुख्य खर्च यात्रियों को खाना खिलाना था। सम्पत्ति पत्र में इस बात का भी निर्देश है कि हर यात्री को खाने का खर्च कितना देना है। वहाँ आय जोड़ने का प्रावधान नहीं है। कुछ बच जाए तो फिर उसे १२ साल में जो कुम्भ होगा, उसमें खर्च ही कर देना है।

सम्राट हर्ष वर्धन का मामला भी सामने ही है। हर साल की आय वे खर्च कर देते हैं। और स्थिति यह रहती है कि यमुना में नहाकर बाहर निकलने पर बहन राजश्री की ओंर से भेंट में दिया वस्त्र ही उनकी कुल पूंजी होता है। भारतीय मॉडल इन सबसे निकलता है, या ये सब उस मॉडल के प्रतीक हैं। भारतीय मॉडल सम्पत्ति जोड़ने का नहीं है, उसके बंटवारे का है।

मुगल बादशाहों के खर्चे के हिसाब देखने के लिए पड़े हैं। बादशाह का खर्च उसके निजी खर्च, कुछ बनवा रहे हों तो उसके खर्च और लोगों को खाना खिलाने के खर्च तक का ही था। औरंगजेब ने राज्य के आय-व्यय के हिसाब में लिखा है कि अकबर कुछ धन छोड़ गए थे। जहांगीर आए तो आय ६० लाख रूपये हुई। खर्च डेढ़ करोड़ रूपये का रहा। अकबर के बचाए धन में से खर्च होता रहा। शाहजहां ने खर्च थोड़ा घटाया और आय डेढ़ करोड़ पर पहुंची। अब पहली नजर में लगता है कि औरंगजेब यह क्या लिख रहे हैं ? बादशाहत की आय तो १०-१२ करोड़ रूपए की थी। पर गौर से देखें तो औरंगजेब हकीकत बखान रहे हैं। बादशाहत की आय में से नीचे के स्तरों पर क्रमिक तौर पर खर्च चलता था। ऊपर बादशाह के पास ६ से १५ फीसदी के बीच ही कोई रकम पहुंचती थी। औरंगजेब ने इसे १५ फीसदी पर पहुंचाया होगा। उनके अलोकप्रिय होने का एक बड़ा कारण यह भी है। यह ऊपर से नीचे पहुँचाना भारतीय अवधारणा नहीं है। यह ऊपर से नीचे पहुंचाना पश्चिमी मॉडल है। अब राजाओं के पास

कुछ सुरक्षा तामझाम को छोड़ दें तो कोई स्थायी सेना नहीं होती थी। जो राजा जितना लोकप्रिय हुआ, जरूरत पड़ने पर आम जनता के बीच से लड़ने के लिए उतने लोग खड़े हो जाते थे। वही सेना बन जाती थी। स्थायी सेना तो यूरोप में भी १७०० के आसपास ही खड़ी होती है।

भारतीय समाज की मूल इकाई 'कुल' हैं। कुल रक्त सम्बन्धों या फिर कर्मकांड के प्रतीकों से जुड़े थे। दूसरी मूल इकाई इलाका रही होगी। १८९१ की जनगणना में अंग्रेज बड़े पैमाने पर जातिगत वर्गीकरण करते हैं। प्रारम्भ में ५०,००० जातियों की गिनती है। जाटों में ११,००० जातियों की और राजपूतों में ८५०० की। लगता है कुलों की गणना जाति के बतौर की गई है। शुरु में दो लाख के आसपास कुल रहे होंगे जो बाद में ५-७ लाख तक पहुंचे होंगे। पर यह कुल सात पीढ़ी तक ही स्थिर रहता है। श्राद्ध में तो तीन पीढ़ियों तक ही नाम स्मरण चलता है। फिर बाकी के लिए अनाम श्रद्धांजलि दे दी जाती है। अब रघु के कुल की बात चलती है। लेकिन वह बड़ी इकाई है। आपसी पहचान के लिए बीच में से किसी दादा-परदादा का नाम निकलेगा। तो इस इलाके और कुल के योग से स्थानीय राजनीतिक इकाई बनती होगी। वही बढ़ कर राज्य बनता होगा। राज्य भारत बनता होगा। और उसमें से चक्रवर्ती निकलता रहा होगा।। अगर रघु दिग्विजय के लिए निकलते हैं तो कोई विशेष लड़ाई नहीं हुई होगी। जैसे तूफान के आगे पौधे झुक जाते हैं, फिर खड़े हो जाते हैं, वैसे ही होता होगा। दिग्विजयी कोई अपने गवर्नर-कलेक्टर तय नहीं करता। केवल आधिपत्य जम जाने और साल में कुछ भेंट वगैरह आने की बात थी। इस भारतीय मॉडल में किसी को मिटाने की बात नहीं है। उसे चूस कर कोष भरने की भी बात नहीं है। कुल और इलाका जुड़े हैं। एक गांव में एक ही कुल के लोग हो सकते हैं। और कई कुलों के लोग भी। बसावट अक्सर स्वपूरक समूह के रूप में होती थी। कभी कभी किसी इलाके में जो प्रभावी कुल रहा, दूसरे भी उसी कुल के कहलाने लगे। अब जाटों की जहाँ मजबूत खापें हैं वहाँ गैर जाट भी उसी खाप के मान लिए जाते हैं। १८९१ की जनगणना में अग्रवाल नाम बीसों जातियों में मिलता है।

जातियां बंधी नहीं थीं। बढ़ई का लड़का २० पीढ़ी बढ़ई ही नहीं रहता होगा। ब्राह्मण के लिए भी तो मुख्य काम न कर सके तो २० और काम गिनाए गए हैं। ऐसे ही काम दूसरी जातियों के लिए भी बताए गए हैं। अंतरजातीय बहाव कम नहीं रहा होगा। गांधीजी ही जब हरिजन शब्द निकालने लगे तो हरिजनों में से बहुतों ने कहा कि हम जब बाहर जाते हैं और टीका वगैरह लगाते हैं तो हमें कोई दिक्कत नहीं होती। गांधीजी ने कहा

कि यह भी एक रास्ता है। यह नहीं कहा कि यह तो धोखा देना हुआ। यह जो चांडाल के अपने को चांडाल कहते चलने के किस्से हैं, वे सही नहीं होंगे। ऐसा कहने की जरूरत नहीं थी। इलाके में हर आदमी जानता है कि कौन क्या है। कोई ५०० मील दूर जाकर बसे तो अपने पिछले को बताना उसके लिए जरूरी नहीं है।

तो जो नया राजनीतिक-सामाजिक उभार आया है, लोगों में आत्मविश्वास झलका है, वह... या यह मन्दिरों के इर्द-गिर्द युवा लोगों की त्योहारों पर जो भीड़ बढ़ रही है वह... क्या यह वर्ग देश को अपनेपन की ओर ले जाएगा? मुझे लगता है कि अपनेपन की ओर वापसी का कोई रास्ता बन रहा है। इस समूह की दिशा को जांचा जाना चाहिए। इस युवा वर्ग को यदि लगता है कि हमारे बाप-दादा जो कर रहे थे, यह आज के लिए ठीक नहीं है और इसे यह जो कुछ नया हो रहा है, वह करना चाहिए, तो वह उसी ओर आगे बढ़ेगा। उदाहरण के लिए यह मद्रास का पीपीएसटी समूह देखें। एक अमेरिकन महिला उन्हें देखने के बाद लिखती है कि लेकिन ये लोग क्या कर सकते हैं, ये तो ब्राह्मण हैं। इनकी सुनेगा कौन? जिस बात को वह महिला समझी, उसे हम लोग नहीं समझे। तो हम जैसे द्विज मानसिकता के कुछ लोगों की प्राथमिकता स्वदेशी हो सकती है। पर यदि नए उभरते हुए लोग अमेरिकी तर्ज पर चलना चाहें तो उनकी बात चलनी चाहिए। और यह जो बढ़ती धार्मिकता की बात है तो यूरोप में भी विज्ञान के साथ जन्मकुंडली चल रही है। ये युवा ऐडवेंचर के तौर पर मन्दिरों में जाते हों तो उससे स्वदेशी ही नहीं, दूसरी चीजें भी निकल सकती हैं। नवरात्रि जागरण और फैक्स मशीन बनाने के गणित में वे शायद मेल बिठा ले रहे होंगे। अभी यह दोनों तरह का दिमाग चल सकता है। पर समस्या अन्त में १००-५० साल बाद आ सकती है। यह आत्मविश्वास पश्चिमीकरण की गति को तेज भी कर सकता है। अब ये पंजाब के कारीगर जो छोटी मशीनें जोड़ लेते हैं, वे सिखाने पर हवाई जहाज भी जोड़ सकते हैं। उनकी ओर से नई खोजें भी सामने आ सकती हैं।

यह फैसले का वक्त है। मॉडल पर जनमत संग्रह हो जाना चाहिए। अगर ज्यादातर लोगों को लगता है कि प्लास्टिक युग में ही जाने में भलाई है, पिछले पर लौटने में फजीहत है, बाहरी ताकतें पिछले पर साबूत नहीं लौटने देंगी तो दूसरों को समाज को इस दिशा में जाने में रोड़ा नहीं बनना चाहिए। ताकि यह काम १०-२० साल में ही पूरा हो जाय। बल्कि कोशिश इस दिशा में जाने की गति बढ़ाने की होनी चाहिये। वैसे भी समाज उस दिशा में चलना चाहेगा तो न उसे सर्वोदयी रोक पाएंगे और न समाजवादी। और न संघी। समाज आगे बढ़कर उसमें से भी रास्ता निकाल लेगा। अब

पश्चिम में भी कोई मॉडल बनाकर विकास थोड़े ही हुआ था। शुरूआत तो मूल से हुई। भौतिकी आदि के वैज्ञानिक तो उसमें से बाद में निकले। ढांचा टूटा। जाम तो वह बाद में हुआ। और यही हमें मिला। ढांचा टूटता है तो बड़ी मार-काट होती है। हमारे लोग पीपीएसटी जैसे समूह को उठाकर फेंक देंगे। जाम मॉडल भी तोड़ देंगे। इन सबके बीच में यह गाब-दाब भी चलता रहेगा।

आज कांशीराम और मायावती गांधीजी के खिलाफ बोलते हैं, फिर उनके विरोध में हम लोग बोलने लगते हैं। हमारा यह विरोध इसलिए है कि कांशीराम और मायावती हम लोगों से ऊंची बात कर रहे हैं। वे पूरे भारतीय समाज को गाली दें तो हम लोगों को और भी अच्छा लगेगा। यूरोप के लोग जब हमें गाली देते हैं तो वह हम लोगों को आखिर अच्छा ही लगता है न। यह वक्त इस हीनता से निजात पाने का है। फैसले का वक्त है।

८. विकास का सवाल

१.

तिरूपति में हाल ही में सम्पन्न भारतीय विज्ञान काँग्रेस में अनेक विशिष्ट वैज्ञानिकों ने भारत सरकार के, प्रौद्योगिकी नीति सम्बन्धी ताजे वक्तव्य पर बहुत बेचैनी प्रदर्शित की। उनमें से एक के अनुसार 'हमारे यहाँ पुराने विज्ञान की ही पढ़ाई की जाती है (स्नातक उपाधिधारियों के लिये), कई मामलों में ४० बरस पुराने प्रयोग ही पढ़ाये जाते रहते हैं।' एक अन्य वैज्ञानिक का कहना था कि पिछले ३३ बरस में उसने वैज्ञानिक नीति पर अनेक वक्तव्य पढ़े-देखे हैं, किन्तु उनमें से एक पर भी अमल होते नहीं देखा। उनका कहना था कि 'मेरी रुचि और मेरा लगाव अपने देश के लोगों के लिये विज्ञान की प्रगति में है। पर यहाँ फाईलें (आधिकारिक) और माध्यम हमें वहाँ ले जाते हैं जहाँ और अधिक फाईलों के सिवाय कुछ नहीं। 'एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार 'आधिकारिक पदों पर बैठे ज्यादातर लोगों का किसी भी ताजे शोध के प्रति रवैया यह होता है कि 'क्या और कहीं ऐसा हुआ है ?' नई सूझों, नये विचारों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। यदि पश्चिम में वैसा हुआ है तो वे उसका समर्थन करेंगे। अन्यथा नहीं। भारतीय विज्ञान समाचार एसोसिएशन के अध्यक्ष ने कहा कि नई नीति 'इच्छाजनित विश्वास' का वक्तव्य मात्र है। (देखें 'इंडियन एक्सप्रेस', मद्रास के १० जनवरी, १९८३ के अंक में छपी रिपोर्ट)

डॉ नायदम्मा (जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय के पूर्व उप कुलपति) के अनुसार 'पश्चिमी ढांचे पर आधारित मौजूदा शिक्षा पद्धति ने न तो सही किस्म की मानवीय शक्ति उत्पन्न की, और न ही जनता की शिक्षा के स्तर को उन्नत बनाया। पारम्परिक तकनीकी और स्थानीय मेधा की अवहेलना से अपने लोगों का आत्मविश्वास घटा है और स्थानीय प्रौद्योगिकी द्वारा बुनियादी स्तर पर समस्याओं के समाधान की क्षमता पर भी असर पड़ा है' (देखें 'हिन्दू', मद्रास १० जनवरी, १९८३)

इसी अवधि में अन्यत्र सम्पन्न एक सभा में एक विशिष्ट और राजनैतिक तथा

प्रशासनिक सत्ता के बहुत करीब रहे व्यक्ति ने यह अभिमत व्यक्त किया कि मौजूदा न्यायिक पद्धति 'नागरिकों के हित संरक्षण की दृष्टि से बहुत संवेदनाहीन, बेहद धीमी, और बेहद खर्चीली है'। बेंगलूर में राजाजी जयन्ती पर व्याख्यान देते हुए जम्मू काश्मीर के राज्यपाल बी.के. नेहरू ने इसी सिलसिले में आगे कहा कि भारतीय संविधान को अपूर्ण कहने का कोई उपयोग नहीं है। उन्होंने सुझाव दिया कि हमें अब ऐसी संस्थायें बनानी होंगी, जो अपने समाज में अन्तर्निहित प्रवृत्तियों के अनुरूप हों। साधारण नेतृत्व इन्हें नहीं समझ सकता। जिस बड़े नये परिवर्तन का उन्होंने सुझाव दिया, वह था 'परोक्ष निर्वाचन की पद्धति के साथ साथ विधायिकाओं के चुनावों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था। सीधे चुनाव सिर्फ पंचायतों या नोटीफाईड एरिया कमेटियों या नगर पालिकाओं अथवा नगर निगमों के लिये हों। इससे अगली कड़ी इस पद्धति में होगी जिला परिषदें जो कि विधानमंडलों को चुनेंगी। राज्य विधान मंडल द्वारा केन्द्रीय विधायिका की लोकसभा का निर्वाचन किया जायेगा।' (देखें 'हिन्दू', मद्रास, जनवरी, १९८३)

कुछ ही समय पहले भारत एशियाड १९८२ की मेजबानी कर चुका है। यह सच है कि उसकी तैयारी तीन-चार साल चली और इस सन्दर्भ में अस्सी करोड़ से बारह सौ करोड़ रूपयों तक खर्च होने की कथाएँ कही गई हैं। यह रकम दिल्ली महानगर को एशियाड ८२ के लिए तैयार करने में खर्च हुई। उसके बाद, जैसा कि स्पष्ट हुआ, इस तैयारी का भारतीय खेल क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा दिखता। खेलों में उँचा स्थान भारत को नहीं पूर्वी एशिया के चीनी गणतंत्र और दोनों कोरिया जैसे देशों को मिला। जापान का अग्रणी रहना तो अप्रत्याशित नहीं था। खेलों में तो भारत बेहतर भूमिका नहीं निभा पाया पर तो भी हिसाब लगाने में दक्ष लोग हिसाब लगाकर बता रहे हैं कि एशियाड की मेजबानी से हमें क्या क्या लाभ हुए। सामान्यतः यह दावा किया गया है कि इस एशियाड की तैयारी में हमने अपनी उस तकनीकी दक्षता का अनुभव बढ़ाया जो कि विकसित देश ही रखते हैं। यातायात नियंत्रण को अबाध बनाये रखने और एशियाई खेलों के दौरान कानून और व्यवस्था के विधाताओं द्वारा साधारण भारतीय पदयात्री के साथ सहानुभूति व्यक्त करने में भी हम विकसित देशों द्वारा ऐसे अवसरों पर किये जाने वाले व्यवहार से पीछे नहीं रहे। अंतरराष्ट्रीय व्यापार में तथा विश्व मामलों की हमारी सरकारी समझ में प्रगति के भी लाभ गिनाये जाते हैं। इन खेलों का, विशेषतः जिमनास्टिक और कसरती संस्कृति वाले खेलों का, भारत के सामान्य बच्चों की खेल-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ा यह जानकारी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

एशियाड ८२ की मेजबानी जैसी अनेक घटनाएं विभिन्न क्षेत्रों में भारत की

उपलब्धियों के तौर पर गिनाई जा सकती हैं। और इनमें से अधिकतर, मार्च १९५० में प्रथम योजना आयोग के गठन के जरिए प्रारम्भ हुई योजना एवं विकास की प्रक्रिया का परिणाम बताई जा सकती हैं। बहरहाल पिछले दो दशकों से भारत में इस नियोजित विकास के प्रति विक्षोभ जगा है। हाल ही में यह विक्षोभ तीव्रतर हुआ है। यह विक्षोभ सिर्फ हमारी आवश्यकता को देखते हुए अत्यधिक पर्याप्त विकास के कारण ही नहीं है बल्कि इससे भी ज्यादा इस बात को लेकर है कि क्या सिर्फ इन्हीं परिणामों के लिए भारत में १९२०, १९३० तथा १९४० के दशकों में स्वाधीनता आन्दोलन छेड़ा था।

इसी सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में नवम्बर १९४८ में इस प्रश्न पर गरम झड़प हो गई थी कि संविधान में भारतीय गाँवों का स्थान क्या हो ? संविधान का मसविदा वकीलों की एक समिति ने तैयार किया था। इनमें से सिर्फ एक ने ही समिति के वास्तविक विचार विमर्श में जमकर भाग लिया। इस मसविदे से संविधान सभा के बहुत कम सदस्यों को सन्तोष हुआ। सदस्यों का सामान्य अभिमत यह था कि यह मसविदा भारतीय चिन्तन एवं विचार का विरोधी है। सदस्यों ने आश्चर्य से पूछा कि यह किसके कल्याण के लिये है ? श्री टी. प्रकाशम् ने पूछा, 'यह मुट्ठीभर लोगों के हितसाधन के लिये है या इसमें उन करोड़ों लोगों के भी हित का कहीं विचार है, जो राजस्व और कर देते हैं ?' कुछ अन्य लोगों का मत था - 'गांधीजी का और काँग्रेस का दृष्टिकोण यह रहा है कि भारत का भावी संविधान पिरामिड जैसी संरचना वाला होगा और ग्राम पंचायत उसकी बुनियाद होगी।' इस स्तर पर संविधान सभा के सदस्यों और मसविदा समिति के बीच मध्यस्थता-सी कर रहे श्री के. संतानम् तक का यह मत था कि ग्राम पंचायतों के अस्तित्व को संविधान में मान्यता देनी होगी, क्योंकि 'आगे चलकर हर गाँव की स्थानीय स्वायत्तता से ही इस देश की भावी स्वाधीनता का आधारभूत ढाँचा निर्मित होगा।' बहरहाल, अनेक कारणवश यह संविधान बदला नहीं गया। जिनमें से एक कारण यह कहा जाता है कि बुनियादी मसौदे को बदलने की दृष्टि से बहुत विलम्ब हो चुका था। लेकिन शायद बड़ा कारण यह था कि इस परिवर्तन के प्रति डॉ. भीमराव आम्बेडकर जैसे लोग और सम्भवतः पंडित नेहरू तथा सरदार पटेल भी (दोनों ही इस पूरी बहस में मौन रहे थे) अनुत्साही, अनादर युक्त तथा आक्रामक दिख रहे थे। किया सिर्फ इतना गया कि संविधान सभा के विक्षुब्ध सदस्यों को शान्त करने हेतु संविधान में एक अतिरिक्त अनुच्छेद जोड़ा गया (वर्तमान में अनुच्छेद ४०)। इसमें राज्य से कहा गया था कि 'ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए कदम उठाये जाए और वे स्वायत्त-शासन की इकाईयों के रूप में काम करने में सक्षम रहें, इस दृष्टि से उन्हें आवश्यक

अधिकार और सत्ता सौंपी जाय।'

नियोजित विकास की उपलब्धियों के मूल्यांकन के लिए या विक्षोभ की पद्धति को समझने के लिए भी, शायद यह जरूरी है कि भारत के हाल के अतीत में कुछ झांका जाय। सन् १९२९ तक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की घोषित प्रेरणा थी, तत्कालीन ब्रिटिश राजनैतिक पद्धति के अन्तर्गत ही किसी तरह की समानता की उपलब्धि। किन्तु दिसम्बर १९२९ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश राज्य से पूर्ण स्वतन्त्रता की उपलब्धि का लक्ष्य निश्चित किया और महात्मा गांधी द्वारा तैयार स्वातन्त्र्य प्रतिज्ञा में कहा गया, 'हमारा विश्वास है कि हर एक समाज की तरह, भारतीय जन का भी यह अहस्तान्तरकरणीय अधिकार है कि वह स्वाधीन रहे और अपने परिश्रम के फल का आनन्द ले तथा जीवन की जरूरतों से इस प्रकार युक्त रहें कि उनके पास विकास के सम्पूर्ण अवसर हों। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार लोगों को इन अधिकारों से वंचित करती है और उनका उत्पीड़न करती है, तो लोगों को यह अधिकार भी है कि वे उस सरकार को बदल दें या समाप्त कर दें। भारत में ब्रिटिश सरकार ने न केवल भारतीय जनों को स्वाधीनता से वंचित किया, अपितु जन समुदायों के शोषण की भी अपनी बुनियाद बनायी है तथा भारत का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया है। इसीलिए हमारा विश्वास है कि भारत को ब्रिटिश सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए और पूर्ण स्वराज प्राप्त करना चाहिए (गांधी वाङ्मय, अंग्रेजी, खंड ४२ पृष्ठ ४२७)।' यहाँ, स्मरणीय है कि इस समय तक और आगे भी सन् १९३४ तक जब तक कि गांधीजी काँग्रेस की सदस्यता से मुक्त नहीं हो गये; सभी महत्त्वपूर्ण दस्तावेज और प्रस्ताव गांधीजी स्वयं तैयार करते थे।

अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया है और पूर्ण स्वराज पाने पर ही भारतीय जन विकास के पूर्ण अवसर पायेंगे, यह मुद्दा एक हद तक उस भारतीय संविधान द्वारा भी पुनः पुष्ट किया गया जो कि भारत ने जनवरी १९५० से अपने पर लागू किया। उसमें प्रतिज्ञा की गयी थी कि सभी नागरिकों के लिए सुनिश्चित होगा -

न्याय : सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक।

स्वाधीनता : विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और उपासना की।

समता : स्थिति और अवसरों की तथा सभी के बीच बढ़ायी जायेगी व्यक्ति की गरिमा और देश की एकता को आश्वस्त रखने वाली बन्धुता।

इन्हीं विचारों और प्रतिज्ञाओं के अनुकूल प्रथम योजना आयोग के गठन

सम्बन्धी भारत सरकार के मार्च १९५० के प्रस्ताव में कहा गया था, 'भारतीय संविधान ने अपने देश के नागरिकों को कतिपय बुनियादी अधिकारों की गारंटी दी है तथा राज्य के कुछ नीतिनिर्देशक सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। विशेषकर यह कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय वाली सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति और सुरक्षा के जरिए लोगों के कल्याण के प्रोत्साहन हेतु राज्य प्रयासरत रहे एवं राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को इससे अवगत कराये तथा अन्य के साथ ही, इन बातों की प्राप्ति की दिशा में अपनी नीतियां निर्देशित करें

(अ) कि समस्त नागरिक नरनारियों को समान रूप से आजीविका का उचित जरिया पाने का अधिकार हो।

(ख) कि समाज के भौतिक साधनस्रोतों के स्वामित्व और नियंत्रण का वितरण ऐसे किया जाय कि सर्वोत्तम रीति से सबका सामान्य हित पोषित हो।

(ग) कि आर्थिक व्यवस्था इस तरह से क्रियाशील हो कि उसके फल स्वरूप सर्वसाधारण के लिए हानिकारक रूप में धन और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न होने पाये।' (प्रथम पंचवर्षीय योजना, दिसम्बर १९५२, भूमिका)।

यद्यपि १९३० की स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की शब्दावली का किसी सीमा तक संविधान में समावेश किया गया और वह भारत के नियोजित विकास का निर्देशक विचार (सिद्धांत) बनी, तथापि ऐसा प्रतीत होता है, और पिछले तीन दशकों की प्रवृत्तियों तथा घटनाओं से पुष्ट भी होता है कि व्यवहार में उसे अधिक गम्भीरता से नहीं लिया गया, विशेषकर उनमें से ज्यादातर लोगों के द्वारा, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नेतृत्व के पदों पर अथवा स्वाधीनता पाने पर दिल्ली में बनी सरकार के प्रमुख पदों पर थे। शायद उनके लिये यह प्रतिज्ञा वाग्मिता थी या आलंकारिक उक्ति। पूर्ववर्ती यथार्थ का या भविष्य के लक्ष्यों का कथन शायद उनकी दृष्टि में उस प्रतिज्ञा में अभिव्यक्त नही हुआ था। यह सही है कि भारत के राजनैतिक और आर्थिक विनाश के प्रेक्षण को बड़े पैमाने पर मान्यता मिली। किन्तु, भारत का सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया गया है, और जिसका निहित अर्थ है कि इस समाज को विघटित और विस्थापित किया गया है, ओर उसके जनसाधारण के आत्मगौरव का अत्यन्त हनन हुआ है, प्रतिष्ठा समाप्त की गई है तथा उनकी पहल की क्षमता रौंदी गई है, प्रतिज्ञा के इस आशय वाले वाक्यांश की उन लोगों के बीच और उनके काम पर कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं परिलक्षित हुई,

जिन्होंने १९४६ के बाद आगे भारत में शासन करना शुरू किया। लगता है कि वे (और सचमुच इनमें व्यावहारिक रूप से भारत के विशेषाधिकार भोगी हर तबके के लोग शामिल थे, भले ही वे किसी भी विचारधारा का अनुमोदन करते हों) अपने आसपास के संसार की चकाचौंध से ज्यादा ही चौंधिया गये थे। साथ ही जिन सामाजिक और आर्थिक सैद्धांतिक स्थापनाओं से उनके विचारों की बुनियाद रची गयी और जो इतिहास उन्होंने पढ़ा (इनमें से ज्यादातर इतिहास ग्रन्थों का उद्‌गम पश्चिम में मुख्यतः अंग्रेजीभाषी इलाकों में हुआ था) उसमें वे अभिभूत दिखते हैं। यहां तक कि दिसम्बर १९५३ में भी पंडित जवाहरलाल नेहरू का विश्वास था कि 'पिछले दो हजार वर्षों के विश्वइतिहास के मानवजीवन को परिवर्तित करने वाला कोई भी तत्त्व, इतना शक्तिशाली नहीं रहा, जितना कि औद्योगिक क्रान्ति और उसकी अनुगामी क्रियाएं'। जरूर वे यह भी सोचते थे कि अपने जोखिम भरे नजरिये के सिलसिले में वे 'जनता के विशाल समूह को विश्वास में लें' और उन्होंने देखा कि 'जनता के विशाल समूह में यह उत्तेजना भरनी होगी कि वे राष्ट्र को गतिशील रखने के विराट उद्यम के सहभागी हैं, सरकार में और उद्योग में साझीदार हैं।' (दृष्टव्य-जवाहरलाल नेहरूः भाषण (अंग्रेजी में) खंड ३, पृष्ठ ५९, ६० 'बैलगाड़ी, मोटर गाडी, जेट विमान', १९५८ में प्रकाशित)।

ऐसी सहभागिता के लिये पंचायती राज इत्यादि विविध कार्यक्रमों के जरिए आधेअधूरे मन से प्रयास किये गये। किन्तु इन योजनाओं और कार्यक्रमों का भी गठन शेष भारतीय राज्य पद्धति की ही तरह हुआ था और शीघ्र ही वे भी उसी गतिरोध की स्थिति में जा फंसे।

विकास में लोगों की भौतिक शारीरिक सहभागिता की कुछ गुंजाइश जरूर थी, किन्तु चाहे सिर्फ शासन तंत्र हो या विकास का मामला, किसी में भी हम ऐसे मार्ग नहीं खोज पाये, जिनके जरिए भारत के छत्तीस करोड़ (उपर्युक्त भाषण-पुस्तक के पृष्ठ ४ के छपे भाषण का, जो पंडित नेहरू द्वारा १३ अक्टूबर १९५४ को दिया गया था, शीर्षक 'छत्तीस करोड़ समस्याएं') लोग सामूहिक तौर पर अपनी मेधा एवं प्रतिभा उस दिशा में तथा उन कामों में लगा सकें, जिन्हें वे उपयुक्त समझते हैं तथा जो वे सृजन करना चाहते हैं। यह बात अब भलीभांति विदित हो चुकी है कि जो नई वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं स्वाधीन भारत में स्थापित हुईं तथा जिन महान वैज्ञानिकों ने उन्हें संचालित-निर्देशित किया, उनके पास कम से कम १९५० के दशक तक जन सामान्य की महत्त्वपूर्ण समस्याओ ंकी तरफ ध्यान देने की फुरसत नहीं थी। एक अर्थ में, लोगों को फिर सन १९१५ की स्थिति में धकेल दिया गया, जब कि सार्वजनिक सामाजिक जीवन में

महात्मा गांधी का उदय हुआ था और तब उन्हें सार्वजनिक जीवन में वापस लाया गया था। अपने शुभेच्छु विदेशी मित्रों की तरह, जो तब भी ऐसा सोचते थे और अब भी सोचते हैं, हम लोग भी यह मान बैठे कि ये सामान्य भारतीय देशवासी अपनी मानसिक क्षमता पूरी तरह खो बैठे हैं और सांगठनिक मामलों में या तकनीकी के क्षेत्र में किसी सृजनात्मक योगदान की उनमें क्षमता नहीं है। हां, वे दैहिक बल या यांत्रिक दुहराव की अपेक्षा वाले कार्यक्रमों में अपना योगदान दे सकते हैं।

यहां यह उल्लेख भी प्रासंगिक होगा कि आधुनिकता की शक्तिशाली धार के दबाव से अप्रभावित अनेक व्यक्ति एवं समूह १९५० में, और आगे भी, भारत में मौजूद रहे हैं (व्यक्तियों में से कुछएक के नाम गिनाने हों तो राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे के नाम लिये जा सकते हैं)। ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने दिल्ली के शक्ति केन्द्र द्वारा संचालित प्रक्रिया के विरुद्ध व्यापक सार्वजनिक असहमति को वाणी दी थी। कई समूहों ने, विशेषकर समाजवादियों ने, छोटी मशीनों की बात भी कही (शायद भारत के लिये उपयुक्त प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में, जो कि स्वदेशी उपकरण, माल तथा साधनों से विकसित हो सके) तथा 'चौखम्भा राज्य' आदि शब्दावलियों के सहारे देश के लिये अधिक उपयुक्त राजनैतिक ढांचे की बात कही और दीर्घकालिक सामाजिक एवं रचनात्मक सेवाकार्य के लिये विशाल भूमिसेना की बात की। सम्पूर्ण गांव की ग्राम सभा, ग्रामसमुदाय तथा लोकशक्ति के विचार के आधार पर भारतीय राजनैतिक स्वरूप (पोलिटी) को पुष्ट करने वाला सर्वोदय आन्दोलन भी उभरा। किन्तु सामान्यतः बड़े पैमाने पर इन विचारों का स्वर अधिकांशतः अस्पष्ट और अस्फुट था। इस सन्दर्भ में एक बुनियादी दस्तावेज जो १९५८ में सामने आया वह था-जयप्रकाश नारायण लिखित 'ए प्ली फॉर द रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ इंडियन पोलिटी' (A plea for the Reconstraction of Indian Polity)।

२.

जो लोग किसी न किसी तरह भारत के मामलों के प्रबन्ध से जुड़े हैं, सार्वजनिक तौर पर उनके द्वारा कही गयी बातें सुनी जाएँ, साथ ही उनकी निजी प्रतिक्रियाएं देखी जाएं तो ज्ञात होता है कि जो काम उन्होंने अपने जिम्मे ले रखा है वह उनके लिये बड़ा बोझ बना हुआ है। आकाशवाणी, दूरदर्शन पर समाचार प्रसारणों के पूर्व अक्सर प्रसारित होने वाले नेताओं के वक्तव्यों और सन्देशों में यह दुहराया जाता रहता है कि १९२१ में भारत की आबादी इतनी थी और अब इतनी है, तथा २००१ में इतनी होगी। इन

वक्तव्यों में यह अपेक्षा ध्वनित होती है कि श्रोता इस महान त्रासदी पर, इस शोकप्रद विभीषिका पर विचार करें। पश्चिम ने अपने बारे में बहु प्रचारित किया कि यूरोपीय मनुष्य का इतिहास और उसकी प्रेरणायें तथा सैद्धांतिक निरूपण सार्वभौम हैं। हमने इसे कबूल कर लिया। फलतः हम यह मानने लगे कि पश्चिम ने अपने १००० वर्षों के इतिहास में जो कुछ किया है उसे अपने यहाँ दुहारने में हम भी समर्थ हैं। पश्चिमी मनुष्य की जो छवि हमारे मन में बस गई है वह या तो सोलहवीं, सत्रहवीं और अठाहरवी शताब्दी के लुटेरे व्यक्तियों की है, या फिर बीसवीं शताब्दी के परिष्कृत, दुनियादार, दूसरों का लिहाज रखने वाले, परोपकारी तथा कम से कम सैद्धांतिक स्तर पर सभी लोगों के बीच समता और बन्धुता की वकालत करने वाले व्यक्ति की। हम यह समझने को तत्पर नहीं दिखते कि इस छवि के अतिरिक्त भी यथार्थ बहुत कुछ है और पश्चिमी मनुष्य का विकास उन विश्वासों और विचारधाराओं (दर्शन) में से हुआ है, जिनका भीतरी रूप कठोर है। भले ही बाहरी हिस्से सौम्य दिखें। पश्चिम की वर्तमान सर्वमान्य समृद्धि तथा कल्याणवाद मुश्किल से ५० साल पुराने हैं। वस्तुतः यह विचारणीय है कि क्या पश्चिम की मौजूदा समृद्धि तथा कल्याणवाद इन तथ्यों की दिशा में पश्चिम के अनुपालन का सीधा परिणाम है अथवा यह ऐसे प्रयासों और हलचलों का एक अनिवार्य परोक्ष परिणाम है, जिनमें लक्ष्य पूर्णतः अलग तरह के हैं। हम समझ नहीं पाते कि आज की चकाचौंध भरी स्थिति तक पहुँचने के लिये पश्चिम को कठोर, क्रूर और शोषक होना पड़ा है। यह शोषकवृत्ति और यह क्रूरता सिर्फ गैर पश्चिमी संसार के प्रति नहीं थी, अपितु शताब्दियों तक पश्चिमी शासक समूह अपने ही समाजों का क्रूर शोषण करते रहे।

यह अनुमान कि पश्चिम आज के लोकतांत्रिक और कल्याणकारी प्रबन्धों तक इसलिए पहुँचा है, क्योंकि यह गुण तथा यह लक्ष्य इसके मध्य कालिक तथा प्रारम्भिक-आधुनिक दौर में अन्तर्निहित थे, वैसी ही कपोल कल्पित कथा है, जैसी कि यह कपोल कल्पित कथा कि भारतीय जनगण हजारों वर्षों से दरिद्रता तथा राजनैतिक उत्पीड़न का जीवन जीते रहा है।

ईसवी सन १८०० के आसपास, जब भारतीय समाज के बड़े हिस्से को यूरोपीय राजनैतिक शक्ति ने छिन्नभिन्न कर दमित कर रखा था, उस समय भी भारत के अधिकांश हिस्सों में लोगों के बीच अधिक समानता थी, और यहाँ के साधारण श्रमिक ब्रिटेन के जनसाधारण से अधिक मेहनताना पाते थे। यह तथ्य इस काल के अनेक अध्येताओं के अध्ययन से जाना जा सकता है।

थॉमस मुनरो के अनुसार बेलारी जिले में उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों में

प्रतिव्यक्ति उपभोग-ढांचा १७:९:७ के अनुपात में था। १८२२-२५ में मद्रास प्रेसिडेंसी में स्वदेशी शिक्षा सम्बन्धी एक सर्वेक्षण के अनुसार वहां उन दिनों स्कूल में पढ़ रहे लड़कों का एक चौथाई भाग प्रेसिडेंसी की १२००० पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहा था। इसके साथ ही, घर पर बड़ी संख्या में शेष बच्चे पढ़ रहे थे (मद्रास शहर में की गई एक गणना के अनुसार शालाओं में जाने वाले बच्चों की संख्या की गई एक गणना के अनुसार शालाओं में जाने वाले बच्चों की संख्या से चार गुने बच्चे घरों में पढ़ रहे थे)। तमिलभाषी क्षेत्र में पाठशालाओं में (यहां सर्वत्र आशय देशी पाठशालाओं से है, अंग्रेजी व्यवस्था द्वारा संचालित स्कूल तब नहीं थे) पढ़ रहे कुल बच्चों में शूद्र जाति के और तथाकथित अन्त्यज जातियों के बच्चों की संख्या ६० से ८० प्रतिशत थी। १८०४ के 'एडिनबरो रिव्यू' के अनुसार ईसवी सन १८०० के आसपास भारतीय खेतिहर श्रमिक की वास्तविक मजदूरी दरें ब्रिटेन के खेतिहर मजदूरों से बहुत अधिक थीं। यह तथ्य भी अब सुविदित हो चुका है और स्वीकार किया जाता है कि १८०० के आसपास भारतीय कृषि उत्पादन ब्रिटेन के कृषि उत्पादन से बहुत अधिक था; भारतीय इस्पात अधिक श्रेष्ठ स्तर का था और देश के बहुत से इलाकों में उसका उत्पादन होता था तथा भारत के बुवाई हल (वपित्र) जैसे कुछ कृषि उपकरणों की क्षमता तत्कालीन ब्रिटेन की ऐसी वस्तुओं से कहीं अधिक थी। 'एडिनबरो रिव्यू' के ही अनुसार उन दिनों गेहूं आदि के बीज की दरें ब्रिटेन में वही थीं, जो कि भारत में थी; किन्तु भारत का उत्पादन बहुत अधिक था।

सम्भवतः बौद्धिक प्रमादवश, हममें से वे लोग जो देश का प्रबंध कर रहे हैं, राजनैतिक संगठन अथवा विकास या शिक्षा, इतिहास एवं विज्ञान के सिद्धांतों के बारे में अपने उन आधारवाक्यों पर पुनर्विचार हेतु प्रस्तुत नहीं हैं, जिन पर ३५-४० वर्ष या और अधिक समय से वे चिपके रहे हैं। शायद हम यह सोचकर घबरा उठते हैं कि यदि हमने इस तरह की जिज्ञासा और प्रश्न भाव विकसित किया, ऐसे ऐसे सवाल स्वयं से करने लगे, तो फिर जिन बातों के आधार पर हम चलते रहे हैं और चल रहे हैं (पिछले ४० या अधिक वर्षो से), वे रेत पर बने महल की तरह भरभराकर ढह जायेंगी। क्योंकि हमारा यह महल, यह दुर्ग एक ऐसी इमारत है, जिसकी कोई वास्तविक नींव है ही नहीं। न तो वह भारतीय अनुभवों की नींव पर न राष्ट्रीय चरित्र के अनुकूल और न ही भारतीय जन की प्राथमिकताओं का विचार कर खड़ा किया गया है।

इस प्रकार 'भारत के विकास के परिप्रेक्ष्य' को लेकर उठी किसी भी बहस के सामने यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। यह नहीं कि पिछले तीस साल से ज्यादा समय से

जारी नियोजित विकास ने भारतीय राष्ट्र की शक्ति में कोई वृद्धि नहीं की है, उसे कुछ अधिक आत्मविश्वासयुक्त नहीं बनाया है अथवा विविध क्षेत्रों में व्यवसायदक्ष लोगों तथा विशेषज्ञों को बड़ी संख्या में नहीं पैदा किया है। ऐसा तो हुआ है। साथ ही, औद्योगिक उत्पादन और कृषि दोनों में गुणात्मक वृद्धि भी हुई है। किन्तु साथ ही इस प्रक्रिया ने व्यापक पैमाने पर जंगलों का विनाश, भूमि क्षय तथा बाढ़ और सूखे की लगातार वृद्धि भी की है। इसी प्रक्रिया में पर्यावरण अधिकाधिक विषाक्त होता जा रहा है। अधिक सुरूचिपूर्ण और अधिक व्यवस्थित जीवन का सृजन करने के स्थान पर इस प्रक्रिया ने वस्तुतः साधारण जीवन को अधिक अस्थिर, अधिक असुरक्षित और निश्चय ही ज्यादा बदसूरत बना डाला है। यह कहना शायद गलत न होगा कि हमारे कस्बों, शहरों और महानगरों में भी कुछ सौ वर्ग मीलों में फैले केंन्द्रीय क्षेत्रों और सिविल लाइनों के अतिरिक्त, शेष क्षेत्र का विगत तीन दशाब्दियों में हर दृष्टि से ह्रास ही हुआ है और इन स्थानों में से अधिकांश तेजी से एक विशाल 'स्लम' की दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। इसके विपरीत भारत के गाँव जो यदाकदा कुलीन वर्ग की गहरी दिलचस्पी के केन्द्र बनते रहते हैं, अत्यधिक दरिद्रीकरण और बुनियादी जन सुविधाओं के अभाव के बावजूद व्यवस्था और निवास की योग्यता में तुलनात्मक दृष्टि से अभी भी बहुत बेहतर हैं। कई लोग कह सकते हैं कि राष्ट्रीय साधन स्रोतों और राष्ट्रीय पूंजी का अधिकांश जिन कस्बों, शहरों तथा महानगरों पर खर्च किया जा रहा है, उनकी 'स्लम' जैसी दशा होते जाना स्वयं नियोजन या आयोजन का सीधा परिणाम नहीं है। निश्चय ही यह दशा इस तथ्य का फल है कि जो लोग यह सब प्रबन्ध करने में जुटे हैं, उनमें से अधिकांश का व्यवहार विचारविहीन है। वे सृजनात्मकता से रिक्त हैं, अपने दिमाग से काम लेना बन्द कर चुके हैं तथा जिन लोगों, जनगण के लिए वे काम कर रहे होने का दावा करते हैं, उन सर्वसामान्य लोगों की तनिक सी भी सम्मति की इन व्यवस्थापकों के आचरण में कोई जगह नहीं है।

हमारे आधुनिक मकानों में से अधिकांश का खाका, (विशेषतः उनका जो साधारण या मध्यमस्तरीय लोगों के लिए बनाये जाते हैं अथवा छात्रावासों, अतिथि निवासों आदि का) अपनी कुरूपता और असुविधा के साथ इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, कि हमारे आयोजक और विकासकर्ता सचमुच विवेकशून्य हो चुके हैं। हमारे निजी निवास, छात्रावास, होटल आदि में पश्चिमी ढंग के शौचालयों का निर्माण जारी है, जबकि कोई बिरला भारतीय ही इनका उपयोग करने में सुविधा का अनुभव करता होगा । यह स्थिति एक मायने में हमारे विकास के बहुतांश की विजातीय नींव और

परदेसी रूपविधान का प्रतिनिधित्व करती है। यदि यह तर्क दिया जाये कि लोगों का आराम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, तब भी यदि इस मामले में तनिक भी विचार से काम लिया जाता, तो अकेला यह तथ्य ही इन शौचालयों की स्थापना को रोक देने को पर्याप्त होता है कि इस यूरोपीय ढंग के शौचालयों में बहुत अधिक पानी 'फ्लश' के लिये जरूरी होता है और पानी मोटे तौर पर हिन्दुस्तान में एक दुर्लभ वस्तु ही है। इस लेखक को एक बार हमारे महान वैज्ञानिक और शिक्षाविद् डॉ. दौलत सिंह कोठारी ने एक घटना बताई थी। बात ईसवी सन् १९४० की है, जब दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्वानों के लिए आवासगृहों का निर्माण हो रहा था। पश्चिमी ढंग के शौचालय बनाये जाते देख ये लोग परेशान हो उठे। कारीगरों से कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे खुद तो खाके में कोई फेरबदल कर नहीं सकते। सिर्फ उपकुलपति सर मॉरिस वायर ही इस विषय में अधिकारी हैं। यानी उनकी अनुमति से ही भारतीय ढंग के शौचालय बन सकेंगे। तब विद्वत् परिषद की ओर से अन्ततः डा. कोठारी सर मॉरिस से मिले। यद्यपि सर मॉरिस ने सम्भवतः ऐसा प्रतिनिधित्व पसंद नहीं किया, तथापि वे आधी बात मंजूर करने को राजी हो गये। यानी यह कि जो आवासगृह अभी भी बनने हैं, उनमें से जिनमें दो दो शौचालय होने हैं, उनमें से एक भारतीय ढंग का भी होगा। जबकि जिनमें सिर्फ एक ही शौचालय होगा (यानी कनिष्ठ अध्यापकों के निवास), उनमें वह सिर्फ पश्चिमी ढंग का ही होगा।

हममें से कई लोगों का यह विश्वास हो सकता है, जैसा कि कार्लमार्क्स का और उनके पहले कुछ लोगों का विश्वास था और कार्लमार्क्स के बाद से अनेक लोगों का है, कि भारत सभ्य कहला सके, इसके पहले उसे पश्चिमी होना होगा। जहाँ तक हो सका, हम इस प्रयोग का प्रयास करते रहे हैं। प्रथमतः हमने भारतीय संविधान को मुख्यतः पश्चिमी विचारों व्यवहारों के अनुकूल ढाला। द्वितीयतः, जो प्रशासनिक पद्धति अंग्रेजों ने मूलतः १७७० से १८३० के दौरान अपने विजित क्षेत्र को शासित करने के लिए रची, उसे बनाये रख कर आगे उसमें प्रचुर वृद्धि तथा विस्तार करते रहे। और तृतीयतः, हमने ऐसा किया, अपने नियोजित विकास और वैज्ञानिक प्रयोगों का वह ढांचा रचकर, जिसमें आयोजक तो सर्जक तथा निर्देशक है और दाता है तथा भारत की जनता उनसे उपकृत हो रही समझी जाती है। इसका परिणाम यद्यपि बिल्कुल निराशाजनक नहीं रहा है, तथापि ऐसा भी नहीं है कि हम दावा कर सकें कि हम एक पश्चिम जैसा समाज बनाने जा रहे हैं। यह तो हो सकता है कि लगभग पाँच-पचास लाख भारतीय घरों में आज टेलीविजन सेट हों, रेफ्रीजरेटर हों, गैस वा बिजली के चूल्हे हों, शायद दस लाख कारें हों तथा ऐसा ही कुछ और हो, लेकिन इन्हीं (सत्तावर्गीय) स्रोतों के अनुसार भारतीय

जनता का आधा हिस्सा 'गरीबी रेखा' के नीचे रहता है और 'गरीबी रेखा' से ऊपर वाले लोगों का अधिकांश हिस्सा घंटों तक परिवहन, दूध, चीनी, मिट्टी के तेल, खाद्य पदार्थ आदि के लिए लाईन लगाने में खर्च करने को विवश है।

इन गतिविधियों के पिछले तीस वर्षों की प्रशंसा में अधिक से अधिक कुछ कहा जा सकता है, तो यही कि इस दौरान भारत को वे चलाये रखे रही हैं। यह सम्भव है कि भाग्यवश हम इसी रास्ते पर चलते हुए कुछ समय तक और जिंदा रह लें।

३.

लेकिन जिस रास्ते पर हम चलते रहे हैं, उसी पर चलते रहकर शायद भारत एक राजनैतिक इकाई बना भी रहे, तो भी भारत के जनसाधारण की यानि कुल आबादी के लगभग ९५ प्रतिशत की, बुनियादी जरूरतों तक की पूर्ति की सम्भावना इस रास्ते में अत्यन्त अल्प है। इससे भी बुरी बात यह है कि इस मार्ग के अवलम्बन से भारतीय जन बहुत अधिक पराश्रित हो गये हैं। यहाँ तक कि आज का किसान भी नई संकर खेती और उसकी जरूरतों के सन्दर्भ में कम सृजनात्मक और नवाचार में कम समर्थ हो गया है। उसकी स्वयं की सृजनात्मकता तथा नवाचार की मेधा आज उससे भी अधिक अवरुद्ध कर दी गयी है, और बौनी बना दी गयी है, जितनी और जैसी कि ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में की गई थी। यदि भारत को एक सभ्य समाज के रूप में बचे रहना है तो उसे वर्तमान प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न आज की इस किंकर्तव्य विमूढ़ता की दिशा में से कोई और रास्ता निकालना होगा। एक ओर जनसंख्या के बहुत बड़े हिस्से के कल्याण की तो बात ही क्या, उसे भोजन, वस्त्र और निवास तक दे पाने में केन्द्रीयकरण अक्षम हो चुका है और दूसरी ओर समस्त साधन स्रोतों तथा संगठनात्मक ढाँचों पर एकाधिकार और विनियोजन के कारण यह केन्द्रीयकरण जनगण द्वारा स्वप्रबन्ध के रास्ते में रुकावट बना खड़ा है। १९ वीं शताब्दी में तथा २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भी यानि उस सम्पूर्ण अवधि में भी जब भारतीय किसान की अपने खेतों में निवेश की क्षमता निम्नतम बिन्दु तक पहुँचा दी जा चुकी थी, और उसके कृषि औजार तथा मालमवेशी बड़ी मात्रा में बरबाद कर दुर्दशाग्रस्त बनाये जा चुके थे, किसान ने देश को पर्याप्त अनाज देकर जीवित रखा, यह तथ्य उसकी सामर्थ्य और प्रतिभा का पर्याप्त दृष्टान्त है। यही बात भारतीय शिल्पियों, कारीगरों के बारे में भी सच है।

भारतीय जनगण अपेक्षाकृत सौम्य प्रकृति का है। और कई पीढ़ियों तक उन्हें दबाकर रखा गया, उनकी खिल्ली उड़ाई गई, उन्हें पीसा जाता रहा तथा उनकी

सार्वजनिक क्रियाशीलता प्रतिबन्धित रही। फलतः १९ वीं और प्रारम्भिक २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय जन अपनी निजी सीमा में ही सिमट गये थे। इसका यह मतलब नहीं कि वे अन्याय और अनौचित्य का बुरा नहीं मान रहे थे। जैसा कि मार्च १९४४ में किसी ने गांधीजी से कहा था, भारतीय दृश्य पर उनके उदय से पूर्व तक फिरोज शाह मेहता जैसे लोग भी अंग्रेजों से बोलते वक्त दब्बू और विनीत होते थे। गांधीजी ने स्वीकार किया कि १९१५ तक ऐसी स्थिति थी, पर साथ ही यह भी कहा कि 'मैंने जो कहना शुरू किया, वह वही था, जो लोग दिलों में महसूस करते थे, पर अपनी बात खुद कहने में समर्थ नहीं थे'। इस प्रकार १९१६ के बाद से, अगले ३० बरसों तक वे जनता के प्रवक्ता थे। वे भारतीय जनता की प्रशंसा करते और आवश्यकतानुसार झिड़कते भी। पर दुर्भाग्यवश उनके उत्तराधिकारियों ने, विशेषकर जो स्वाधीन भारत के प्रबन्धक बने, उन्होंने ब्रिटिश राज्य के समय का व्यवहार का ढांचा अपना लिया। (उन्होंने ऐसा क्यों किया, यह मनोविश्लेषकों पर छोड़ देना ही बेहतर होगा। या शायद यह कारण रहा हो कि ब्रिटिश शिक्षा और ट्रेनिंग की उन पर उससे अधिक गहरी छाप थी, जितनी गांधीजी के साथ बिताये गये उनके समय की छाप उन पर थी)। वे पश्चिम से अभिभूत थे, फिर यह सोवियत संघ हो या अमरीका अथवा यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो, इस सन्दर्भ में इन सबका एक ही अर्थ है। इस कारण उन्हें भारत की हर वस्तु आदिमकालीन, अतः अपरिष्कृत, संकीर्ण, अंधविश्वास-युक्त इत्यादि प्रतीत होती थी। उनकी दृष्टि से जिसे वे भारत का अभिमान या प्रगति समझते थे उसकी राह में भारत के लोग वस्तुतः एक व्यवधान थे, राह के रोड़े थे और इसलिए ये भारतीय जन निर्णय और कर्म के क्षेत्र से (सिवाय लकड़ियां चीरने, पानी खींचने और कभीकभी इस उस की साजसज्जा के काम से) जितना ही दूर रहें, उतना ही उनके सपनों के भारत के लिए बेहतर है। यह सम्भव है कि यह दृष्टिकोण सार्वजनिक तौर पर खुलकर अधिक व्यक्त न किया गया हो, पर दृष्टि यही थी। इस दृष्टि वालों में से किसी को कभी यह याद नहीं आया कि ये वे ही भारतीय जन हैं, जिन्होंने निम्नतम सम्भव पूँजी निवेश, उपकरणों और उस पशुसम्पदा के जरिए भी भारत की रक्षा की थी तथा पालन किया था जो उन्हीं की तरह अस्थिपंजर मात्र बना डाला गया था। उनकी प्रशंसा करने और उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के स्थान पर उन्हें वस्तुतः यह बताया गया कि वे निकम्मे हैं। सर्वसामान्य भारतीय जन को इस तरह रद्द कर देने और बहिष्कृत कर देने के बाद यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस भारतीय कुलीन वर्ग के लिये शासन प्रबन्ध और विकास की समस्याएं इतनी बड़ी बोझ बन गयी।

समुद्रीय वृत्त सम्बन्धी अवधारणा के लिये २८ जुलाई १९४६ का 'हरिजन' दृष्टव्य है। इसमें 'स्वराज' शीर्षक से अपने लेख में गांधीजी ने स्वराज लोकतंत्र की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा था, 'यह एक सामुद्रिक वृत्त होगा, जिसका केन्द्र होगा व्यक्ति, जो गांव के लिए उत्सर्ग को सदा तत्पर रहेगा, गांव ग्रामसमुदाय के लिए उत्सर्ग हेतु तत्पर रहेगा, यही क्रम चलता रहेगा और सम्पूर्ण समाज का ऐसे व्यक्तियों से बना एक अखंड जीवन होगा, जो अपने मन्तव्य से कभी भी आक्रामक न होंगे, सदा विनययुक्त होंगे तथा उस सामुद्रिक वृत्त की महत्ता के भागीदार होंगे, जिसकी कि वे अभिन्न इकाइयां हैं।' आगे उन्होंने लिखा, 'असंख्य गावों (और स्वाभाविक ही कस्बों तथा शहरों) से युक्त इस संरचना में निरन्तर फैलने वाले किन्तु कभी भी प्रभुत्व न दिखाने वाले वृत्त होंगे। सबसे बाहर वाले वृत्त (यानी राज्य) द्वारा अपने समस्त भीतरी वृत्तों को सुदृढ रखने के लिए तथा उनसे शक्ति पाने के लिये ही शक्तिसंचय किया जायेगा, न कि उन्हें दबाने कुचलने के लिये।'

शासन सम्बन्धी इन सुझावों की पर्याप्तता पर बहस सम्भव है। किन्तु भारत की तथा साथ ही पश्चिम की सभ्यता का उनका विश्लेषण तथा अपने स्वदेशी जनगण की तथा उनके द्वारा पोषित समाहित नैतिक विचारों की गांधी की समझ अतुलनीय रही है और वह आज भी उतनी ही प्रामाणिक है, जितनी ६०-७० वर्ष पहले थी। (सभ्यता सम्बन्धी उनका यह विश्लेषण सर्वप्रथम १९०९ में 'हिन्द स्वराज' में सामने आया। यह प्रश्नोत्तर शैली में है और उसमें गांधीजी ने उस समाज और राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, जैसा वे स्वाधीन भारत में देखना चाहते थे।) जिन लोगों को दरिद्र बनने को विवश किया गया है, जो व्यापक वंचना के शिकार बनाये गये हैं और जिनका आत्मगौरव छीना गया है, उन्हीं करोड़ों लोगों की सृजनात्मक एव प्रवर्तनकारी मेधा को मुक्त तथा जागृत करके ही विकास की समस्या को हल करना सम्भव है। क्योंकि अन्ततः विकास का मूल अभिप्राय है 'भीतर के विकास' तथा 'आत्माभिव्यक्ति, आत्मविस्तार, अणु से महत् की ओर बढ़ना'। अतः विकास की परिभाषा में ही यह निहित है कि वह तभी प्रसन्न होगा जब भारतीय जनगण स्वयं अपना विकास करने में सक्षम होते हैं अर्थात जब व्यक्तिरूप में तथा समूह के अंग के रूप में वे खिलना, प्रस्फुटित होना शुरू करते हैं।

आजादी के बाद से जो दृष्टिकोण, जो कार्यविधि तथा जो उपकरण व्यवस्था भारतीय मामलों में गतिशील रही है, वह अब और ज्यादा समय तक अपेक्षित कार्य नहीं कर सकती यानी संतोषप्रद रूप में गरीबी कम करने का तथा सर्वसामान्य भारतीय जन में आत्मगौरव तथा पहल की प्रवृत्ति पुनःप्रतिष्ठित करने का काम नहीं कर सकती, यह

कहने का अभिप्राय इन दृष्टिकोणादिक की भर्त्सना करना नहीं है। १९४७ के बाद की स्थितियों में, विशेषकर १९४५ से आगे भारत जिस दिशा में बढ़ा, यहां के कुलीनवर्ग खासकर, प्रशासन वर्ग और अर्थशास्त्री समूह ने अपनी दक्षता भर कार्य किया। इस क्रियाशीलता से हिन्दुस्तान से अभाव, दरिद्रता और पराश्रय के समुद्र के बीचों बीच पश्चिमीपन और अति समृद्धि के कुछ सौ नखलिस्तान तथा परकीय अन्तःक्षेत्र विकसित हो गये हैं तथा समस्त नैतिक आचरण और मानदण्ड क्षतविक्षत हो चुके हैं। इन सबका दायित्व उन्हीं पर डालने की जरूरत नहीं है। किन्तु भारत के स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए यह स्वीकार करना होगा कि ये नजरिये वगैरह अब प्रासंगिक नहीं हैं और वे वस्तुतः भारतीय समाज के तानेबाने को ही नष्टभ्रष्ट करने वाले हैं। ऐसी परिस्थितियों में, भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को तथा जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय विचारशील भारतीयों को उन भागों तथा साधनों को खोजना होगा, जिनमें राष्ट्र की एकता सुरक्षित रहने के साथ साथ देशजन को स्वतन्त्रता, अवसर और आनुपातिक राष्ट्रीय साधनस्रोत उपलब्ध हो सकें जिसमें विविध स्तरों पर लोग जीवन की अधिक आवश्यक और बुनियादी समस्याओं पर विचार करना तथा उनका समाधान करना प्रारम्भ कर सकें।

अब हमारे पास भारतीय मामलों के प्रबन्ध का पैंतीस वर्षों (अब ५० वर्षों) का अनुभव है, और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय जगत का अधिक यथार्थपरक परिचय है और शायद, औद्योगिक क्रान्ति की उपलब्धियों की चकाचौंध से भी हम कुछ मुक्त हुए हैं, यह तथ्य अवश्य नये मार्गों तथा साधनों के सृजन को अधिक व्यावहारिक बना देता है। जहाँ यह सच है कि एक ओर हमारी समस्याएं पैंतीस साल पहले की तुलना में अधिक जटिल हुई हैं और उनका दबाव बढ़ा है, दूसरी ओर पहले से बड़ी संख्या में हमारे युवकजन अब और अधिक बौद्धिक तथा व्यावसायिक दक्षता से युक्त हैं तथा शायद उनमें संकल्प, निर्णय और मौलिकता भी है, जिससे वे वांछित परिवर्तन और रद्दोबदल करने में समर्थ हो सकते हैं। यह ध्यान में रखते हुए कि यदि हम चाह भी लें तो भी हम विश्व के दबावों से सहसा अलग थलग पड़कर नहीं रह सकते, यह हो सकता है कि कुछ समय तक हमें दो भिन्न भिन्न रास्तों पर सक्रिय रहना पड़े। एक मार्ग है बाहरी दबावों और रिश्तों से व्यवहार का। दूसरा हमारे नैतिक और सामाजिक मूल्यों के अनुकूल है। इस प्रकार हम दैनन्दिन जीवन में सहभागिता और सृजनात्मकता का प्रवर्तन कर सकते हैं तथा एक या दो दशकों में अपने समाज को पूर्ण स्वस्थ बना सकते हैं।

किन्तु ऐसे समझौते और तालमेल वाले मार्ग को अपनाने पर भी पाँचसितारा संस्कृति के परित्याग की आवश्यकता तो पड़ेगी ही तथा कम से कम कुछ दशकों के लिए

हम सभी को अधिकांश मामलों में ग्रामीण झोंपड़ी के जीवन जैसा जीवन अपनाना होगा। यह तो सभी जानते हैं कि अन्य समाजों में भी ऐसे ही प्रयास हुए हैं और उन्हें उल्लेखनीय सफलता मिली है।

यह सम्भव है कि आगामी दशकों में भारत स्वयं किसी तरह की आधुनिकता को तथा उपयुक्त विज्ञान और प्रौद्योगिकी को चुने। भारतीय योजनानिर्माताओं तथा उनके स्वामियों और प्रेरकों की बहुत गम्भीर गलती यह रही है कि उन्होंने देवताओं की तरह व्यवहार करने का प्रयास किया (या आधुनिक बिम्बविधान से बात करें तो कहना होगा कि उन्होंने उस महान श्वेत मनुष्य की तरह व्यवहार करने की कोशिश की, जो संसार के जंगली लोगों के लिए दिव्य उपहारों का बोझ लेकर आया बताया जाता है।) उन्होंने उस जनता के लिये जिसे उसने अपना श्रद्धालु भक्त समझ लिया था, योजना और विकास का वरदान लेकर आने वाले जैसा व्यवहार किया। पर क्योंकि न तो वह भूरा साहब था, न तो देवता, अतः अचरज नहीं कि स्थितियां इस तरह की हो गयीं। शायद यह समय है जबकि हम वैज्ञानिक दृष्टि के साथ ही सामान्य बुद्धि का प्रयोग करें और आज की कठोर वास्तविकता से एक एक कदम आगे बढ़ें। जैसा कि गांधीजी करते थे, तथा हर बार यह भली भाँति देख लें कि जो कदम हम उठा रहे हैं वह ठोस आधार पर टिका है तथा हमारे उद्देश्य की दिशा में है और उसका पोषक है। एक बार हमारा समाज क्रियाशील हो उठे, अर्थात जब उसके उत्पादन मात्र उसके भौतिक निवेश का परिणाम न हो अपितु अधिक सृजनशीलता तथा प्रवीणता का फल हो, तब फिर अमूर्त मुद्दों पर बहस के लिए पर्याप्त समय बना रहेगा।

९. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था – १

हमारे देश में या तीसरी दुनिया के दूसरे देशों में परिवार, शिक्षा और समाज की जो अवधारणा आज प्रचलित है उनकी नींव ग्रेट ब्रिटेन या अमेरिका में १९ वीं सदी के दौरान पड़ी थी। उन दिनों वहां जो सिद्धांत बनाए जा रहे थे और जो विचार शक्ल ले रहे थे उन्हीं से इनका अर्थ निश्चित हुआ था। पुराने यूनानी दिनों से लगा कर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप में परिवार और शिक्षा का सम्बन्ध राजनैतिक सत्ता या सम्पत्ति हासिल करने से जुड़ा रहा है। यूरोप में सम्पत्ति और राजनैतिक शक्ति बहुत थोड़े से लोगों में ही सीमित रही है। इन थोड़े से लोगों ने ही अपने व्यक्तिगत जीवन में या उन्होंने जो साहित्य लिखा उसमें परिवार या शिक्षा से होने वाले लाभ के बारे में सोचा – समझा है।

पिछले दो हजार साल में परिवार का स्वरूप, उसका ढांचा और उसका अर्थ बदलता रहा है। यही बात शिक्षा के बारे में भी कही जा सकती है। प्लेटो या अरस्तू ने यूरोपीय ढांचे में परिवार की जो अवधारणा की थी वह सामंती, अभिजात, व्यापारिक या मध्यकालीन पश्चिमी यूरोप के साहुकार परिवारों से बहुत ज्यादा मिलती–जुलती नहीं दिखाई देती। इसी तरह प्लेटो की अकादमी १९ वीं शताब्दी के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बिल्कुल अलग दिखाई दे सकती है। लेकिन पुराने स्पार्टा में, जहां नब्बे प्रतिशत आबादी दास या अजनबी लोगों की थी और जिन्हें कोई नागरिक अधिकार हासिल नहीं थे या १९ वीं शताब्दी के ब्रिटेन में, जहां सिर्फ एक प्रतिशत लोग जेंटलमैन समझे जाते थे, परिस्थितियां बहुत अलग नहीं थीं। परिवार या शिक्षा की सारी समझ १८ वीं शताब्दी के आरम्भ से शुरू हुए यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक इन्हीं थोड़े से ताकतवर लोगों के दृष्टिकोण पर आधारित थी।

अठारहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के दौरान जो बहसें चलीं और उनमें से जो सिद्धांत निकले उन्होंने इस सम्भावना की तरफ इशारा करना शुरू किया कि परिवार और शिक्षा रूपी इन दोनों विशेषाधिकार को पश्चिमी यूरोप के सभी या अधिकांश लोगों तक फैलाया जा सकता है। क्रान्ति के डर ने उन्हें ईसाई व दूसरी नैतिक मान्यताओं को

आम लोगों तक फैलाने के लिए प्रेरित किया। इसी भय से उन्हें परिवार की अवधारणा को आम लोगों में फैलाने की जरूरत महसूस हुई ताकि वैधानिक रूप से स्थापित हुई सत्ता की अधीनता मानने की आदत लोगों में डाली जा सके। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ही उनमें शिक्षा के प्रसार की बात सोची गई थी। और उनमें नई तर्कवादी मान्यताओं का प्रसार किया गया था। पुनर्जागरण काल के तर्कवाद ने इस धारणा को भी पैदा किया कि अगर उचित संस्थाएं खड़ी कर दी जाएं और उचित माहौल बना दिए जाए तो सभी लोग सम्पत्तिवान और ताकतवर हो सकते हैं। इस तरह की मान्यताएं बनाने के लिए नई अवधारणाओं और नए मिथकों की जरूरत थी। इसी से परिवार और शिक्षा की मौजूदा अवधारणाओं को जन्म मिला।

यूरोप में एक और ताकतवर विचार प्रचलित था। यह विचार है भौतिक जीवन में व्यक्ति को स्वतन्त्र मानना। इस विचार का यूरोप की केन्द्रीय नियंत्रण की प्रवृत्ति से गहरा सम्बन्ध रहा है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार के आधार पर यूरोप में कुछ लोगों को बिना किसी बन्धन और मर्यादा की अड़चन महसूस किए सत्ता और सम्पत्ति पर केन्द्रीय नियंत्रण सम्भव बनाने में काफी आसानी हुई। दूसरी तरफ लोगों को समुदायों की जैविक इकाइयों से तोड़ कर अकेला कर दिया गया। १९ वीं शताब्दी तक भौतिक जीवन में स्वतंत्रता का उपभोग मुट्ठी भर लोगों तक ही सीमित था। फिर भी जो लोग बहुत दुस्साहसी, उद्यमी या हताश होते थे, ऐसे लोगों की संख्या चाहे कितनी ही मामूली क्यों न निकले पर बहुसंख्यक आबादी के ऐसे लोग भी अपने देश के भीतर या दूरदराज इलाकों में राजनैतिक सत्ता या सम्पत्ति हासिल करने में सफल हो जाते थे। ऐसे लोगों के किस्से आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के दौर की शुरूआत से पहले भी मिल जाएंगे। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का फायदा उठाने का मौका मिल जाता था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का दौर शुरू होने के बाद ऐसे लोगों की संख्या में हजारों गुना वृद्धि हो गई होगी।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उपभोग का दायरा बढ़ जाने के कारण और विज्ञान व प्रौद्योगिकी की विशाल उपलब्धियों के कारण १९ वीं शताब्दी में जो आदर्शवादी ढांचे बनाए गए थे उनसे भी मुक्ति पाने में मदद मिली है। इसका सबसे ज्यादा असर परिवार पर पड़ा है। इन परिवारों का कोई व्यापक या गहरा कुलीय आधार तो था नहीं। न ही उन पर देसी समाज के रीतिरिवाजों का कोई बन्धन था। उनका आधार तो सम्पत्ति और सत्ता ही रहा था। इसलिए परिवार की आदर्शीकृत अवधारणा तो टूटनी ही थी। लेकिन यूरोप या अमेरिकी परिवार में जो वास्तविक परिवर्तन हुआ है वह ऐतिहासिक रूप से

उतना चौंकाने वाला नहीं है जितना आज हमें बताया जाता है। आज के पश्चिम में परिवार कुछ कुछ सराय जैसा दिखाई देता है जिसमें रहने वाले लोगों में कुलीय भावना जैसी कोई चीज नहीं होती। इन परिवारों में आम तौर पर सम्पत्ति जैसा कुछ नहीं दिखाई देता। मगर पहले भी हालात कोई इससे बहुत अलग नहीं रहे। यह बात विशेष कर उन लोगों को समझनी चाहिए जो पश्चिमी समाज को अपने लिए प्रकाश पुंज जैसा समझते हैं कि वहां, खासतौर पर ब्रिटेन और अमेरिका में बहुत कमजोर पारिवारिक व्यवस्था रही है।

दास प्रथा, सामंतवाद या सर्वहारा जैसी परिस्थितियों के कारण पश्चिमी समाज में पारिवारिक सम्बन्धों के पनप सकने लायक माहौल ही नहीं रहा। आज हम यूरोप में जिस परिवार के टूटने की इतनी बात करते हैं वह केवल परिवार की एक १९ वीं सदी वाली आदर्शीकृत अवधारणा का टूटना ही है। यही वजह है कि इस टूट की या तो पश्चिमी समाज के वे मध्य स्तरीय लोग ज्यादा बात करते हैं जिन्हें अपनी शिक्षादीक्षा के दौरान परिवार की यह आदर्शीकृत अवधारणा घुटाई गई थी या फिर हमारे जैसे लोग उसकी ज्यादा बात करते हैं जो इस तरह की रूमानी अवधारणाओं को पाले हुए हैं। पश्चिम का सामान्य व्यक्ति, जिसे अपने यहां की परिस्थितियों का सहज ज्ञान है परिवार के टूटने की ऐसी बात करके चिन्तित नहीं होता।

पश्चिमी यूरोप या अमेरिका में सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण व व्यक्तिगत स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों ने इस बात की तो कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी थी कि वहां समाज जैसी कोई चीज उभर सके। यूरोप के स्लाव इलाकों में समुदाय बनाने की तरफ प्रवृत्ति जरूर दिखाई देती है जैसा कि रूसी मीर से दिखता है। हो सकता है कि कुछ जर्मन इलाकों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति रही हो जैसी कि जर्मन मार्क से लगता है। इसके अलावा सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण व व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचार के बावजूद पश्चिमी यूरोप में समाज की मान्यता पूरी तरह नहीं मर पाई। समय समय पर विभिन्न समुदाय बनते रहे। लेकिन वे ज्यादातर असहमत लोगों द्वारा बनाए गए। उन लोगों द्वारा जो उस समय के धार्मिक या वैचारिक आग्रहों के खिलाफ खड़े हुए थे। यह समुदाय एक केन्द्रीकृत और व्यक्तिवादी ढांचे में दुर्लभ सामाजिक इकाईयों की तरह थे।

भारत और एशिया व अफ्रीका के बहुत से इलाकों में, यहां तक कि यूरोपीय लोगों का नियंत्रण होने से पहले तक, अमेरिका में भी समाज की अवधारणा गहरे स्तर पर रही है। इसलिए यहां व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक दूसरी दृष्टि से देखा गया। परिवार और शिक्षा के स्वरूप और उनकी संस्थाओं के अर्थ और ढांचे के बारे में भी यहां के

लोगों ने भिन्न तरीके से सोचा।

काफी पुराने समय से भारत के लोग अपने आपको गांव, कस्बे या तीर्थों को केन्द्र बनाकर अथवा जाति या उद्योग-धंधों को केन्द्र बना कर संगठित करते रहे हैं। लेकिन इनमें से कोई भी संगठन दूसरे से अलगथलग नहीं होता था। उदाहरण के लिए हर व्यक्ति स्थानीय इकाई का भी सदस्य होता था, जाति का भी और शिल्प या उद्योग व्यापार सम्बन्धी श्रेणी का भी। इसी तरह स्थानीय इकाइयाँ, जातियां और विभिन्न शिल्पों की श्रेणियां भी अपनी तरह की दूसरी इकाइयों से या दूसरी तरह के संगठनों से जुडी होती थीं। कोई आदमी किसी एक जाति का सदस्य है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह दूसरे उद्देश्यों से बने संगठनों में अपनी इच्छा से भाग लेने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उदाहरण के लिए वह किसी भी विद्या परम्परा, कला परम्परा, धार्मिक सम्प्रदाय या शिल्प से जुड़ने के लिए स्वतंत्र था। दुनिया के दूसरे देशों की तरह इन संस्थाओं से और वर्गों से उसके सम्बन्ध अस्थायी ही थे जबकि अपनी जाति या अपने देश से वह कहीं गहरा और स्थायी सम्बन्ध महसूस करता है।

भारत के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि एक सभ्यता के नाते तो वह बहुत पुराने जमाने से ही इकाई माना जाता रहा है लेकिन उसकी बुनियादी राजनैतिक इकाइयां तो किसी छोटे इलाके में ही सीमित होती थीं। भारत के इतिहास में ये राजनैतिक इकाइयां सैकड़ों में नहीं तो दर्जनों में तो रही ही हैं। यहां चक्रवर्ती राजा की अवधारणा भी रही है। राम, अशोक या चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को चक्रवर्ती सम्राट माना जाता रहा है। इसी तरह चोल या विजय नगर के राजा, यहां तक कि अकबर चक्रवर्ती राजा होने का सपना संजोते रहे। लेकिन चक्रवर्ती राजा तो एक पद था जिसे दूसरे राजा श्रेष्ठता के कारण सम्मान देते थे। उसी तरह जिस तरह कि किसी संन्यासी, ऋषि, किसी महान कवि या विद्वान को श्रेष्ठ समझ कर उसे सम्मान दिया जाता है।

चक्रवर्ती सम्राटों में अनेक गुण होते होंगे या अनेक तरह की प्रतिभाएं होती होंगी। लेकिन उनका भारत पर प्रशासन नहीं चलता था और न ही उन्हें देश के सभी हिस्सों का राजस्व हासिल होता था। उन्हें पूरे देश की सेना के सर्वोच्च अधिपति जैसा भी कुछ नहीं माना जाता था। यह सब काम और अधिकार तो उन लोगों के पास थे जो बुनियादी राजनैतिक इकाइयों में शासन करते थे। इन बुनियादी राजनैतिक इकाइयों में हजारों स्थानीय इकाइयां या नाडू और खाप जैसी बड़े क्षेत्र में फैली हुई इकाइयां शामिल थीं। जिस तरह के सम्बन्ध चक्रवर्ती राजाओं और स्थानीय राजाओं के बीच थे उसी तरह के सम्बन्ध इन राजाओं और स्थानीय इकाइयों के बीच रहे होंगे। इस तरह सम्प्रभुता तो

दरअसल स्थानीय इकाई में ही होती थी। उससे ऊपर की राजनैतिक इकाइयों के पास तो केवल वही अधिकार और कर्तव्य तथा साधन होते थे जिन्हें उनको सुपुर्द किया गया हो। ये अधिकार और कर्तव्य या राजस्व सम्बन्धी साधन कुछ इलाकों में काफी मात्रा में उन्हें सुपुर्द किए गए हो सकते हैं। लेकिन ऐसे मामलों में भी उनकी शक्ति मुख्यतः प्रशासनिक ही थी।

इन राजाओं को अपने आप में कानून नहीं माना जाता था। शासन के विधिनियमों की व्याख्या तो धर्म द्वारा स्थानीय रीतिरिवाजों द्वारा पहले से ही हुई रहती थी। इस व्याख्या को समय समय पर जातियों या औद्योगिक श्रेणियों द्वारा सामूहिक विचार-विमर्श के जरिए बदला या सुधारा जाता रहता था। सभ्यता के नीति निर्देशक तत्त्वों के बारे में बड़े ऋषियों या विद्वानों द्वारा नई नई व्याख्याएं की जाती रहती थी। इस सारी व्यवस्था में बहुत सी कमजोरियां रही होंगी। उसके कुछ पहलू बराबरी की मानवीय भावना भी कभी कभी लांघते नजर आ सकते हैं। यह व्याख्या व्यक्तिगत या जातीय महत्वाकांक्षाओं से भी प्रभावित होती रही होगी। ये सब कमजोरियां हमारे यहां भी उसी तरह आती रही होंगी जिस तरह दूसरे सभी राजनैतिक और सामाजिक संगठनों में पाई जाती हैं। इन सब कमजोरियों के बावजूद जिस तरीके से भारत के लोग अपने आपको संगठित करते रहे वह हमारे लिए महत्त्व रखता है। इसके आधार पर हम अपने बारे में सही समझ बना सकते हैं। हमारे यहां आज भी नए नए समुदाय उसी पुराने तरीके पर बनते रहते हैं और अपने दायरे में वे काफी स्वायत्तता हासिल कर लेते हैं।

१०. भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था – २

इस तरह हमारे यहां परिवार एक व्यापक और अन्तर्गठित समाज का अंग रहा है। वह अनिवार्य रूप से कुटुंब, गोत्र, जाति और देश से जुड़ रहा है। इसलिए यह पतिपत्नी और बच्चों की छोटी इकाई में कभी सीमित नहीं रहा। परिवार के दैनिक काम जैसे निवास, भोजन बनाना, साफसफाई आदि इस बुनियादी इकाई में सीमित रह सकते हैं। लेकिन सम्बन्धों के मामले में पतिपत्नी या बच्चे, सभी अनेक स्तरों पर जुड़े होते हैं। हमारे यहां विवाह को शायद ही कभी व्यक्तिगत घटना माना जाता हो, वह तो एक सामाजिक घटना है। विवाह के सूत्र में बंधने वाले युवक या युवती के बीच में चाहे जितना गहरा आकर्षण रहा हो, उनका विवाह तो उनकी जाति और गोत्र या कुटुंबों के बीच हुआ रिश्ता ही माना जाता था, और स्थानीय समाज के लिए वह एक महत्त्वपूर्ण घटना होती थी। इन सामाजिक सम्बन्धो के कारण कभी कभी विवाह के इच्छुक युवक और युवतियों की स्वतंत्रता में जरूर बाधा पड़ती होगी लेकिन मुसीबत में या जरूरत पड़ने पर यह कौटुंबिक और सामाजिक रिश्ते ही जीवन की अनेक समस्याओं को आसान कर देते होंगे।

इन सामाजिक सम्बन्धों और विवाह सम्बन्धों के कारण शिक्षा या दूसरे सभी सामाजिक कार्य समाज की जरूरतों और समुदायों के अपने काम धंधे की जरूरतों से निर्धारित होते रहे हैं। यही वजह है कि अधिकांश लोगों की शिक्षा ऐसी संस्थाओं में होती थी जिन्हें हम आज पड़ोस के स्कूल जैसी कोई संज्ञा दे सकते हैं। शिक्षा के बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह विभिन्न शिल्पों के विशेषज्ञ माने गए लोगों द्वारा दी जाती थी। ये लोग छात्र के मातापिता भी हो सकते थे। शास्त्री या अधिक विशेषता वाली शिक्षा तो विद्यालयों और विद्यापीठों में ही दी जाती थी और वे आज के स्कूलों और कॉलेजों या उच्च शिक्षा संस्थानों जैसे ही थे।

हमारे भारतीय समाज में जीवन की दिशा तय करने के बारे में, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बारे में और समाजिक सुरक्षा के बारे में क्या स्थिति थी और प्राचीन यूरोप या आज के यूरोप के स्त्रीपुरूषों और बच्चों को जो कुछ और जितना कुछ हासिल हो

रहा है, इन दोनों की तुलनात्मक स्थिति को तो गहरे विश्लेषण और बहस से ही समझा जा सकता है। इस विश्लेषण और बहस के जो भी नतीजे निकले, लेकिन हमें अपने भविष्य के बारे में फैसले लेने से पहले यह गारंटी जरूर कर लेनी चाहिए कि दोनों सभ्यताओं की बुनियादी अवधारणाओं के बारे में कोई घालमेल और गलतफहमी न रहे। हर सभ्यता को अपने विचारों का ढांचा समझ लेना चाहिए और उसके हिसाब से दुनिया को देखते और समझते हुए अपने भविष्य की तस्वीर बनानी चाहिए।

हमारे यहां आज पुराने ढांचे और तौरतरीकों के अवशेष तो दिखाई दे सकते हैं लेकिन वह तेजस्विता नहीं जो १९५० के आसपास भी दिखाई देती है। करीब दो सौ साल पहले अंग्रेजी शासन के शुरू होने के साथ साथ हमारे समाज और हमारी राज्य व्यवस्था में एक गहरी दरार पड़ गई थी। उससे भी पहले उत्तर और पश्चिम भारत के मुस्लिम शासित इलाके में भी राज्य और समाज में खाई देखी जा सकती है। मुस्लिम शासकों का शासन करने का ढंग और मुहावरा भी भारतेतर विचारों में ढला था। राज्य और समाज के इस अलगाव ने मुस्लिम शासन के दौरान दोनों को ही एक दूसरे के बारे में शंकाग्रस्त रखा और उससे दोनों ही कमजोर हुए होंगे। इस जड़ता और कमजोरी के कारण ही बाद में यूरोपीय लोग हमें जीत सके और पराधीन बना सके।

अंग्रेजो के जमाने में राज्य और समाज की खाई के और खतरनाक परिणाम निकले। उसने भारतीय समाज को सब तरह से बाँट और तोड दिया। समाज की बुनियादी इकाईयां जीवनमरण के संघर्ष में पड गईं, और अपने भीतर सिकुड़ती चली गयीं। इसने भारत को कायरता, गरीबी और अराजकता में पहुंचा दिया। दूसरी तरफ राज्यतंत्र निरंकुश होता चला गया। उसमें कर्तव्य की सारी भावना नष्ट हो गई और वह आशंकाओं से इतना भर गया कि लोगों में होने वाली जरासी फुसफुसाहट उसे अपने लिये बड़ी चुनौती नजर आने लगी और वह उसमें अपने अस्तित्व के लिये ही संकट देखने लगा।

राज्य के बड़ी नाजुक स्थिति में होने की यह भावना अंग्रेजों के समूचे शासन काल में बनी रही। खास तौर पर १८२० में, १८५७-५८ में और १८९३ के गोहत्या विरोधी व्यापक आन्दोलन के दौरान तो अवश्य ही। तथा १९३०-३१ के नमक सत्याग्रह के दौरान वह काफी गहरी दिखाई देती है। उस समय तो इस भावना का थोडा बहुत होना समझ में आ भी सकता है। मगर यह भावना तो अंग्रेजों के जाने के बाद भी हमारे राज्यतंत्र में बनी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे राजनैतिक ढांचे में कहीं कोई भारी गडबड़ी है।

इस गडबडी की जडें तो दरअसल और भी ज्यादा गहरी हैं। १९४७ से पहले आजादी हासिल करने के लिये या जैसा कि अंग्रेजों ने कहा है सत्ता के हस्तान्तरण के लिये जिस तरह की बातचीत चली और जिस तरह के समझौते किये गये, उनका बाद में जो कुछ परिणाम हमारे सामने आ रहा है उस पर काफी असर पडा है। इन समझौतों का मुख्य उद्देश्य उन लोगों के पक्ष में इतिहास का चक्र मोडना था जो पश्चिमी विचारों के ढांचे में ढल चुके थे, और उन लोगों को किनारे करना था जो देसी तौर तरीकों की वकालत करते रहते थे। पश्चिमी विचारों में ढले हुए आधुनिकतावादी और अपने समाज से कटे हुए लोग कोई रातों रात नहीं पैदा हो गये थे। वे लोग कोई एक शताब्दी में फले फूले हैं। विशेषकर १८२९ में जब ब्रिटिश गर्वनर जनरल बेंटिक ने यह लिखा था कि पुराने जमाने में जो साधन गरीबों और ब्राह्मणों को बांटने में खर्च किये जाते थे उन्हें अब यूरोपीय लोगों के स्वागत और मनोरंजन पर खर्च किया जाता है। बेंटिक इस समाचार से सन्तुष्ट हुआ था कि निरर्थक कामों में खर्च किया जाने वाला पैसा बहुत बड़ी हद तक घटा दिया गया है।

१९४६ से १९४९ के बीच स्वतंत्र भारत का संविधान जिस तरह तैयार किया जा रहा था उससे भी इन परिस्थितियों को समझा जा सकता है। स्वतंत्र भारत के जन प्रतिनिधि इस संविधान पर विचार करने के लिये संविधान सभा के रूप में बैठे जरूर पर करीब करीब हर मामले में उन्हें अंगूठा लगाने की ही भूमिका निभानी पड़ी। इस संविधान को बनाने के लिये विशेषज्ञों की कई समितियां बनाई गयी थीं। मगर उनके अधिकांश सदस्य दूसरे कामों में व्यस्त थे। इसलिये हमारे संविधान का प्रारूप भारत पर शासन करने के लिये खड़े किये गये अंग्रेजी ढांचे के आधार पर ही बनाया गया था। उसमें जहाँ तहाँ यूरोप के देशों या अमेरिका के संविधान के प्रारूप के अनेक पहलूओं पर काफी गरमागरम बहस हुई। लेकिन उसके बुनियादी ढांचे में कोई खास परिवर्तन नहीं किया जा सका। इसके लिए यह तर्क दिया गया कि कोई बडे परिवर्तन किये गये तो संविधान निश्चित कर दी गयी तारीख तक तैयार नहीं हो पायेगा और लटक जायेगा। संविधान का यह प्रारूप दो लोगों ने, कानून मंत्री और संवैधानिक सलाहकार ने तैयार किया था।

पहले से तय की गयी निश्चित तारीख तक संविधान बना देने की मजबूरी की बात संवैधानिक सलाहकार ने संविधान सभा के अध्यक्ष के सामने तब रखी जब इस बात को लेकर गरमागरम बहस छिड़ी हुई थी कि हमारे नये राजनैतिक ढांचे की बुनियादी इकाई क्या होनी चाहिए। वे स्थानीय इकाईयां जो पुराने जमाने से हमारे राजनैतिक ढांचे की बुनियाद बनी हैं या कि बालिग व्यक्ति जैसा कि पश्चिमी दुनिया में होता है। इस

मुद्दे पर पूरी तरह विचार नहीं होने दिया गया। संविधान बनाने की तारीख को कुछ इस तरह पवित्र मानकर यह बहस रोक दी गई जैसे कि कोई शुभ मुहूर्त टल जाने वाला हो। संविधान के प्रारूप में नयी बातें जोड़ी जरूर गयीं लेकिन उनसे संविधान का परिमाण ही बढ़ा होगा और उस संविधान को तकनीकी दृष्टि से चुस्त दुरुस्त बनाया गया होगा। लेकिन जहां तक भारतीय पद्धतियों के अनुरूप ढालने की बात है, कुछ नहीं किया गया। भारतीय जरूरतों के लिहाज से यह संविधान बिल्कुल ही बेमेल है और अनजाने ही उसने हमारे राजनैतिक ढांचे को अंग्रेजी शासन वाले जमाने से भी ज्यादा जड़ बना दिया है।

११. भारत का पुनर्निर्माण

कुछ वर्ष पहले हमारे देश में स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगाँठ का उत्सव धूमधाम से मनाया गया। उत्सव के शुरू में चार पाँच दिन तो भारत की लोकसभा व राज्य सभा में इस स्वतंत्रता की परिभाषा और आधारों को लेकर काफी कुछ कहा गया। देश के अपने आदर्शों, मर्यादाओं, विज्ञान और तकनीक पर चर्चा रही। वर्ष के अन्त में देश की अपनी कला से सम्बन्धित उत्सव हुए, और इनमें न केवल भारत के कोने कोने के गान, नृत्य, कथायें सामने आईं अपितु निकटवर्ती बौद्ध देशों के विद्वानों और कलाकारों ने भी भाग लिया। काशी में रामायण और मध्यप्रदेश में आल्हा-ऊदल प्रमुख रहे और कुछ ही दिन पहले केरल में एक वर्ष की भगवद्गीता का अभियान भी आरम्भ हुआ।

इस तरह का उत्सव मनाना तो ठीक है। लेकिन इस पचास बरस की स्वतंत्रता के बाद अधिकांश लोगों को, शायद जो भारत का तंत्र चलाने में लगे हैं उनको भी, लगा कि इस पचास वर्ष की उपलब्धियाँ नये भारत को खड़ा करने में उसका आधार बनाने में काफी नहीं हैं। १९४२ में, जब कि भारत में जोरों से कहा जा रहा था अंग्रेजों वापिस जाओ, उस समय अंग्रेजी और अमरीकी सरकार के बीच भारत का क्या किया जाए इस विषय में कुछ बातचीत चलती थी। उस समय अगस्त १९४२ में अमरीका के राष्ट्रपति रुझवेल्ट का अंग्रेजों को यह सुझाव था कि वे चाहे जो भी कदम भारत के बारे में उठाएँ लेकिन उन्हें यह ध्यान रहे कि (अन्त में पश्चिमी दृष्टि यह है कि) भविष्य का भारतवर्ष पश्चिम की 'ऑरबिट' में, छत्रछाया में जीए। रुझवेल्ट ने तो यहाँ तक कहा कि भारतवर्ष के लोग एशियाटिक (एशिया के) नहीं कहे जा सकते, वे तो इंडो-यूरोपियन हैं, और इसलिए यूरोप और अमरीका के करीब हैं, और सम्बन्धी जैसे हैं।

१९४७ में हम जाने अनजाने, रुझवेल्ट की इस सोच पर चलने लगे और जैसा पश्चिम चाहता था उसकी ऑरबिट में, छत्रछाया में रहने लगे। इससे हम देश के और स्वतंत्रता के ध्येय से तो हटे ही, अंग्रेजों द्वारा स्थापित किए गए शासन तंत्र से (जिसमें शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य, बैंक, स्टॉक मार्केट और अन्त में कृषि व पशुपालन भी बँध गया) घनिष्ठता से बंध जाने के कारण देश के ९०-९५ फीसदी लोगों से भी अलग हो

गए। परिणाम यह हुआ कि अब हमारे यहाँ शासन व तंत्र से जुड़े लोग ही (जिन्हें शासन पालता-पोसता है) पहले दर्जे के नागरिक रह गये। बाकी सब तो देश में रहते हुए भी, दूसरे दर्जे के बन गए। जो साहस, आत्मविश्वास, देश को बनाने का उत्साह, सन् १९४७ से पहले आया था, उस पर पिछले पचास बरस ने बहुत हद तक पानी फेर दिया। जब १९४२ में रुझवेल्ट ने यह सुझाव दिया कि भारतवर्ष पश्चिमी 'ऑरबिट' में (छत्रछाया में) रहे, तो उनका व अंग्रेजों का शायद यह तात्पर्य नहीं रहा होगा कि हम उनकी तरह शक्तिशाली, संपन्न व आधुनिक बन जाएँ। लेकिन जब हमने अपने से १९४५-४७ में उनका रास्ता पकड़ा तब अगर हमारे में, यूरोप कैसे बना, इसकी समझ व शक्ति होती तो हो सकता है हम इन पचास बरसों में यूरोप व अमरीका जैसे बन जाते, जैसे कि जापान १८८५ से १९३० के दौरान बन ही गया। लेकिन हमारे में ऐसी शक्ति व समझ न तब थी, न अब दिखती है।

आज देश में जो हो रहा है वह तो एक बहुत निचले स्तर का यूरोप व अमरीका का अनुकरण हो रहा है। यूरोप का वैचारिक प्रभाव तो हमारे यहाँ १८२० से शुरू हो गया था; यह क्रमशः बढ़ता गया और शायद १९०० तक देश का राजनैतिक, शैक्षणिक व व्यापारिक नेतृत्व इससे प्रभावित लोगों के हाथों में चला गया। शायद २५-३० बरस (१९१५-१९४५ तक) यह प्रभाव कुछ घटा और दब सा भी गया। लेकिन १९४५ के बाद तो पश्चिमी प्रभाव में आए लोग फिर से आगे आए और १९४७ में उन्होंने ही देश को चलाने की बागडोर संभाली। बृहत समाज और उसका नेतृत्व व संचालन करने वाले पीछे खदेड़ दिये गए। अगर उनमें से कुछ राजनीति में रह भी गए तो उनका काम केवल हाथ उठाने का रह गया है। पिछले ५० बरस में यूरोपीय वैचारिक प्रभाव में पढ़े लोगों की संख्या व नेतृत्व बढ़ा ही है। केवल उनमें यूरोपीय शक्ति व समझ अनेक कारणों से कुंठित रह गई है।

आज हम अपने बृहत समाज व जन को भी पश्चिमी विचार की, विज्ञान की, तकनीकी की, व्यवस्थाओं की जंजीरों से बाँधकर पूरे दासत्व की ओर ले जा रहे हैं। यूरोप और अमेरिका की तो प्लेटो और अरस्तू के समय से ही मान्यता है कि दासत्व ही साधारण मानवसमाजों के लिए उचित व्यवस्था है। यूनानी और ईसाइयत के विचार से भी समग्र प्रकृति, उसके पर्वत, नदियां, झरने, समुद्र, वृक्ष, पशु पक्षी, कीडे-मकोडे इत्यादि मनुष्य के उपयोग के लिए ही बने हैं। मनुष्य उन्हें जैसे चाहे रखे। यूनानियों और यहूदियों के 'ओल्ड टेस्टामेंट' के हिसाब से (जिसे ईसाई व इस्लाम दोनों मानते हैं) मनुष्य मनुष्य में भी फर्क है। कुछ थोड़े ही मनुष्य मनुष्य माने जा सकते हैं, बाकी तो

पशु व शेष प्रकृति के समान हैं। आवश्यकता होने पर राजपुरुष उन्हें बगैर किसी कानूनी व्यवस्था में पड़े मार सकते हैं, जैसे कि किसी पागल कुत्ते को। पिछले १००-२०० वर्ष की यूरोप व अमरीका की समृद्धि व बदलाव के होते हुए भी मूलतः यूरोप और अमरीका के लोग आज भी दासत्व के स्तर पर ही हैं। अगर ऐसी मूल स्थिति उनकी है तो बाकी संसार के मनुष्य और दूसरे प्राणियों को तो कभी भी समाप्त किया जा सकता है।

ऐसी स्थिति में से हम निकलना चाहते हों तो हमें अपने देश की परम्पराओं, मान्यताओं, विद्याओं और भारतीय स्वभाव के आधार पर नया भारत बनाना शुरू करना चाहिए। अंग्रेजों से मिले तंत्र व व्यवस्था को पूरी तरह छोड़ने का हमें शीघ्र ही निश्चय कर लेना चाहिए, और ऐसी योजना बनानी चाहिए कि अधिक से अधिक २०-२५ बरस में हम अपने पाँवों पर खड़े हो जाएँ, हमारी अपनी व्यवस्थाएँ पूरी तरह स्थापित हो जाए और अंग्रेजों के दिए तंत्र व्यवस्था को हम ताक पर रखें, पुराने लेखागारों में कभी अध्ययन के लिए रख दें।

हमें सभी बातें कुछ नए सिरे से करनी होंगी। हमें ऐसा मान लेना चाहिए कि पिछले २००-२५० बरस हमारे लिए विपत्ति के ही रहे हैं और उनमें जो कुछ हुआ उससे भारत वर्ष में रहने वालों का विनाश ही हुआ। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हमारी शुरूआत १७०० या १७५० में जो था उसी से होगी। पिछले दो ढाई सौ बरस में हमारे यहाँ जो बदला है, उसमें से शायद कुछ हम अपने काम में ले पाएँ। आगे भी, बाकी पृथ्वी पर पिछले पचास बरसों में जो बदलाव आए होंगे उनमें से भी कुछ हमारे काम के हो सकते हैं। लेकिन, बाहर का जो भी हम अपनाएंगे वह हमारे अपने विचारों, आधारों और स्वभाव के अनुकूल होगा तभी वह हमारे काम का होगा।

आज सबसे पहले तो हमें अपनी कृषि, वनव्यवस्था व पशुपालन पर ध्यान देना होगा। ये ही हमारे समाज के मुख्य भौतिक आधार हैं। पश्चिम से आए हुए तरीकों को छोड़कर, हमें अपने तरीकों, बीजों, फसलों, सिंचाई व्यवस्थाओं पर आना होगा और जो आवश्यक बदलाव उनमें करने हों वे भी करने होंगे। हमें अपनी उपज भी बढ़ानी होगी, जैसे कि वह १८०० से पहले होती थी और यह भी देखना होगा कि देश में कोई भी (मनुष्य, पशु या अन्य जीवजन्तु) भूखा नहीं रहे। पशुओं और मनुष्यों का भूखे रहना हमारे लिए सबसे बड़ा अभिशाप है।

यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष जल्दी से जल्दी विदेशों से अनाज, तेल और खानेपीने के दूसरे सामान लेना बन्द कर दे। हमारे महाद्वीप जैसे देश में सभी कुछ पैदा किया जा सकता है। किसी पदार्थ की कमी होगी तो हमें उतनी कमी को सहन

करना चाहिए। विदेशों को हमारी कुछ पैदावार की विशेष आवश्यकता रहे तो हमें उन्हें कुछ एक फीसदी के करीब तक देना उचित ही है।

भारत केवल कृषिप्रधान देश नहीं था। पिछले १०-१२ बरसों के अध्ययन ने यह बतलाया है कि १७५० के करीब भारतवर्ष और चीन के क्षेत्र में कुल विश्व का ७३ प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन होता था। १८२० में भी यह उत्पादन ६० प्रतिशत तक रहा। सैकड़ों वस्तुएँ तब बनती होंगी। यह सब हमें दोबारा आज की आवश्यकता के अनुसार स्थापित करना पड़ेगा।

हमारे बच्चों का पालन और शिक्षा पिछले १५०-२०० वर्षों में बुरी तरह से बिगड़ी है। इसे फिर से ढंग से व्यवस्थित करना होगा। गाँवों, कस्बों व शहरों के मुहल्लों में नई शुरुआत तो अभी से हो सकती है। इसमें आवश्यकता है कि स्थानीय युवा वर्ग का इस काम में सहयोग मिले। शिक्षा का रूप क्या होगा इस पर सोचना और उसको कार्यान्वित करना हमारी दूसरी प्राथमिकता है। ६ से १२-१३ बरस तक की शिक्षा का ध्येय तो यह होगा कि इन बरसों में हमारे बच्चे सृष्टि, प्रकृति और उसमें रहने वाले सब जीवों से परिचित हो जाएँ, उनका जीवन और स्वभाव समझें, उनसे मित्रता बनाएँ और १२-१३ बरस की उम्र में अपने को अपने देश और गाँव, नगर इत्यादि का नागरिक मानने लगें और समाज की वार्ता में बराबर का भाग लेने लगें। जो भी जीवन को चलाने का काम उन्हें करना होगा वह मुख्यतः तो इसके बाद दो तीन बरस में सीखा जा सकता है। अगले एक बरस में अगर देश की भिन्न भिन्न भाषाओं में ८-१० पुस्तकें इतिहास, भूगोल, स्थानीय प्रकृति और दूसरे जीव इत्यादि पर लिखी जा सकें तो इस शिक्षा की रूपरेखा बनाने में बहुत सहायक होंगी।

अपने पड़ोसियों को भी, जिनके साथ हमारा हजारों वर्षों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, फिर से समझना जरूरी है, क्योंकि आज हम यूरोप व अमरीका से चालित दुनिया में रहते हैं इसलिए इनको भी और इनकी मान्यताओं, स्वभाव इत्यादि को भी, समझना हमारे लिए आवश्यक है। वैसे यूरोप और अमरीका से हम मित्रता रखते हुए भी, उनसे आवश्यक दूरी रख सके तो वह हमारे लिए ही नहीं सभी के लिए शुभ रहेगा।

यह आवश्यक है कि हम अपने करीब के देशों से - विशेषतः चीन, कोरिया, जापान, थाईलेण्ड, कंबोडिया, इंडोनेशिया, वियतनाम, श्रीलंका, नेपाल, म्यांमार (बर्मा), बांग्लादेश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान से करीबी सम्बन्ध दोबारा कायम करें। पिछले ५०० बरसों में हमारे ये सम्बन्ध टूटे और शिथिल हुए हैं। लेकिन इन देशों के सोच व स्वभाव हमारे देश के सोच व स्वभाव से बहुत मिलता जुलता है। यहाँ तक

कि इन सब देशों में गौतम बुद्ध का प्रभाव भारत से गया। उसी समय या उससे भी पहले से इनमें से अधिक देशों में रामायण व महाभारत का प्रसार भी रहा, और इन सब में भी अयोध्या नाम के नगर तो मिलते ही हैं, मथुरा नाम के भी। अयोध्या व मथुरा नाम के नगर तो तकरीबन १५०० तक इन देशों की राजधानियाँ हुआ करती थीं।

अपने को समझने और पहचानने के लिए अपने पुराने समाज और जीवन के भौतिक तथ्य जानना भी आवश्यक है। यह काम शीघ्र ही विद्याकेन्द्रों के द्वारा पी.एच.डी., व इसी तरह के अध्ययन कार्यक्रम में होने चाहिए। अगले ६-७ महीने देश के १०-२० क्षेत्रों, जिलों, इत्यादि में ऐसी खोज शुरू की जा सके तो ५-७ बरस के अन्दर हमें अपने पुराने समाज की व्यवस्था, उसका जीवन, विद्या, हुनर इत्यादि के बारे में काफी जानकारी मिल जाएगी।

नए भारत की रचना तभी ठीक तरह से सम्भव होगी जब हम अपनी परम्पराओं, मान्यताओं, धारणाओं और स्वभाव को समझ पाएंगे। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के बाद, उसमें जो हुआ और उससे जो परिणाम निकला, उन्हें समझने के लिए हमारे ऋषि व दूसरे विद्वान बरसों तक नैमिषारण्य में बैठे और आने वाले समय को केन्द्र में रखकर बीते उक्त काल खंड को समझने में लगे रहे। आज का समय भी महाभारत के उक्त काल से कुछ मिलता जुलता ही है। हमारी परम्पराओं, दर्शन और गए समय पर ध्यान रखते हुए आज विचार आवश्यक है। इसके लिए ३-४ नए विद्या केन्द्र स्थापित हों तो हम भविष्य में कैसे क्या करना है, यह निश्चित कर सकेंगे।

अगर सब देशों के दार्शनिक, समाजशास्त्री, मनुष्य की आज की स्थिति को और पिछले ५०० वर्षों में जो स्थिति बनी है, कैसे मनुष्य (पुरुष, और स्त्री दोनों) का आत्मसन्मान घटा है, अकेलापन बढ़ा है और कैसे दोनों एक दूसरे के लिए केवल क्षणिक भोग की वस्तु रह गए हैं, को समझने का प्रयास करते तो हो सकता है पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों का आत्मसम्मान कुछ लौटता और उनके छोटे छोटे प्राकृतिक समूहो में परस्परता फिर से पनपने लगती और व्यक्तियों का आलस्य व उदासीनता कम होती। लेकिन ऐसा तो अधिकतर संसार में अभी होता दिखता नहीं है। फिर भी यह सम्भव है कि जिन क्षेत्रों में बौद्ध मत का प्रभाव रहा है और जहाँ भारतीय व चीनी (इसमें जापान, कोरिया, कंबोज, इंडोनेशिया सभी आ जाते है) मान्यताओं व परम्पराओं का असर रहा है, वहाँ सब जीवों का आत्मसम्मान उनकी अपने समूहों में पारस्परिकता व स्वतंत्रता काफी हद तक शीघ्र ही वापस लाई जा सकती है। आर्थिक समृद्धि अपने में जरूरी है, विशेषतः ऐसे क्षेत्रों में जो पिछले २००-३०० बरसों मे छिन्नभिन्न हो गए हैं और जहाँ

अधिक लोगों में पिछले १५०-२०० बरस से कंगाली का बोलबाला है। लेकिन आत्मसम्मान, परस्परता और सामूहिक स्वतंत्रता आएगी तो आर्थिक समृद्धि भी क्रमशः आ ही जाएगी और समृद्धि की परिभाषा भी नए रूप लेने लगेगी।

जहाँ तक भारतवर्ष की बात है उसका पहला काम तो आज आत्मसम्मान, साहस, परस्परता और समूहिक स्वतंत्रता को देश में शीघ्रातिशीघ्र स्थापित करना है। यह हो जाएगा तो अन्य जटिल प्रश्न भी हल होने लगेंगे।

१२. हमारे सपनों का भारत ?

हमारे सपने १९४७ के दिनों में व १९४२ के करीब क्या थे, यह सोचना आज शायद आसान है। उन दिनों तो एक तीव्र भावना थी, अच्छे अच्छे ख्याल थे कि स्वाधीन होना है, और स्वाधीन होंगे तो सबको सम्मान से भोजन, कपडा, मकान मिलेगा, सामुदायिक जीवन होगा, शान्ति से रहेंगे और विश्व में शान्ति का ही सन्देश देंगे इत्यादि।

लेकिन किसी भी स्वप्न या लक्ष्य का स्वरूप, आत्मबोध तथा आत्मचित्र के आधार पर ही निर्धारित होता है। उस दृष्टि से देखें तो लगता है कि हमारा आत्मचित्र तो बहुत समय से हमारा अपना नहीं है। उन दिनों भी यही स्थिति थी। हमें अंग्रेजों ने और अंग्रेजी शिक्षा ने जो जो सिखा दिया था, उसे ही हम अपना वास्तविक स्वरूप मानने लगे थे। जैसे, अंग्रेजो या उनकी शिक्षा का कहना या उनकी शिक्षा थी कि 'भारत के ऊपर तो सदैव दूसरों ने ही राज किया है, भारत कभी स्वाधीन नहीं रहा ।' वे यह भी कहते थे कि उन्होंने हमें बचा रखा है, नहीं तो इस्लाम व पश्चिम के इस्लामी देश भारत को खा जायेंगे। हमारे इतिहास तथा शास्त्रो के बारे में भी वे जो कहते थे, उसे ही हम पढे लिखे लोगों ने सत्य मान लिया था। बहुत से सुधार आन्दोलन भी उसी मान्यता में से उपजे थे। अपने इतिहास के प्रति ग्लानि तथा हीनता का भाव शिक्षित भारतीयों में गहराई तक घर कर गया था। यह आवश्यक है कि हम में से जो स्वाधीनता की तीव्र भावना से भरे थे, वे भारतीय अतीत के इस तरह से हीन दिखाने के प्रयासों को अस्वीकार करते थे।

यह भी था कि गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में पूर्व और पश्चिम की दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं की बात उठाई और यहां के जनमानस में पहले से ही बैठी अपनी सभ्यता की विशेषताएं दिखाईं । उसका भी कुछ प्रभाव हमारे ऊपर था, लेकिन आधुनिक शिक्षित वर्ग में ज्यादातर तो हवा एक ही थी कि पश्चिम बहुत आगे बढ गया है, हमें भी उसी रास्ते पर तेजी से आगे बढना है। ज्ञान और प्रेरणा दोनों के लिए हम पश्चिम की ओर देखते थे। अपने बृहत् समाज के लोगों की उन्नति करनी है, कल्याण करना है, विकास करना है,

यह भाव तो था; पर अपने समाज से कुछ सीखना भी है, वह स्वयं भी रास्ते की रुकावटें हट जाने पर कुछ कर सकता है, यह भाव बहुत कम था।

विश्व के बारे में हमारी जो धारणा थी, उसमें पश्चिम की शक्ति और सफलताएं ही प्रमुख थीं, उसकी विकृतियां, ऐतिहासिक क्रूरताएं, बर्बरताएं हमारे ध्यान में नहीं थीं। वे संसार के बारे में क्या विचार और धारणाएं रखते हैं, यह हमारी जानकारी में नहीं था। इस प्रकार न तो हमें स्वतंत्र आत्मबोध था, न ही सही विश्वबोध। अपने बारे में भी हमारी मान्यताएं किसी अध्ययन या स्वयं की सोच-समझ पर आधारित नहीं थी।

इसका कोई मामूली असर नहीं हुआ। अधिकांश सुधार आन्दोलन भारतीय इतिहास के प्रति ग्लानि का भाव जगाने वाले बन गए। और तो और, 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का उद्घोष करने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने भी 'ओरायन' में, 'आर्कटिक होम इन ध वेदाज' में इतिहास की पश्चिम वालों की ही दृष्टि अपनाई।

ऐसा नहीं है कि स्वतंत्र विवेक में यह कमी ब्रिटिशकाल में ही आई। वस्तुत: समाज पर पड़ने वाले दबावों का प्रभाव साहित्य आदि में भी होता है। इसलिए हमारे जो महान ग्रन्थ हैं, महाकाव्य हैं, उनको भी उनकी रचना के समय और परिवेश के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए। यह नहीं मानना चाहिए क सभी कुछ प्राचीन काल से एक सा ही है। वाल्मीकि रामायण और तुलसी की रामायण (रामचरित मानस) में जो अन्तर है, वह अधिकांश समय के भेद से ही है। भिन्न भिन्न स्मृतियों में भी अलग अलग व्यवस्थाएं है, इसका कारण भी यही समय का अन्तर है। अगर हम विवेकबुद्धि से उन सबको नहीं देखेंगे तो भ्रान्तियां स्वाभाविक हैं।

संसार के बारे में हमें आज अधिक जानकारी प्राप्त है। उसके प्रकाश में हमें संसार को और स्वयं को समझना चाहिए। लेकिन अभी तो दिखता यह है कि हमारा जो सबल वर्ग है, वह अपने समाज से बौद्धिक और भावनात्मक स्तर पर बहुत समय से दूर होता चला गया है। ब्रिटिश काल में इसने अंग्रेजों के आचारव्यवहार और बोली तथा अभिव्यक्ति की विधियों को अंगीकार कर लिया। इससे ऐसी दृष्टि बनी कि हमारे एक अभिजन राजनेता ने १९४५ में गांधीजी से कहा कि कोई यह कैसे कबूल कर सकता है कि गांव के लोगों में भी कोई सद्गुण और सामर्थ्य है, वे तो पूर्णतया मूर्ख ही हैं।

फलत: समाज के विकास के लिए हमने वे ही तरीके अपनाने शुरू किए जो पश्चिम के थे। १९३८ ई. में श्री सुभाषचन्द्र बोस ने ही एक राष्ट्रीय योजना समिति बनाई थी, जिसके संयोजक वे स्वयं थे और अध्यक्ष थे श्री जवाहरलाल नहेरू। उस समिति ने

भी योजना का जो रूप सोचा, वह पश्चिमी ढंग का ही था।

इस तरह स्वतंत्र भारत में हम जिस रास्ते पर चले, उसकी नींव तो बहुत पहले पड़ गई थी। अब हमें यह समझना होगा कि हर सभ्यता और संस्कृति की अपनी अपनी परम्पराएँ होती हैं, उसके अनुसार ही वे सभ्यताएं विकास किया करती हैं। जैसे १८५० के यूरोप में जो विज्ञान व तकनीकी विकसित थी वह चीन में २००० वर्ष पूर्व ही विकसित हो चुकी थी। लेकिन चीन ने बारुद बनाने की विधियों से उत्सवों आदि में काम आने वाली आतिशबाजियां व पटाखे बनाए, जबकि यूरोप ने अब से पांच छ: सौ वर्ष पहले वही विधि जानकर युद्ध और हिंसा के लिए हथियार बनाये। यह सभ्यताओं की दिशा की भिन्नता के कारण ही हुआ। ऐसा नहीं है कि दक्षिणी या पूर्वी एशिया के लोग विज्ञान और तकनीकी में उन्नत नहीं थे; लेकिन उनकी सभ्यता उन्हें मर्यादा सिखाती थी और हिंसक दिशाओं में बढ़ने से रोकती थी। यह उनकी अक्षमता नहीं उनका विवेक था। भारत में भी इस्पात तथा लोहे के निर्माण की अपनी विकसित विधि थी। सन के पौधे के उपयोग से कागज बनाने तथा इसी तरह अलग अलग वनस्पतियां, आदि से रंगाई के विविध रसायन बनाने की प्रौद्योगिकी भी विकसित थी। हर्षवर्धन के समय में और १८ वीं सदी में भी, उत्तर प्रदेश, बिहार इत्यादि में पानी से बर्फ बनायी जाती रही है। खेती और सिंचाई तथा जलप्रबन्ध की अत्यंत विकसित प्रौद्योगिकी तो थी ही । लेकिन हमने उसमें से कोई विशालकाय और थोड़े से लोगों के पूर्ण नियंत्रण में चलने वाले ठाट नहीं खड़े किए।

यूरोप का स्वभाव प्राचीन काल से ही हिंसक रहा लगता है। विशेषकर इंग्लैंड और अमेरिका तो पिछले पांच सौ बरसों से पूरी तरह हिंसक स्वभाव के रहे हैं। वे दूसरों के अस्तित्व का आगे बढ़ना सह नहीं पाते, सबको अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। पिछले सप्ताह यहीं दिल्ली में अमरीकी विद्वान चोम्सकी ने तो कहा ही है, पर यह केवल उनकी बात नहीं है, बल्कि यह सर्वमान्य है कि यूरोप और अमेरिका स्वभाव से ही हिंसक हैं। और देशों में भी समय समय पर हिंसा तो रही ही है, लेकिन वे अधिकांशत: हिंसा को मर्यादित करते रहे हैं। दक्षिण व पूर्व एशिया के लोग स्वभाव से मुख्यत: अहिंसक ही रहे हैं, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी, हमने तो यूरोप की ही शिक्षादीक्षा, विकासदृष्टि तथा जीवनदृष्टि अपना ली।

स्वतंत्रता मिली, हमें लगा कि चमत्कार हो गया। पर आगे क्या करना है, इसका कोई स्पष्ट चित्र नहीं था। १८ वीं शताब्दी के इस यूरोपीय विचार से ही हम भी भरे हुए थे कि यदि अवसर उचित रहे तो हम लोग भी उनके रास्ते पर चलते हुए उनके बीसवीं

सदी के स्तर पर पहुंच जाएंगे । हमने मान लिया था कि पश्चिमी चिन्तन ही सारे संसार को जीत लेगा, इसलिए जल्दी जल्दी उसी राह पर हम बढ़ चले। लेकिन एकदम से पराई राह पर, अनचीन्हीं, अपरिचित राह पर चलना सबको तो नहीं आता। जिन्हें आता था, वे आगे बढ़ गए; पश्चिमीकृत हो गए ; बाकी यों ही पड़े रहे। इस तरह समाज के शक्तिशाली व सम्पन्न लोगों की साधारण समाज से, बृहत् समाज से, दूरी बढ़ी, विलगाव बढ़ा, आत्मीयता घटी।

फलत: समाज में कई स्तरों पर विभेद उभरे। पहले पुरुषों को अधिक आधुनिक शिक्षा दी गई, तो वे कुछ पश्चिमी उपकरणों, वस्तुओं, साहित्य, मनोरंजन, आदि का उपयोग करने और आनन्द लेने में समर्थ बने। पर भारतीय स्त्रियां ऐसी शिक्षा में नहीं पड़ीं, उनकी भारतीय मानसिकता और सोच टिकी रही। इसलिए घर के भीतर ही विखंडन हो गया; बाहर के कार्यक्षेत्र की बात घर पर कर सकना सम्भव नहीं रहा और स्त्रियों और पुरुषों के संसार अलग अलग होते चले गये। मेरी मां पूछती-बेटा, क्या पढ़ रहा है, तो मैं उन्हें बता नहीं पाता; कहता, तुम समझोगी नहीं। पहले जो लोग रामायण, भागवत, रघुवंश, गीता, महाभारत, पुराण, गणितज्योतिष, पंचतंत्र, हितोपदेश, व्याकरण आदि पढ़ते थे, तो सरलता से मां को व परिवार की दूसरी स्त्रियों, बहनों व बेटियों को उनके विषय में बता सकते थे, क्योंकि वे भी उन्हें समझ सकती थीं, पर अब यह सम्भव नहीं रहा। खेती या पुराने हुनर, शिल्प, कलाकौशल, उद्योग आदि के बारे में तो घर की स्त्रियां भी उतना ही जानती थीं, जितना पुरुष; बल्कि प्राय: स्त्रियां कुछ अधिक ही जानती थीं। तो, पहले ऐसा विखंडन नहीं था, कार्यक्षेत्र के बारे में घर पर बात की जा सकती थी; अब वह नहीं रहा।

इसी प्रकार, सम्पन्न लोगों और बृहत् समाज के बीच संवाद घटता गया। मेटकाफ (अंग्रेज अधिकारी) ने जब १९३० के करीब कलकत्ते में कहा कि इन भारतीयों का कुछ ठिकाना नहीं है, ये तो हवा के साथ चलते हैं, जाने कब हमारे विरुद्ध हो जाएं, तो ब्रिटिश गवर्नर जनरल विलियम बेण्टिक ने कहा कि, नहीं, कलकत्ते के समाज के बड़े लोग तो बदल रहे हैं, हमारे अनुकूल हो रहे हैं, अब वे गोपालन, गोसेवा, ब्राह्मणभोजन, भिक्षा, आदि में खर्च करना बन्द कर रहे हैं, हमारे मनोरंजन में, हमारे सेवा-सत्कार में ज्यादा से ज्यादा खर्च कर रहे हैं; इसलिए हमारे अनुकूल वर्ग बढ़ रहा है।

यह विभेद, यह विलगाव तो शायद १८३० के करीब से बढ़ता ही गया। अभी कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार गया था तो वहां हमारे पंडे की बही में हमारे ही कस्बे के एक व्यक्ति की लिखत थी-१८८५ की, जो अंग्रेजी में थी। जब इतने वर्ष पहले उत्तर प्रदेश

के एक कस्बे में एक व्यक्ति अंग्रेजी को प्रभुत्व की, प्रतिष्ठा की भाषा मान रहा था, तो स्पष्ट है कि भेद तो बढ़ रहा था। वह बाद में गहरा ही होता चला गया।

इस तरह अंग्रेजों की योजना ही सफल हुई। जो उन्होंने चाहा था, अधिकांशत: वही हुआ। वे हमारी अपनी विद्याबुद्धि तो नष्ट करना ही चाहते थे। मैकाले के सामने कुछ अंग्रेज अफसरों ने यह तर्क रखा था कि यहां बंगाल में तो एक लाख देशी स्कूल पहले से हैं, उन्हें हम दस दस रूपया भी प्रति वर्ष दें तो उनका काम चलता रहेगा। उसी में अपने काम के लोग भी निकल आएंगे या हम उनमें से छांट लेंगे। उस पर मैकाले ने कहा कि नहीं, उन्हें कुछ भी देने का कोई औचित्य नहीं है, वह तो व्यर्थ होगा। पहले हम अपने प्रशिक्षकों को प्रशिक्षित करें, फिर वे शिक्षणसंस्थाओं को बनायें और उनके माध्यम से काम करें; तभी हमारी विश्वदृष्टि का ज्ञान इन भारतीयों को होगा। तो इस तरह हिन्दुस्तान को उन्होंने कोरी स्लेट मान लिया था और हमारे भी कुछ लोग तभी से यही मान बैठे थे। उनकी विश्वदृष्टि, शिक्षणसंस्थाओं वगैरह के द्वारा हम तक पहुंची और हमने उसे ही अपना लिया, बिना मनन किए। पिछले ४०-५० वर्षो में तो यह विचार मानस पर छा ही गया। जो लोग १९५० के करीब से ग्राम पुनर्रचना, सामुदायिक विकास (कम्यूनिटी डिवेलपमेंट) इत्यादि चला रहे थे, उन पर तो और भी अधिक।

अभी कुछ दिन पहले प्रख्यात दार्शनिक विद्वान दयाकृष्ण यहां दिल्ली में बतला रहे थे कि १८५० के करीब से, जब अंग्रेजों ने भारत में विश्वविद्यालय स्थापित करने शुरू किये,हमारा आत्मचित्र और आत्मस्मृति बिगड़नी शुरू हुई। हम तबसे स्वयं को और अपने समाज व इतिहास को अंग्रेजों की दृष्टि से देखने लगे। यह कुछ दुर्भाग्य ही है कि हमें यह समझ इतनी देरी से आयी। मेरे विद्वान मित्र श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' का तो यह भी मानना है कि यह समझ भी हमारे काम की तभी होगी जब हम अब तक की नासमझी और गलतियों व मूर्खताओं के लिए प्रायश्चित कर लेंगे। गलती के लिए प्रायश्चित करना ही हमारा धर्म है, यह तो हमारी पुरानी मान्यता है। रूस के प्रसिद्ध लेखक एलेक्जेंडर सोल्झेनित्सिन भी, अपनी सभ्यताओं की मान्यताओं के आधार पर, प्रायश्चित को इसी तरह प्रतिष्ठा देते हैं।

यह तो हमने सोचा ही नहीं कि यह हमारी अपनी विचार परम्परा में से आने वाला अथवा उससे पुष्ट होने वाला विचार नहीं है, बल्कि यह तो पश्चिम का ही विचार है। शायद प्लेटो का भी यही विचार रहा हो, पूंजीवाद और मार्क्सवाद का तो है ही कि लोग कुछ नहीं है, वे तो हमारे द्वारा सुधारे जाएंगे, पीटे ढाले जाएंगे, फिर जिधर हम चाहेंगे, उधर वे चलते चले जाएंगे, हम बढ़ते चले जाएंगे। जब, यह उनका विचार है तो उनमें

इतनी शक्ति भी होती है कि एक समय तक वे पूरे समाज को एक दिशाविशेष में हांककर ले जाते हैं। जैसे, सोवियत संघ ही था। मारपीट, वगैरह जो भी की, पर सत्तर साल तक मार्क्सवाद वहां चला, शायद कुछ बनाया भी। हो सकता है रूस के लोगों को शक्ति भी मिली हो, और उनका सामाजिक आत्मविश्वास तो बढ़ा ही है।

लेकिन वैसी कठोरता हमारे वश की नहीं। और अपनी शक्ति के उदात्त रूपों की, परम्पराओं की हमारी स्मृति जैसे जैसे धुंधली होती गई, वैसे वैसे कोई काम शक्तिवान लोगों की तरह कर पाने में असमर्थ होते गये। भारत में, जहां लोगों को भोजन उपलब्ध कराने का लक्ष्य पूर्ण होना तो कुछ कठिन नहीं था, हमसे वह भी नहीं हो पा रहा है। न ही हम सोच पाए कि यह हमसे हो सकता है। हमारे मन में तो केवल सबको काम देने की बात थी। वह भी ऐसे नए काम, जो हम चाहते थे कि वे सीखें। उनका अपना हुनर, अपनी बुद्धि, अपनी विद्या, अपनी सृजनाशीलता भी सम्माननीय है, यह तो कभी हमें लगा नहीं। न ही उनकी श्रेष्ठ परम्पराओं को प्रोत्साहन देकर और आत्माभिव्यक्ति के अवसर देकर, हमने उन्हें कोई श्रेयस्कर काम करने दिए।

नतीजा यह हुआ कि कुछ उत्पादन, वगैरह तो बढ़ाया पर वह सब निष्प्राण सा रहा। उसमें समाज का मन, बुद्धि, पुरुषार्थ, प्राणशक्ति खिलकर नहीं लगी। नई चीजों की समझ भी पूरी तरह नहीं बनी और सम्बन्ध भी विकसित नहीं हुए। इससे जो कुछ काम हुआ भी, उससे कबाड़ ही बढ़ा। ५० वर्षों में हमने बहुत नया कबाड़ इकट्ठा कर लिया। पुराना कबाड़ भी बहुत सारा था ही। छांटने का विवेक खोकर, हम बस संग्रह करते गये। अलग अलग चीजें कबाड़ जैसी पड़ी रहीं; उनका आपस में कोई रचनात्मक सम्बन्ध बनाना तो हमने सीखा नहीं। विचार के क्षेत्र में, मान्यताओं के क्षेत्र में, रुचियों के क्षेत्र में, भाषा, वेशभूषा, भवन और भोजन के क्षेत्र में, जो भी नवनिर्माण इधर हमने किया, वह तो कबाड़ जैसा ही है। उससे कोई राष्ट्रीय उत्कर्ष तो सम्भव नहीं है। इस कबाड़ को तो हटाना ही होगा। नया ही सृजन करना होगा। क्या करना है, यह मुख्यत: अपने ही लोगों से सीखना होगा, उनसे जिनमें अपनी शक्ति के उदात्त रूपों की और परम्पराओं की स्मृति अभी बची है।

अपनी संस्थाओं, मान्यताओं को बिना किसी कुंठा के समझना होगा। अपनी 'पालिटी' को, अपने राजनीतितंत्र को, सही सही समझना होगा। हमारे बारे में जो जो सिखाया पढाया गया है, उसके बारे में सन्देह करना भी सीखें, सबको निर्देश मानकर स्वीकार न करते चलें, यह बहुत जरूरी है।

यूरोप ने हमें जिस तरह से देखना सिखाया, उसे पुष्ट करने वाले तंत्र भी उन्होंने

रचे। उनका यह स्वभाव ही है। संयुक्त राज्य अमेरिका में रेड इंडियनों (वहाँ के मूल निवासियों) की गणना पुरानी जनगणनाओं में कभी की ही नहीं जाती थी, क्योंकि यूरोप से आए लोग रेड इंडियनों को मनुष्य नहीं मानते थे। इस दृष्टि के फलस्वरूप करोडों की संख्या वाले रेड इंडियनों का वंशनाश ही कर डाला। अफ्रीका से लाये गये 'ब्लैक्स' को भी वे पूर्ण मानव नहीं मानते थे। १८५० के करीब शायद पांच 'ब्लैक्स' को मिलाकर एक मनुष्य मानते रहे। मनुष्य पूरी तरह तो वे केवल खुद को मानते हैं, बाकी उनके लिए आदिम, पिछड़े, बर्बर, अविकसित मनुष्य, कमतर मनुष्य हैं।

भारत में भी ब्रिटिश जनगणना उनकी दृष्टि के हिसाब से की जाती रही। हमारे यहां जाति तो कभी समाज की उस रूप में इकाई रही नहीं। 'जात' शब्द प्रयोग कुलविशेष में जन्मे व्यक्तियों के अर्थ में ही किया जाता रहा है। जाति व वर्ण कोई सामाजिक वर्ग कभी नहीं रहा। पर अंग्रेजों ने उसे इसी तरह से दिखाया। १८८१ व १८९१ की जनगणना में अनेक जातियों में कई कई हजार उपजातियां दिखाई गईं; यह तब से 'कुल' रहे होंगे, ऐसा लगता है। पंजाब में १८८१ में जाटों में १० हजार के करीब उपजातियां दिखाई गई थीं। वे सम्भवत: आज कही जाने वाली खाप थीं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में १८८१ की जनगणना में अनेक जातियों में दो-दो, चार-चार हजार उपजातियां दिखाई गईं। ऐसा ही तमिलनाडु में रहा। स्पष्ट है कि यह 'कुलसमूह' ही थे, जिन्हें उपजाति कहा जा रहा था। बाद में कई उपजातियों को एकजुट करके दर्ज किया जाने लगा। फिर जाति ही मूल इकाई बताई जाने लगी। फलत: हमारा शिक्षित वर्ग भी उसे ही प्राचीन और स्वाभाविक मौलिक इकाई मानने लगा।

इस तरह हर क्षेत्र में हमने समाज की अपनी स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति को अवरुद्ध किया, बाधित किया। दूसरी ओर, बाहर से भी जो लिया, उसे ठीक से आत्मसात् नहीं कर पाये, अपना नहीं बना पाये। संसार में सभी समाज और सभ्यताएं एक दूसरे से सीखते रहते हैं, पर वे सीखी हुई विद्या, जानकारी और हुनर को अपना बना लेते हैं। आत्मसात् करने का यह काम भी हम नहीं कर पाए। इससे केवल कबाड़ और बोझ बढ़ता रहा।

१९४० में महात्मा गांधी, राष्ट्रीय योजना समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) की ग्रामोद्योग उपसमिति (विलेज इंडस्ट्रीज सबकमिटी) की वर्धा की बैठक में मौजूद थे। निर्मल कुमार बोस के अनुसार उस समय गांधीजी की सलाह थी कि परम्परागत (ट्रैडिशनल) और आधुनिक (मॉडर्न), दोनों आस्थाओं व विचारों के लोग अपनी अपनी समयबद्ध विस्तृत योजना बना लें, और बतलायें कि उनमें से क्या निकलेगा और काम

शुरू करें। इस सुझाव में गांधीजी की शर्त थी कि ये दोनों योजनाएं विदेशों से किसी तरह से धन व साधन नहीं लेंगी और जो भी धन व साधन जरुरी होंगे, वे भारत के अन्दर से ही लिए जाएंगे। मुझे लगता है कि गांधीजी के इस सुझाव पर, आज फिर विचार और खुली चर्चा होनी आवश्यक है।

पिछले १५०-२०० वर्षों में यूरोप की सभ्यता ने भीमकाय और चमकीले ढांचे तो अवश्य बनाये। उन्हें अधिक उत्पादक भी माना जाता है और कहा जाता है कि वे मनुष्य की मेहनत को हल्का और आसान करते हैं। यूरोप का स्वचालन (आटोमेशन) का विचार तो २३०० वर्ष पहले अरस्तू ने भी उठाया। परन्तु यह यूरोप के बनाये तंत्र व ढांचे कुल मिलाकर विश्व को व मनुष्य समाजों को कितना अधिक देते हैं, इस पर विचार करना आवश्यक है। ४०-५० वर्ष पहले हमारे मित्र रामस्वरूप ने अपनी पुस्तक 'कम्युनिज्म एंड द पीजैण्ट्री' में आधुनिक उत्पादन (मॉडर्न प्रोडक्शन) के विषय में कुछ प्रश्न उठाये थे। उनका कहना था कि इसका भीमकाय रूप, तेज रफतार और चमकीलापन एक भ्रम पैदा करता है और इसकी जड़ें इसी भ्रम पर टिकी हैं। उनका मानना था कि कुल मिलाकर मॉडर्निज्म से अधिक उत्पादन नहीं होता, उसका भ्रम ही रहता है। रामस्वरूप ने इसको 'साइक्लिक प्रोडक्शन' का नाम दिया था। हमें इस तरह के मूलभूत प्रश्नों पर भी सोचना शुरू करना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि आगे क्या करें ? आज के संसार से हमारे पश्चिमीकृत वर्ग ने जो ज्यादा ही सम्बन्ध बना लिया है, वह अभी टूटता दिखता नहीं। अत: कुछ समय तक तो पश्चिमीकृत समुदाय या वर्ग भी रहेगा और बृहत् समाज भी रहेगा। भारतीय मान्यताओं में तो संसार ने सभी तरह के जीवों को, लोगों को और समाजों को रहना ही है। हिंसकों के लिए भी यहां जगह है। हिंसा पूरी तरह समाप्त हो, यह सम्भव नहीं है, लेकिन हिंसा मर्यादित रहे, यह आवश्यक है।

आज की स्थिति में यह विचारणीय एवं आवश्यक लगता है कि भारत में बृहत् समाज को समुचित साधन व स्वतंत्रता मिले, जिससे बृहत् समाज की इकाइयां अपनी मान्यताओं, व्यवस्था की अपनी प्रणालियों और अपने तकनीकी ज्ञान के आधार पर चल सकें। भारत में कृषि व उद्योग या ऐसे अन्य क्षेत्रों में ८० प्रतिशत उत्पादन तो आज भी परम्परागत भारतीय प्रतिभा के लोग ही करते हैं। आवश्यक साधन व स्वतंत्रता रहेगी तो यह प्रतिभा फूले फलेगी, परिष्कृत होगी और इसके परिष्कृत होने पर यह भी सम्भव हो पायेगा कि पश्चिम के ज्ञान और भारतीय बृहत् समाज के ज्ञान में कुछ संवाद और लेन देन कायम हो सके। बृहत् समाज के पास आवश्यक साधन व स्वतंत्रता आ जाये, पर्याप्त

खुली जगह (स्पेस) मिल जाये, तो वह आत्माभिव्यक्ति करने लगेगा। उसकी आत्माभिव्यक्तियां ही समाज को स्वस्थ, सबल और समृद्ध बनाएंगी।

अभी के आधुनिकीकृत समूहोंने तो समस्त राजनैतिक सत्ता और बल का प्रयोग इन आत्माभिव्यक्तियों को बाधित करने के लिए ही किया है। परिणाम यह है कि भारत दो भागों में बंटा है। पर यह बंटवारा हमें सामाजिक विनाश की ओर ही ले जाता है। एक भाग है उन आधे प्रतिशत लोगों का जो अपने सहायक तथा सेवक वर्ग के सहारे, जो कि लगभग १५-२० प्रतिशत बैठता है, भारत के तंत्र और साधन क्षेत्रों को नियंत्रित करते हैं। दूसरा भाग उन ८०-८५ प्रतिशत लोगों का है, जो अपने अति सीमित साधनों और अवशिष्ट बल से ही जी रहे हैं।

यह सही है कि पश्चिम को इसका अभ्यास रहा है कि ९० क्या, ९९ प्रतिशत तक की आबादी को एक प्रतिशत प्रभुवर्ग दासत्व में बांधकर रखे और उन्हें मशीन जैसा बनाकर काम ले। समय समय पर पश्चिम के औजार इत्यादि बदलते रहे हैं, लेकिन रिश्ता स्वामी और दास का ही बना रहा है। हमारे यहां तो यह संस्कार ही नहीं रहा। इसलिए यहां के लोग जो स्वाधीनता संग्राम के कारण, उसके संस्कारों के प्रभाव से, सम्पन्न वर्ग के प्रति अब तक आत्मीयता और सहनशीलता रखे हुए थे, वे अधिक समय इसे रख और सह नहीं सकेंगे। अत: मनमाने टकराव तथा हिंसा का रास्ता खुला छोड़े रखने से अच्छा है कि दोनों का स्पष्ट न्यायसंगत विभाजन हो जाए। पश्चिमीकृत लोग अपने पश्चिमी किस्म के ढांचों के साथ महानगरों, आदि में रहें; परन्तु उनके साधनस्रोत जरूर घटाने होंगे। अभी की तरह ८५-९० प्रतिशत साधनों का उपयोग केवल उन्हें हि तो नहीं करने दिया जा सकता । लेकिन न्यायपूर्ण साधनस्रोतों के आधार पर अपना जीवन चलाने की पूरी स्वतंत्रता रहे। दूसरी और, ८०-८५ प्रतिशत लोगों को अपने साधनस्रोतों का स्वविवेक से आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करने दिया जाए। उनसे गलतियां भी होंगी; पर गलतियां आधुनिक वर्ग से भी तो कम नहीं हुई हैं।

इस तरह के न्यायसंगत बंटवारे में यह आवश्यक है कि इन लगभग ४८-५० वर्षो में हमने सरकारी और स्वैच्छिक स्तर पर जो नयी योजनाएं बनाई हैं, संयंत्र, बांध, बिजली के प्रतिष्ठान, मकानों और वास्तुकला, आदि की विधियां अपनाई हैं, उसकी पूरी तरह से समीक्षा हो। भारत की कृषिव्यवस्था, भवननिर्माण, वन व्यवस्था, पशुपालनव्यवस्था, वस्त्रनिर्माण व्यवस्था, भवननिर्माण एवं प्रबन्ध जैसे कार्य तो बृहत् समाज की ही जिम्मेदारी रहे। उनकी शिक्षा भी उनके ही अधीन चलनी चाहिए। आधुनिकतावादियों की शिक्षा का उन पर नियंत्रण तथा बोझ न रहे।

जितना बृहत् समाज के लोगों को बाहर का या आधुनिकीकृत वर्ग का लेना तथा आत्मसात् करना होगा, वे कर लेंगे। आत्माभिव्यक्ति के स्वतंत्र अवसर मिले, तो वे आवश्यकतानुसार बाह्य ज्ञान को आत्मसात् भी करते रहेंगे। अपनी सभ्यता, संस्कृति, विद्याकेन्द्रों का नवनिर्माण वे अपने विवेक से कर लेंगे। आपस में स्वतंत्र तथा सम्मानजनक संवाद तथा सम्प्रेषण रहेगा ही। लेकिन बृहत् समाज को हीन मानकर, उनका उद्धार और कल्याण करने की युक्तियां देते हुए, राष्ट्रीय साधनों स्रोतों पर नियंत्रण रखना तो हमें छोडना ही होगा। ऐसे न्यायपूर्ण विभाजन, संयोजन और समन्वय द्वारा राष्ट्र में २०-३० वर्षों के लिये दोनों हिस्सों का शक्तिपूर्ण सह अस्तित्व रह सकना सम्भव है। ऐसे सह अस्तित्व की अवधि में, हमें कुछ अधिक साहस और शक्ति मिली तो हम मिलकर आगे का भी सोच सकेंगे और ऐसे रास्ते व व्यवस्थायें बना सकेंगे जिनके द्वारा हमारा यह टूटा बिखरा समाज फिर से एक होकर आगे बढ़ सकेगा।

१३. अंग्रेजी शासन और तन्त्रव्यवस्था

सन् १७५० से भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते ही, अंग्रेजों ने यहां अपनी जरूरत के मुताबिक व्यवस्था को बदलना शुरू कर दिया था। उसमें सबसे पहला काम तो अंग्रेज अफसरों व सैनिकों के मातहत बढ़ती हुई अंग्रेजी सेना में भारतीयों को भर्ती करना था। दूसरा, और इससे भी अधिक महत्त्व का काम था भारत के खुशहाल खेतिहरों व कारीगरों को अलग अलग तरीकों से अपने अधीन करना और यहां की खेती की उपज के आधे से अधिक भाग कर (टैक्स) के रूप में बंदूक व तलवार के जोर पर वसूल करना। इसी तरह से कारीगरों से जबरदस्ती काम करवाना और उनके उद्योगों से बनी वस्तुओं की कम से कम कीमत देना। आरम्भ में तो ऐसी कार्यवाही मद्रास व बंगाल के क्षेत्र में ही रही, लेकिन सन् १८०० के बाद अंग्रेजों ने धीरे धीरे सारे भारत में ऐसा करना शुरू कर दिया। इसी प्रकार के बदलाव अंग्रेजों के मातहत आये हुए भारतीय क्षेत्रों में भी होने लगे। वहां भी नये तंत्र स्थापित होने लगे।

भारतीय व्यवस्थाओं के अनुसार हर क्षेत्र की अपनी स्थानीय सैनिक व्यवस्थाएं थीं और हर ग्राम व नगर में अपनी स्थानीय पुलिस व्यवस्था भी थी। सेना और पुलिस स्थानीय व्यवस्थाओं के अधीन होती थी। इसी तरह से, जमीन का हिसाबकिताब, उसकी रजिस्ट्री या उनमें आवश्यक तब्दीली करने वाले लोग भी स्थानीय व्यवस्थाओं के मातहत रहते थे। जमीन के हिसाबकिताब से सम्बन्धित लोगों को दक्षिण भारत में कनकपिल्लै और उत्तर में लेखपाल, पटवारी इत्यादि कहा जाता था। इसी तरह से गांव के स्तर पर बढ़ई, लोहार, धोबी, कुंभकार, सिंचाई के साधनों की मरम्मत व व्यवस्था करने वाले, पंचांग और तिथि, शुभ दिन इत्यादि बताने वाले, मंदिरो के पुजारी, देवदासी, गायक और दूसरे कर्मचारी गांव और नगर के मोहल्लों से सम्बन्धित होते थे। गांव में इन सबका कृषि की उपज में हिस्सा होता था। अंग्रेजी शासन ने आते ही सेना, पुलिस, कनकपिल्लै, सिंचाई के साधनों की मरम्मत व काम करने वालों इत्यादि को इस व्यवस्था से पूरी तरह से अलग कर दिया। पुरानी व्यवस्था में इन लोगों को जो मिलता था वह अब मिलना बन्द हो गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार अब उसे कर के रूप में लेने

लगी। इनमें से कुछ लोगों को तो ब्रिटिश सरकार ने अपना नौकर बना दिया परन्तु बाकी बेकार हो गये। अंग्रेजों से पहले भारत में दक्षिण और उत्तर दोनों में, यह प्रथा थी कि किसी का अगर कुछ खो जाता था और पुलिस अगर खोई चीज को तलाश करने में सफल नहीं होती थी, तो पुलिस को जिस व्यक्ति का सामान खोया होता था उसे हर्जाना देना पड़ता था। अंग्रेजी व्यवस्था ने भारतीय पुलिस व्यवस्था को खतम कर दिया और उसकी जगह नई केन्द्रीकृत व्यवस्था लागू की। ऐसा करते ही हर्जाने की बात तो पूरी तरह से समाप्त हो ही गयी। उल्टे कुछ दिनों के बाद ऐसा होने लगा कि अंग्रेजी पुलिस, जिनका कुछ खो जाता था और जो शिकायत दर्ज करवाते थे, उन्हीं के साथ मारपीट करने लगती थी। इसके साथसाथ ही जमीन का लगान अंग्रेजी व्यवस्था ने तिगुना चौगुना बढ़ा दिया और सन् १७९० के आसपास जमीन की मिल्कियत कुछ थोड़े से लोगों को दे दी, जिन्हें जमींदार कहा गया। वैसे इंग्लैंड में ७०० वर्षो से जमींदार होते रहे थे, लेकिन ये जमींदार किसान से कुल फसल का ५०-८० प्रतिशत तक लगान के रूप में ले लेते थे, सरकार को कुल फसल का लगभग १० प्रतिशत देते थे। शेष अपने पास रखते थे। लेकिन बंगाल इत्यादि में जो जमींदार अंग्रेजों ने बनाये वे किसानों से उनकी उपज का करीब ५० प्रतिशत वसूल करते थे और उसमें से ९० प्रतिशत ब्रिटिश सरकार को कर के रूप में देते थे। उनके अपने पास किसान से वसूल किये गए लगान का १० प्रतिशत ही बचता था।

किसान से लगान वसूली की दर में तिगुनी चौगुनी वृद्धि अंग्रेजों के जमाने में हुई। इसलिए इतना ऊँचा कर वसूल करना असम्भव सा हो गया। इसका एक और कारण भी था। भारतीय व्यवस्था में लगान, जिसकी दर वैसे भी काफी कम थी, अनाज के रूप में ही लिया जाता था। परन्तु अंग्रेजों ने बढ़ते हुए लगान को, अनाज के बजाय पैसे में लेना शुरू किया। पिछले १० वर्षों की फसल का दाम इत्यादि निकाल कर भूमिकर पैसे के रूप में निर्धारित किया गया। अंग्रेजी व्यवस्था के आने से गरीबी में भारी बढ़ोत्तरी हुई और उसकी फसल के दाम गिर गये। इसका असर भी किसान पर दोतरफा हुआ क्योंकि उसे लगान अब फसल के बजाय पैसे में देना होता था। मंदी के कारण फसल की कीमत कम होने की वजह से वास्तविक लगान की दर ८० से ९० प्रतिशत तक होने लगी, यानी किसान के पास सिर्फ १० से २० प्रतिशत ही बचता था। इस वजह से लगान वसूलने में मुश्किलें आने लगीं। इसलिए अंग्रेजी तंत्र ने सन् १७९२ में फैसला किया और जमींदार से यह कह दिया कि वह जब चाहे खेतिहर को जमीन से बेदखल कर सकता है। इससे पहले भारत में कभी भी खेतिहर को इस तरह से उनकी जमीन से बेदखल

करने का रिवाज नहीं था। लेकिन अंग्रेजी अधिकारियों का तर्क था कि अगर इंग्लैंड में खेतिहर को वहां का जमींदार निकाल सकता है तो भारत में ऐसा अधिकार और भी जरूरी है, क्योंकि यहां लगान का दर इंग्लैंड से कई गुना ज्यादा है।

क्योंकि इतना बड़ा लगान वसूल करना आसान नहीं रहा होगा इसलिए सेना की टुकड़ियों को, जिन्हें रेवेन्यु बटालियन कहा गया, उन्हें कर वसूल करने के काम में लगाया गया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि सन १८०५-१८०६ तक बंगाल बिहार के अधिकांश जमींदार दिवालिया हो गये। इसके बाद इन जमींदारियों कि नीलामियाँ शुरू हुईं और साहूकार, फौजी ठेकेदार, राजा इत्यादि नये जमींदार बने। यह सिलसिला अगले ४०-५० वर्ष तक चलता रहा और इस दौरान भारत की जनता की एक बड़ी संख्या भुखमरी, अकाल इत्यादि से सन १९०० और उसके बाद तक मरती रही। कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार, 'कुल दुनिया कि लड़ाइयों में सौ वर्ष के अन्दर (सन् १७९३ से सन् १९०० तक) सिर्फ पचास लाख आदमी मारे गये थे पर हमारे हिन्दुस्तान के केवल दस वर्ष में (सन् १८९१ से सन् १९०१ तक) भूख, अकाल के मारे एक करोड़ नब्बे लाख मनुष्यों ने प्राण त्याग दिये' (हिन्दी ग्रंथमाला, मई, १९०८ पृष्ठ ९ और 'भारत भारती', संवत् १९६९, पृष्ठ ८७)। तब मैथिलीशरण जी २६ वर्ष के थे। वे शायद राजेन्द्र प्रसाद व जवाहरलाल नहेरू की उम्र के तब रहे होंगे। हो सकता है कि एक दो वर्ष बड़े भी हों। इससे पहले, सन् १८७० के आसपास भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कहा था कि अंग्रेजों ने भारतवासियों से सब कुछ ले लिया, लेकिन उन्हें भीख मांगना अवश्य सिखा दिया है। महात्मा गांधी जनवरी १९१५ में भारत लौटे थे। ऐसा लगता है कि मैथिलीशरण जी की तरह बहुत से भारतीय गांधीजी के आने की तीव्र प्रतीक्षा कर रहे थे। जब महात्मा गांधी ९ जनवरी, १९१५ को जहाज से मुंबई पहुंचे तब उनका बहुत भव्य स्वागत हुआ। लेकिन ऐसा स्वागत गांधीजी को कुछ अच्छा नहीं लगा। उनके आने के तीन चार दिनों के अन्दर भारत के कई प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों में गांधीजी के आने को लेकर लम्बे लम्बे संपादकीय लिखे गये। मद्रास के 'हिन्दू' में, और इलाहाबाद के 'लीडर' में भी। उन्हें पढ़ने से ऐसा लगता है जैसा कि किसी अवतार की प्रतीक्षा हो रही थी। यह वर्णन कुछ उसी तरह का है जैसा कि गौतम बुद्ध के जन्म का वर्णन अश्वघोष के 'बुद्धि चरित' में किया गया है, कुछ 'ललित विस्तर' में।

अगर यह सही है कि सन् १८९१ से सन् १९०१ तक भारत में भुखमरी के कारण एक करोड़ नब्बे लाख लोग मारे गये तो, अंग्रेजी शासन के शुरू से उसके अन्त तक भारत में २०-२५ करोड़ जन भुखमरी से मरे होंगे, ऐसा माना जा सकता है। इसी

तरह करोड़ों की संख्या में गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ और दूसरे जीव जन्तु भी मरे होंगे। वन और पेड़पौधे तो बहुत बड़ी तादाद में नष्ट हुए ही।

इस तरह के शोषण और अत्याचार के कारण भारतीयों में अंग्रेजो से लड़ने की शक्ति नहीं रह गयी। वैसे तो भारत के लोग कभी भी खूंखार व लड़ाकू नहीं रहे, न ही उन्हें न्यायालयों में जाने का चाव ही था। अंग्रेजी राज्य ने उनके खेतों को छीनकर उद्योगों व घरों को उजाड़ कर, उन्हें न्यायालयों की शरण लेने के लिए एक तरह से बाध्य किया। इन न्यायालयों में असत्य का सहारा लेना आवश्यक-सा हो गया। अंग्रेजों ने जो न्यायलय स्थापित किये उनमें अब तक भी यह बात ज्यादा चलती रही कि भारतीय असत्य ही बोलते हैं। उन्हें असत्य बोलना उनके वकीलों और कर्मचारियों एवं न्यायालयों ने ही सिखाया।

जैसे जैसे न्यायालय स्थापित हुए वैसे वैसे ही अंग्रेजी राज्य में जिलों को चलाने के लिए दूसरे तंत्र भी स्थापित हुए। तालुकों को चलाने के लिए तंत्र बने। प्रदेशों को चलाने के लिए तंत्र बने। भारत को चलाने के लिए तंत्र बने। जितना अंग्रेजों से हो सका उतना उन्होंने भारत को कस कर रख दिया। लोगों को हिलने डुलने, सांस लेने तक का मौका नहीं रहा। भय और उसके साथ साथ गरीबी और मुफलिसी का राज्य छा गया।

फिर भी अंग्रेज कुछ भयभीत ही रहे, विशेषकर भारतीय सैनिकों से। साधारणत: तो अंग्रेज यही मानते थे कि भारतीय सैनिक, जिनकी संख्या सन् १८२०-३० में दो तीन लाख रही होगी उनके प्रति वफादार हैं। लेकिन उन्हें यह भी लगता था कि कहीं अगर हवा का बहाव बदल गया और भारतीय सैनिकों को यह लगने लगा कि अंग्रेजों का राज्य उखड़ने वाला है, तो फिर वे अंग्रेजों के खिलाफ हो जायेंगे। इसी बीच सन् १८२९-३० के बर्षो में यह भी तय किया गया कि अंग्रेजों और दूसरे यूरोपीय लोगों को भारत में जहाँ तहाँ, विशेषत: पर्वतों पर, ठंडी जगहों पर बसाया जाये। धीरे धीरे ऐसी बसावट शुरू भी हुई। इससे पहले भी भारत में सैकड़ों जगह अंग्रेजी सेना की छावनियां बनी थीं। सेना के साथ, सेना की सेवा के लिए, उनकी तुलना में पांचदस गुना ज्यादा लोग, सेना की सवारी और सामान ढोने के लिए एकत्रित किये जाते रहे। इनमें से, आधे से अधिक को, उस समय की अंग्रेजों द्वारा घटाई गयी मजदूरी भी नहीं दी जाती थी और कुछ लोगों को तो एकदम 'बेगार' में ही रखा जाता था। अफसरों व सैनिकों के लिए वेश्यालय भी तभी बने और जैसे जैसे छावनियों की संख्या बढ़ने लगी वैसे वैसे यह सब ठिकाने भी बढ़ने लगे। सन् १८५७-५८ की अंग्रेजों और भारतीयों के बीच की बड़ी लड़ाई के बाद, जिसमें अन्तत: भारतीय हार ही गये, उनके सैकड़ों शहर लूटे गये और

उनके पचासों लाख लोगों को वृक्षों पर लटका कर, अलग अलग तरीकों से, मार दिया गया। इसके बाद अंग्रेजों को यह आवश्यक लगा कि भारत में बड़े पैमाने पर अंग्रेजों और यूरोपीयों को बसाने का काम तेजी से आरम्भ किया जाना चाहिये। आज जो यह पहाड़ी शहर देशभर में हैं और काफी चाय व काफी के बगीचे या दूसरे बड़े व्यापारिक खेती के मैदान असम, बिहार और दक्षिण भारत इत्यादि में बने हैं, ये अधिकांशत: सन् १८६० के इसी अंग्रेजी फैसले के बाद स्थापित हुए।

इसी तरह सैनिकों की छावनियाँ भी और बढाई गयी होंगी। आज शायद यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजों ने भारत में जो यह विस्तृत तंत्र खड़ा किया है वह सारे देश से जल्दी जाने वाला नहीं है। यह तंत्र कैसे यहाँ से उखड़े, इसके लिए तो हमें काफी सोचना होगा। ऐसे रास्ते निकालने होंगे जिससे हम अपना तंत्र खड़ा कर सकें, जिससे भारत की राज्य व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, कृषि, वन, जल के साधन, बड़े और छोटे उद्योगों और भारतीयों का सार्वजनिक जीवन, देश के लोगों के मन के अनुसार चल सके। इस तरह के सवाल स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में और पिछले ५३ वर्षों में निश्चय ही हमारे विचारकों व राजनैतिकों के मन में उठे होंगे। सन् १९४६ से सन् १९४९ तक जो संवैधानिक सभा हमारे यहां बैठी, और जिसमें संविधान के बारे में काफी सोच विचार और बातचीत हुई, उसमें भी इस तरह के प्रश्न उठे होंगे। उसके बाद भी देश की स्थिति को सामने रखकर ऐसे प्रश्न उठते ही दिखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अखिल भारतीय कांग्रेस में भी इसी तरह के प्रश्न जब तब, गांधीजी के बाद भी, उठते रहे। श्रीमती इंदिरा गांधी ने स्वयं शायद कहा था कि उनके पिता जवाहरलाल नहेरू ने बड़ी गलती की कि अंग्रजों के बनाये तंत्र को जैसा का तैसा रहने दिया। साधारण लोग और काफी सारे समाजवादी नेता और भारतीय जनता दल के कुछ नेता भी ऐसा कहते रहे हैं। कुछ दिनों पूर्व श्री नरसिंह राव ने, जो पांच वर्ष तक भारत के प्रधानमंत्री रहे, इस तरह के प्रश्नों को फिर से उठाया है, वह भी लन्दन में। हम लोग इस पर सोचेंगे और बराबर आग्रह रखेगें तो, दस बीस वर्ष में भारत में, अंग्रेजों के बनाये तंत्र को पूर्ण रूप से बदलने का काम तो कर ही सकते हैं। जब ऐसा होगा तभी भारतीय शिक्षा, कृषि, उद्योग, पुलिस, सेवा आदि क्षेत्रों के स्वरूप को भी आज के समय के अनुरूप और प्राणवान भारतीय रूप में बनाना सम्भव होगा।

१४. कहां हैं पश्चिमीकरण की जडें

वैसे तो भारत पिछले २०-३० वर्षो से विश्वशक्तियों के बढ़ते दबाव में है। भारत के गांव के प्राथमिक स्कूल भी उनके आदेश व सहायता से चलने लगे हैं। बसों का किराया बढ़े यह भी उनके आदेश से होने लगा है। सड़के कैसी हों, कितनी चौडी हों इसके आदेश भी बाहर से आने लगे हैं। यहाँ तक कि सेवाग्राम आश्रम जैसे स्थान भी चौड़ी चौड़ी सड़कों से घिरने लगे हैं। जबकि ऐसे स्थानों और स्थलों की शान्ति व पवित्रता के लिये यह आवश्यक था कि उनके आसपास अधिक मोटर गाड़ियां व दूसरे वाहन न चलें। विदेशों में हमारा सामान ज्यादा से ज्यादा जाये इसमें फँस कर पिछले पचास बरसों में हम अपने हस्तकला उद्योग का विनाश ही कर चुके हैं। और कुछ महीनों से खादी ग्रामोद्योग आयोग इसमें लगा है कि हम खादी से अमरीकी जीन्स कपड़ा डैनिम और उससे जीन्स बनवायें और उन्हें विदेशों में भेजें।

हमारी खेती में तो बड़े पैमाने पर बगैर सोचे समझे विदेशीकरण हो चुका है। हमारे गांवों के कृषि व ग्रामोद्योग के उजड़ने का एक बडा कारण यह हमारी बेसमझी की नकल है। यही बेसमझी हमें आधुनिकता को समझने से भी दूर रखती है- चाहे वह तकनीकी के प्रश्न हों, व्यवस्था के हों या हमारी अपनी दिशा के। भारत की मानसिकता, उसकी प्राथमिकतायें, उसकी प्राकृतिक उपलब्धियां हमारे आज के देश चलाने वाले समझ नहीं सके हैं। जैसे दो हजार बरस से यूरोप, व उसके बाद अरब लोग मुख्यत: अंतरराष्ट्रीय व्यापार व लूटमार पर जीवन चलाते थे। उसे ही हमने बेसमझी में मान लिया है कि बाकी विश्व का भी वही तरीका है। लेकिन हमारे यहाँ तो हमारी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएं साधारणत: प्रचुर मात्रा में पैदा होती थीं, बनती थीं, हमें उनका व्यवस्थित उपयोग आता था। उनमें से मुख्य खाना, कपड़ा, रहने की जगह, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति जीवन हमारे यहाँ के सब लोगों को उपलब्ध रहा है, यह हम भूल गये दिखते हैं। इस तरह की भूलें तो हमारे यहाँ पिछले पचास बरस से शुरू हुईं, और अब तो हम सब पढ़े लिखे, अच्छे खाते पीते, कीसी भी दल व सम्प्रदाय व वाद के हों, इन भूलों को सत्य वाक्य जैसे मानने लगे हैं। हममें वैसे पराये के लिये कोई प्रेम व निष्ठा नहीं पैदा हुई

लेकिन यह जरूर हो गया है कि हमें अपने और पराये (व्यक्ति, व्यवस्था, तकनीक, विज्ञान) में जो भेद हो जाते हैं वह समझ में नहीं आते। स्वदेशी के प्रचार में जो लोग आज लगे हैं उनमें से अधिकांश को भी नहीं।

यह ऊपर जो कहा गया है वह अधिकांशत: तो हमारे २००-२५० बरस की दासता का परिणाम है, और पिछले ५० बरस में हमारे ऊपर जो बाहर का बढ़ता दबाव है उससे इसका भारतव्यापी विस्तार हुआ है। हम समझ कर और लगकर प्रयत्न करते तो उसमें से निकल आते। लेकिन इन ३०-४०-५० बरसों की हमारी सोच और कार्य हमारे पर और एक नई विपत्ति ले आये हैं। देखने में जो विपत्ति आई है वह वैसे तो १२-१४ बरस पुरानी ही है लेकिन उसका आरम्भ व जड़ें तो यह जो हमारा संविधान है, जिसको हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सीखा और उधार लिया, उसमें है।

अंग्रेजों ने ३००-४०० बरस पहले क्रोमवेल के मध्य सत्रहवीं शती के समय से अपने यहां दो दलों को लेकर राज्यव्यवस्था बनानी शुरू की। यह कमोवेश अभी भी अंग्रेजों के यहां चलती है। समय चलते कोई और नया दल बनता है। जैसे कि १८ वीं शती के अन्त में ब्रिटिश लेबर पार्टी बनी तो पुरानों में से एक दल क्षीण पड़ जाता है जैसे कि विग व लिबरल क्षीण हुए। लेकिन ब्रिटेन एक छोटा देश है, उत्तर प्रदेश से भी क्षेत्रफल में छोटा और आबादी में तो आधा ही। दूसरे, राजनैतिक दल ही ब्रिटेन के लोगों के मुख्य संरक्षक व सहारा नहीं हैं। ब्रिटेन में पचासों ईसाई सम्प्रदाय हैं जिनसे अलग अलग लोग, पूरे मुहल्ले व गाँव भी सम्बन्धित हैं। फिर वहाँ के पुराने धनवान और शक्तिशाली लोगों की क्लबें हैं, जहां देश की स्थिति पर विचार होता रहता है और अक्सर बड़े बड़े फैसले भी ऐसे स्थानों पर होते हैं। यह जरूर है कि यह दो व तीन राजनैतिक दलों का बारी बारी से सरकार चलाने का तरीका ब्रिटेन से अमरीका, यूरोप व जापान तक गया है। लेकिन अमरीका इत्यादि में इस तरीके को अपनी तरह से समझा गया है, खपाया गया है, और जहाँ वह नहीं खप पाया, जैसे दक्षिण अमरीका व अफ्रीका के देशों में वहाँ, जब तब डिक्टेटरशिप चलती रही है।

पिछले पचास बरस में हमारी राजनैतिक , समाजिक व आर्थिक स्थिति दक्षिण अमरीका व आफ्रीका के देशों जैसी होने लगी है। भारत की लोकसभा व राज्यसभा, और प्रदेशों की विधानसभायें भी कंकाल जैसी होती जा रही हैं। हमारा 'स्टील फ्रेम' कहा जाने वाला अंग्रेजों का दिया तंत्र व ढांचा भी अब शक्तिहीन ही है, उसके बस का अब लोगों को बराबर भयभीत कर लेना नहीं है जो कि ब्रिटिश समय में उसका मुख्य काम था, लेकिन लोगों के रास्तें में बाधायें कायम करना तो अभी तक जारी है ही। इस

राजनीतिक व्यवस्था और शासन तंत्र की एक बड़ी देन है कि उसने देश के लोगों को बांट दिया है, परिवार परिवार में व्यक्तियों को बांट दिया है, मोहल्लों मोहल्लों में, गांव गांव में। जिससे भारत के १० से १५ प्रतिशत लोग तो सरकारी व्यवस्था के खंभे बन गये हैं, और बाकी ८५ से ९० प्रतिशत निरुत्साहित, कंगाल और साधनहीन। देश का मुहल्ला-मुहल्ला, गाँव-गाँव, नगर-नगर बंट चुका दिखता है। बंटना तो अंग्रेजों के समय में ही आरम्भ हो गया था, लेकिन हम उसे अब पूरा करने में लगे दिखते हैं।

इस तरह के टूटने की एक भयंकर शुरूआत दिल्ली के सांसदों और विधानसभा के सदस्यों को लेकर ही शुरू हुई। बहाना रहा कि दो, चार, छ: सदस्य जिन्हें आयाराम गयाराम नाम दिया गया, एक राजनैतिक दल छोड़कर दूसरे दल में जाते रहते हैं, और दलबदल होता रहता है, और इसमें धन व पद का लालच भी काम करता है । यह दलबदल कोई नई बात नहीं है। हजारो वर्षों से यह जहां तहां होता ही रहता है। इसके अलग अलग इलाज भी होंगे। ब्रिटेन में तो जो पार्लियामेंट के सदस्य अपने दल के साथ मत नहीं देते, उन्हें दल से नहीं निकाला जाता, लेकिन उनका सामाजिक बहिष्कार जैसा होता है, लेकिन हमारे विद्वान राजनितिकों व उनके सलाहकारों ने तय किया कि जो सदस्य हर तरह से साथ नहीं देता, उसको न केवल दल से ही निकाल दिया जाये बल्कि उसका फौरन ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी समाप्त कर दिया जाये। वैसे जो सदस्य सांसद या विधायक बनता है वह अपने क्षेत्र का प्रतिनिधि होता है, न कि किसी दल का भृत्य। उसको डांट फटकार व हुक्म देने का अगर किसी को अधिकार है तो उसके क्षेत्र को, न किसी राजनीतिक दल को। दल में वह स्वायत्त ही आया है, और दल ठीकठीक चलता है, न्याय करता है तो वह साधारणत: उसमें रहेगा ही। उसका किसी कारणवश विचार या ध्येय बदला है तो वह तो उसका क्षेत्र ही संभाल सकता है।

लेकिन हमने तो ब्रिटिश राज्य के शुरू से ही यहां के समाज और लोगों के रास्ते में रुकावटें डालना ही सीखा है, या कानूनों के छिद्र बन्द करना। रुकावटें डालने या छिद्र बन्द करने का परिणाम यह हुआ कि यह देश फिर से क्रमश: आलस्य से भर गया और यहाँ की पारस्परिकता ओझल सी हो गयी।

वैसे तो आज का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक ढांचा इन २००-१५० वर्षों में, या और पहले से ही, जर्जर होता गया है, लेकिन पिछले ८-१० बरसों से भारत का जो बेहाल हुआ है उसका मुख्य कारण सांसदों को दल का भृत्य व कैदी जैसा बना देना है। वैसे भारत का संविधान और उसकी संसद, विधान सभायें इत्यादि तो मूलत: दोबारा बनानी ही होंगी, लेकिन जब तक यह सब नया ढांचा बने तब

तक कुछ कदम तो उठाने ही पड़ेंगे। उनमें एक कदम तो सांसद इत्यादि को स्वतंत्र कर देना और उनको उनके क्षेत्रों से जोड़ देना होगा। दूसरा कदम, यह आवश्यक है की संसद, विधानसभा इत्यादि जितने वर्षों के लिये चुनी जाये, उतने वर्ष अवश्य चले। सरकार की किसी विषय पर बात नहीं मानी जाये तो ऐसा होना हर समय उसकी हार नहीं मानी जानी चाहिये। बात नहीं माने जाने का मतलब है कि वह अपना रास्ता बदले। उससे फिर भी काम न चले तो उसी संसद व विधानसभा में दूसरी व तीसरी सरकार बन जाय। देश को साधारणत: व्यवस्थित रखना और प्रजा को अभय जैसा रहे, यह संविधान का, संसद का, विधानसभाओं का और राजनीतिक गिरोहों का प्रथम काम है।

अखिल भारतीय राजनीतिक गिरोहों का या दूसरे वैज्ञानिक, आर्थिक, व्यावसायिक गिरोहों का दबदबा व झूठी प्रतिष्ठा जितनी भी कम हो उतना देश के लिये अच्छा है। क्षेत्रों की देखभाल तो प्रदेश ही कर सकेंगे और प्रदेश मिलकर ही भारत को संभाल सकेंगे, सुव्यवस्थित रख सकेंगे, समृद्धि दे सकेंगे और विश्व के परिप्रेक्ष्य में शक्तिशाली और बराबर का रख सकेंगे। भारतीय केन्द्र व्यवस्था से यह कभी होने वाला नहीं है, यह तो एक प्रवंचना है। केन्द्र तो प्रदेशों का संघ ही चला सकेगा, और ऐसा संघ ही तय कर सकेगा कि केंद्र को कौन कौन काम सौंपे जायें, क्या क्या साधन उसे उपलब्ध कराये जायें।

प्रदेशों में भी आज की राजनीतिक व अन्य संस्कृति उसे दिशा देती है व दूसरी सभ्यताओं से कैसा सम्बन्ध बनाये, यह बताती है। यह अवश्य है कि हमें शक्तिशाली होने की आवश्यकता है। लेकिन शक्ति तो कई तरह से बनती है, केवल हावी व लुटेरे लोगों के रास्ते से ही नहीं। इस पर ध्यान देना हमारे विद्वानों व मनीषियों का काम है।

लेखक परिचय

श्री धर्मपालजी का जन्म सन् १९२२ में उत्तर प्रदेश के मुझफ्फरनगरमें हुआ था। उनकी शिक्षा डी. ए. वी. कालेज, लाहौर में हुई। १९३० में ८ वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार गांधीजी को देखा । उसके एक ही वर्ष बाद सरदार भगतसिंह एवं उनके साथियों को फाँसी दी गई। १९३० में ही वे अपने पिताजी के साथ लाहौर में कोंग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में गये थे। उस समय से लेकर आजन्म वे गांधीभक्त एवं गांधीमार्गी रहे।

१९४० में, १८ वर्ष की आयु में उन्होंने खादी पहनना शुरू किया। चरखे पर सूत कातना भी शुरू किया। १९४२ में 'भारत छोडो' आन्दोलन में भाग लिया। १९४४ में उनका परिचय मीराबहन के साथ हुआ। उनके साथ मिलकर रुड़की एवं हरिद्वार के बीच सामुदायिक गाँव के निर्माण का प्रयास किया। उस सामुदायिक गाँव का नाम था 'बापूग्राम'। आज भी बापूग्राम अस्तित्व में है। १९४९ में भारत का विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप भारत में जो शरणार्थी आये उनके पुनर्वसन के कार्य में भी उन्होंने भाग लिया। १९४९ में वे इंग्लैण्ड, इझरायल और अन्य देशों की यात्रा पर गये। इझरायल जाकर वे वहाँ के सामुदायिक ग्राम के प्रयोग को जानना समझना चाहते थे। १९५० में वे भारत वापस आये। १९६४ तक दिल्ली में रहे। इस समयावधि में वे Association of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD) के मन्त्री के रूप में कार्यरत रहे। अवार्ड की संस्थापक अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं, परंतु कुछ ही समय में श्री जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष बने और १९७५ तक बने रहे। १९६४-६५ में श्री धर्मपालजी आल इण्डिया पंचायत परिषद के शोध विभाग के निदेशक रहे। १९६६ में लन्दन गये। १९८२ तक लन्दन में रहे। इन अठारह वर्षो में भारत आते जाते रहे। १९८२ से १९८७ सेवाग्राम (वर्धा, महाराष्ट्र) में रहे। उस दौरान चैन्नई आते जाते रहे। १९८७ के बाद फिर लन्दन गये। १९९३ से जीवन के अन्त तक सेवाग्राम, वर्धा में रहे।

१९४९ में उनका विवाह अंग्रेज युवति फिलिस से हुआ। फिलिस लन्दन में,

बापूग्राम में, दिल्ली में, सेवाग्राम में उनके साथ रहीं। १९८६ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति में वाराणसी में मानव सेवा केन्द्र के तत्त्वावधान में बालिकाओं के समग्र विकास का केन्द्र चल रहा है। धर्मपालजी एवं फिलिस के एक पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं। पुत्र डेविड लन्दन में व्यवसायी है, पुत्री रोझविता लन्दन में अध्यापक है और दूसरी पुत्री गीता धर्मपाल हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी में इतिहास विषय की अध्यापक है।

धर्मपालजी अध्ययनशील थे, चिन्तक थे, बुद्धि प्रामाण्यवादी थे। परिश्रमी शोधकर्ता थे। अभिलेख प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन बारह चौदह घण्टे लिखकर लन्दन तथा भारत के अन्यान्य महानगरों के अभिलेखागारों में बैठकर नकल उतारने का कार्य उन्होंने किया। उस सामग्री का संकलन किया, निष्कर्ष निकाले। १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के भारत के विषय में अनुसन्धान कर के लेख लिखे, भाषण किये, पुस्तकें लिखीं।

उनका यह अध्ययन, चिन्तन, अनुसन्धान विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिये या विद्वता के लिये प्रतिष्ठा, पद या धन प्राप्त करने के लिये नहीं था। भारत की जीवन दृष्टि, जीवन शैली, जीवन कौशल, जीवन रचना का परिचय प्राप्त करने के लिये, भारत को ठीक से समझने के लिये, समृद्ध, सुसंस्कृत भारत को अंग्रेजों ने कैसे तोडा उसकी प्रक्रिया जानने के लिये, भारत कैसे गुलाम बन गया इसका विश्लेषण करने के लिये और अब उस गुलामी से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढने के लिये यह अध्ययन था। जितना मूल्य अध्ययन का है उससे भी कहीं अधिक मूल्य उसके उद्देश्य का है।

श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय, श्री मीराबहन उनके मित्र एवं मार्गदर्शक हैं। गांधीजी उनकी दृष्टि में अवतार पुरुष हैं। वे अन्तर्बाह्य गांधीभक्त हैं, फिर भी जाग्रत एवं विवेकपूर्ण विश्लेषक एवं आलोचक भी हैं। वे गांधीभक्त होने पर भी गांधीवादियों की आलोचना भी कर सकते हैं।

इस ग्रन्थश्रेणी में प्रकाशित पुस्तकें १९७१ से २००३ तक की समयावधि में लिखी गई हैं। विद्वज्जगत में उनका यथेष्ट स्वागत हुआ है। उससे व्यापक प्रभाव भी निर्माण हुआ है।

मूल पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। अभी वे हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। भारत की अन्यान्य भाषाओं में जब उनका अनुवाद होगा तब बौद्धिक जगत में बडी भारी हलचल पैदा होगी।

२४ अक्टूबर २००६ को सेवाग्राम में ही ८४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ।